❀ श्रीराधासर्वेश्वरो जयति ❀

❀ श्रीनिम्बार्काचार्याय नमः ❀

श्रीनाभाजी कृत

श्रीभक्तमाल

[पूर्वार्द्धमात्र]

प्रकाशक :

अ० भा० नि० पीठ द्वारा संचालित

श्री "श्रीजी" मन्दिर, श्रीसर्वेश्वर कार्यालय,

श्रीधाम वृन्दावन

❀ श्रीराधासर्वेश्वरो जयति ❀

श्रीनाभाजी कृत

★ श्रीभक्तमाल ★

श्रीप्रियादासजी कृत

भक्ति - रस - बोधिनी – टीका

एवं

भक्ति - रसायनी व्याख्या सहित

[पूर्वार्द्धमात्र]

व्याख्याकार :

श्रीरामकृष्णदेव गर्ग, एम० ए०, शास्त्री

प्रधान सम्पादक :

अ० श्रीव्रजवल्लभशरण, वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ

सम्पादक :

रसिकमोहनशरण शास्त्री ❀ जयकिशोरशरण

★ सञ्चालक :
अनन्तश्री विभूषित ज० गु० निम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य
श्री "श्रीजी" महाराज अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ श्रीनिम्बार्कतीर्थ
सलेमाबाद, किशनगढ़ (राज०)

★ प्रकाशक :
श्रीसर्वेश्वर कार्यालय
श्री "श्रीजी" मन्दिर, वृन्दावन

★ प्रकाशन तिथि :
श्रीनारद जयन्ती, व्यञ्जन द्वादशी
वि० सं० २०६१, सन् २००४
श्रीनिम्बार्काब्द ५१००

★ द्वितीयावृत्ति :
५०० प्रतियाँ

★ प्राप्ति स्थान :
श्री "श्रीजी" मन्दिर, वृन्दावन
श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ निम्बार्कतीर्थ सलेमाबाद

★ न्यौछावर :
१५०) रुपया

★ मुद्रक :
श्रीसर्वेश्वर प्रेस
श्री "श्रीजी" मन्दिर, वृन्दावनधाम

* अनुक्रमणिका *

* आरती श्रीभक्तमालजी की *

(महन्त श्रीरासबिहारीदासजी शास्त्री, वृन्दावन)

—:★:—

श्रीभक्तमाल की जै, बोलो भक्तमाल की जै ।
श्रवण पठन पाठन करि, सुफल जन्म कीजै ।। बोलो० ।।
अग्रदास गुरु आज्ञा, नाभा जब दीन्ही ।
चार युगन भक्तन की, रचि माला कीन्ही ।। बोलो० ।।
भक्त भक्ति गुरु भगवत, एक तत्व जानो ।
हरि से भाव अधिक हिय, सन्तन प्रति मानो ।। बोलो० ।।
भक्तन की हरि महिमा, निज मुख ते बरनी ।
भक्तमाल जग जीवन, भवसागर तरनी ।। बोलो० ।।
यथा भक्त भगवान के, चरित सदा गावैं ।
तथा चरित भक्तन के, गोविन्दहि भावैं ।। बोलो० ।।
भक्ति स्वरूप माल बिन, समुझि न नर पावै ।
सुनत भक्ति रस बोधिनि, हृदय तुरत आवै ।। बोलो० ।।
कामादिक दुख दारिद, यमदूतहु भागैं ।
महा अविद्या निशि महँ, सोवत जन जागैं ।। बोलो० ।।
ज्ञान विराग प्रकाशक, मुक्ति भुक्ति दाता ।
भक्तमाल की आरति, 'रासप्रिया' गाता ।। बोलो० ।।

★

❀ श्रीराधासर्वेश्वरो जयति ❀

श्रीभक्तमाल
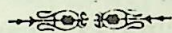
भक्तिश्च भक्ता भगवान् गुरुश्च नामानि चत्वारि शरीरमेकम् ।
तत्पादपङ्करुहवन्दनेन समस्त - विघ्नाः शमनं प्रयान्ति ।।

श्री हंसं सनकादिकान् मुनिवरं वीणाधरं नारदम्,
श्रीनिम्बार्कपदाम्बुजं हृदि सदा ध्यायन् परान् देशिकान् ।
नत्वा भक्तगणं तदीय-महिमा-विद्योतिनी मालिका,
भाषासूत्रसुगुम्फिता कृतिरियं सर्वेश्वरे राजताम् ।

सर्वेश्वर सनकादिक मुनि, निम्बारक भगवान ।
परम्परागत सकल गुरु-चरण-कमल धरि ध्यान ।।
चरण-कमल धरि ध्यान भक्तजन जुग-जुग नामी ।
जिनकी महिमा-माल रची श्रीनाभा स्वामी ।।
प्रिया तिलक युत वही सुजन-जन-मानस-सुखकर ।
सरस सुभाषा उरहिं धरौं वल्लभ सर्वेश्वर ।।

भक्ति-रस-बोधिनी

महाप्रभु कृष्णचैतन्य मनहरण जू के चरण कौ ध्यान मेरे नाम मुख गाइयै ।
ताही समय नाभाजू ने आज्ञा दई लई धारि टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइयै ।।
कीजिये कवित्त बन्ध छन्द अति प्यारो लगै जगै जग माँहि कहि बानी बिरमाइयै ।
जानौं निजमति ऐ पै सुन्यौं भागवत शुक-द्रुमनि प्रवेश कियौ ऐसेई कहाइयै ।।१।।

यह कवित्त श्रीप्रियादासजी द्वारा लिखी गई "भक्ति-रस-बोधिनी" टीका का मंगलाचरण है। इस टीकाके लिखे जानेका कारण बताते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं—मैं मनोहर-महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यके चरणोंका तो (हृदयमें) ध्यानकर रहा था और मुख से नाम-संकीर्त्तन। उसी समय श्रीनाभाजीने आज्ञा दी जिसे मैंने शिरोधार्य कर लिया (वह आज्ञा इस प्रकार की थी कि) आप विस्तार-पूर्वक टीका करके भक्तमाल सुनायें। (इस टीका को) कवित्त-बद्ध कीजिए, (क्योंकि) यह छन्द अत्यन्त प्रिय लगता है, जिससे यह (भक्तमालकी टीका) सारे संसारमें प्रकाशित हो जाय। इस प्रकार कहकर नाभा जीकी वाणीने विराम लिया। (तो मैंने निवेदन किया कि) हे महाराज! मैं अपनी बुद्धि को भली भाँति जानता हूँ। फिर भी मैंने भागवतमें सुना है कि शुकदेवजी ने वृक्षोंमें प्रवेश किया था (और उनसे वचन कहलवाये थे) ऐसे ही आप भी (मेरे हृदय में प्रवेश करके) मुझसे कहलवाइये।

"महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य" से अभिप्राय गौड़ीय-सम्प्रदायके प्रवर्त्तक, कलिपावनावतार श्रीचैतन्य-महाप्रभुका है। इस मंगलाचरण से ज्ञात होता है कि श्रीप्रियादासजी चैतन्य-सम्प्रदायके थे।

मनहरण :—इसका सांकेतिक अर्थ "मनोहररायजी" भी है, जो श्रीप्रियादासजीके गुरुदेव का नाम था।

नाम मुख गाइए :—कलियुगमें भगवन्नाम-संकीर्त्तनकी महिमा अधिक है। विशेषकर महाप्रभु चैतन्य ने नाम-संकीर्त्तन पर अधिक जोर दिया है।

नाभाजू ने आज्ञा दई :—वास्तवमें नाभाजीका समय तो श्रीप्रियादासजीसे बहुत पूर्व था। 'भक्तमाल' का रचनाकाल विद्वानोंके मतानुसार सं० १६४२ से १६८० के बीच में है और प्रियादासजीने अपनी टीका सं० १७६९ में समाप्त की, जैसा कि टीकाके अन्तिम कवित्तसे स्पष्ट है। अतः नाभाजी और प्रियादासजी समसामयिक तो हो नहीं सकते। इसलिए इसका भावार्थ यही लेना होगा कि 'नाभाजीने हृदय में प्रेरणा उत्पन्न की'।

शुक····कहाइये :—इसका संकेत श्रीभागवत्की उस कथाकी ओर है, जिसके अनुसार जब शुकदेवजी के घर छोड़कर वनमें चल देने पर पुत्र-शोकसे व्याकुल व्यासजी 'पुत्र ! पुत्र !!' पुकारते उनके पीछे चले तो वनके वृक्ष-वृक्षसे "शुक मैं हूँ, शुक मैं हूँ" की ध्वनि आने लगी, मानो शुकदेवजीने उन वृक्षोंमें प्रवेश करके उनसे ऐसे वचन कहलवाये। इस संकेत से श्रीप्रियादासजीकी नम्रता और दैन्यताका आभास होता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

रची कविताई सुखदाई लागै निपट सुहाई औ सचाई पुनरुक्ति लै मिटाई है।
अक्षर मधुरताई अनुप्रास जमकाई अति छबि छाय मोद झरी सी लगाई है॥
काव्य की बड़ाई निज मुख न भलाई होति नाभाजू कहाई याते प्रौढ़ि के सुनाई है।
हृदै सरसाई जोपै सुनियै सदाई यह "भक्ति रसबोधिनी" सुनाम टीका गाई है॥२॥

इस कवित्तमें अपनी कविताकी विशेषताएँ बताते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि :—(नाभाजीकी आज्ञासे मैंने ऐसी) कविताकी रचनाकी है, जो सुख देनेवाली और अत्यन्त सुहावनी लगती है, जिसमें सत्यता है और पुनरुक्ति (दोष) को भी मिटा दिया गया है। अक्षरोंकी मधुरता, अनुप्रास और यमक आदि (अलंकारों) से अत्यन्त शोभा पाकर यह (कविता) आनन्दकी झड़ी-सी लगा देती है। (अपनी) कविताकी बड़ाई अपने मुखसे करना अच्छा नहीं होता, (किन्तु मेरी यह रचना तो) नाभाजीने कहलवाई है, इसीसे (इतनी प्रशंसा) प्रौढ़तापूर्वक सुनाई है। चाहे इसे सदा सुनते रहें, फिर भी हृदयमें सरसता बनी रहती है। इसीसे इस टीका का सुन्दर नाम "भक्ति-रस-बोधिनी" कहा गया है। अर्थात् यह भक्ति-रस का बोध कराने वाली है।

अक्षर ·· जमकाई :—इन गुणालंकारादिके उल्लेखसे श्रीप्रियादासजीका यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि पाठक इसे कोरी शुष्क टीका ही न समझें। टीका होते हुए भी यह काव्यके मौलिक गुणोंसे भरपूर है।

काव्यकी बड़ाई :—अपने काव्यकी प्रशंसा अपने मुखसे करना शिष्टताकी सीमासे बाहर है। किन्तु प्रियादासजी इस टीकाको अपनी रचना ही नहीं मानते। इसे श्रीनाभाजीकी कृति समझकर ही वे इसके गुणोंका बखान कर रहे हैं। इस प्रकार आतमप्रशंसा-दोषका उन्होंने परिहार कर दिया है।

हृदै सरसाई सदाई :—इसका अर्थ यों भी हो सकता है कि—"यदि कोई इस टीकाको सदा सुनता रहेगा तो उसका हृदय सरस हो जायगा" किन्तु इसकी अपेक्षा यह अर्थ अधिक अच्छा लगता है कि सदा सुनने पर भी यह हृदयको सरस लगती है। क्योंकि एक ही बातको बार-बार सुनते रहनेसे फिर उसमें उतना आकर्षण नहीं रहता। कुछ-न-कुछ नीरसता आ ही जाती है। किन्तु इस टीका में यह विशेषता है कि बारम्बार सुनने पर भी मन नहीं ऊबता, अपितु और अधिक सरस होता चला जाता है। इसीलिए इसका नाम "भक्ति-रस-बोधिनी" रक्खा गया है।

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रद्धाई फुलेल औ उबटनौ श्रवण-कथा मैल अभिमान अंग-अंगनि छुड़ाइये।
मनन सुनीर अन्हवाइ अंगुछाइ दया ब्वनि वसन पन सोधो लै लगाइये॥
आभरन नाम हरि साधुसेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये।
भक्ति-महारानी को सिंगार चारु बीरी चाह रहे जो निहारि लहै लाल प्यारी गाइये॥३॥

जिस प्रकार शृङ्गार के पूर्व तैल-मर्दन, स्नान और सुन्दर वस्त्रादि की आवशकता होती है, वैसे ही भक्तिदेवीके स्वरूपको सजाने के लिये श्रद्धा, कथा-श्रवण, अभिमान-त्याग आदि का होना आवश्यक है। इसी बात को भक्त-शिरोमणि श्रीप्रियादासजी ने एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया है—

अर्थ :—श्रद्धाके फुलेल और कथा-श्रवणके उबटन द्वारा अभिमान-रूपी मैलको प्रत्येक अंगसे दूरकर देना चाहिए। (इसके बाद) मननके सुन्दर जलसे स्नान कराकर दयाके अँगोछे से पौंछकर और नम्रताके वस्त्रोंसे सुसज्जित करके (उस भक्तिको) पन (प्रतिज्ञा,टेक) रूपी सुगंधित द्रव्य लगाना चाहिए। (तब) नाम (संकीर्तन) के आभूषण, हरि तथा साधु-सेवाके कर्ण-फूल और मानसी सेवाकी सुन्दर नथसे (भक्ति-महारानीको सजाकर) सत्संगरूपी अंजन लगाना चाहिए। इस प्रकारसे जो लोग भक्ति-महारानीका शृङ्गार करके (उसे) चाह (भगवद्दर्शन की अभिलाषा) की बीड़ी (पान) खिलाकर (सर्वदा उसके सुन्दर स्वरूपका) दर्शन करते रहते हैं, वे ही श्रीप्रिया-प्रियतमको प्राप्त करते हैं, ऐसा (पुराण आदि शास्त्रोंमें) गाया गया है।

श्रद्धा-फुलेल :—जैसे शृङ्गारसे पूर्व स्नान और तैल-मर्दन आदि किया जाता है, उसी प्रकार भक्ति-भावका आधार भी श्रद्धा ही है। 'वेदगुरुवाक्येषु विश्वासः श्रद्धा'। बिना श्रद्धाके, प्रारम्भमें, किसी प्रकारके भक्ति-भाव का हृदयमें उदय होना और स्थिर रहना असम्भव है। श्रीजीव गोस्वामीने भी श्रद्धाको ही प्रथम स्थान देते हुए कहा है—"आदौ श्रद्धा ततः साधुसंगोऽथ भजनक्रिया"।

इसीलिए श्रद्धाको फुलेल कहा गया है। गीतामें भी श्रद्धा के अनुसार ही फल-प्राप्ति बतलाते हुए कहा गया है— **"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्द्धः स एव सः"**

अर्थात्--जैसी जिसकी श्रद्धा होती है वैसा ही उसका स्वरूप हो जाता है। पातञ्जल योग-सूत्र तथा उसके भाष्यमें श्रद्धाकी प्राथमिकता और प्रमुखता स्पष्ट है :---

'श्रद्धाचेतसः सम्प्रसादः। साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति।' **(पातञ्जल योगसूत्र १-२०)**

(श्रद्धा चित्तकी प्रसन्नता है, वह माताके समान कल्याण करने वाली और योगी (भक्त) की रक्षा करने वाली है।)

कथा श्रवण—(उबटना) जिस प्रकार तैल-मर्दनके बाद उबटनेकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जब मनुष्यके हृदयमें श्रद्धा का उदय हो जाता है तब भगवान्के गुण-गान और लीला-श्रवणकी ओर उसकी प्रवृति होती है। उसे कथा-श्रवणमें एक अनोखा आनन्द प्राप्त होता है और उस आनन्द के कारण वह आत्म-विभोर होकर अपनेपनको, अभिमानको भूल जाता है। इसी बातको टीकाकारने भी स्पष्ट किया है।

मैल-अभिमान—भगवद्भक्तिको प्राप्त करनेके लिए मैलरूपी अभिमानका त्याग अत्यन्त आवश्यक है। यह भक्तिमें बाधक होता है, जैसा कि स्वामी श्रीभगवतरसिकदेवजीने कहा है—

विद्या रूप महत्व कुल, धन जोवन अभिमान।
षट कण्टक देखै जहाँ, रहै न भक्ति निदान॥

और भी—

जातिर्विद्या महत्वं च रूपयौवनमेव च।
यत्नेनैते परित्याज्याः पञ्चैते भक्ति-कण्टकाः॥

(जाति, विद्या, बड़प्पन, रूप, यौवनके अभिमानको यत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए; क्योंकि ये पाँचों भक्ति-मार्गमें बाधक है)।

भक्तिके क्षेत्रमें तो ज्ञान, दान, तप, यज्ञ, पवित्रता, व्रत आदि मुक्ति-प्रद साधनोंका भी कोई विशेष आदर नहीं, क्योंकि इनमें भी उस अभिमानका आजाना स्वाभाविक है।

भक्तवर प्रह्लादजीने भी यही कहा है—"प्रीयतेऽमलया भक्तया हरिरन्यत् विडम्बनम्।" (हरि तो निर्मल (निरभिमान) भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं) इसीलिए अभिमानको मैल बतलाकर त्याज्य कहा है।

मनन-सुनीर—जिस प्रकार शरीरके मैलको दूर करनेके लिए (शुद्ध जल) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उपर्युक्त आन्तरिक मैलोंको मनन द्वारा दूर किया जा सकता है।

कथा-श्रवण आदि साधनों द्वारा भक्त जिन-जिन बातोंको ग्रहण करता है, उन पर बार-बार विचार करनेको मनन कहते हैं। शास्त्र चर्चा, पुराण-श्रवण, साधु-संगति द्वारा ग्रहण किये गये भाव स्वभावके रूपमें परिणत हुए बिना स्थायी नहीं रह पाते हैं। जब तक ये ज्ञानके रूपमें होते हैं तब तक वासनाके किसी भी झोंकेसे पृथक् हो सकते हैं। मननका महत्व श्रीमद्भागवतके माहात्म्यकी धुंधकारीकी कथासे स्पष्ट हो जाता है। जब श्रीमद्भागवत्की सप्ताह-कथा सुननेके अनन्तर केवल उस धुंधकारी के लिए ही विमान आया, तब विष्णु-पार्षदोंसे गोकर्णजीने प्रश्न किया था कि कथा तो इन सब लोगोंने भी सुनी है फिर इन सबको विमान क्यों नहीं आया? तब भगवत्-पार्षदोंने उत्तर दिया-

श्रवणस्य विभेदेन फलभेदोऽत्र संस्थितः। श्रवणं तु कृतं सर्वै र्न तथा मननं कृतम्।

अर्थात्—श्रवणके भेदसे फलका भी भेद हो जाता है। कथाको सबने सुना, पर उसका वैसा मनन नहीं किया जैसा कि धुंधकारीने। अतएव मननको मैलनाशक सुनीर कहा गया है।

दया अंगोछा—स्नान करनेके बाद जैसे शरीर पोंछनेके लिए (वस्त्र) अंगोछाकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मननके बाद भक्तके हृदयमें दयाका होना भी आवश्यक है।

समय पर यथाशक्ति दूसरेके दुःखमें सम्मिलित होकर उसके निवारणमें यथोचित योग देना ही दया है। 'परदुःखासहनं दया।' दया भक्तिका प्रमुख अंग है। प्राणियोंके दुःखोंसे द्रवीभूत होना और उनके दुःखोंको अपना दुःख समझना ही भक्तका स्वभाव होता है। इसीलिए वैष्णवोंके तीन कर्त्तव्यों-जीव-दया, भगवान्‌की भक्ति और उनके भक्तोंकी सेवा में जीवको प्रथम स्थान देते हुए भगवान् ने कहा है—

"वैष्णवानां त्रयं कर्म दया जीवेषु नारद।
श्री गोविन्दे पराभक्तिस्तदीयानां समर्चनम्॥" (ना० पं०)

इसी स्वभावके कारण प्रह्लादने भगवान्‌से यही मांगा था—

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःख-तप्तानां प्राणिनामार्ति-नाशनम्॥"

अर्थात्—हे प्रभो! मुझे राज्य, स्वर्ग और मुक्ति आदि कुछ भी नहीं चाहिए। मेरी कामना तो केवल यही है कि अनेकों संतापोंसे संतप्त प्राणियोंके समस्त दुःख दूर हों।

शेषावतार स्वामी श्रीरामानुजाचार्य सम्बन्धित वार्तासे भी दयाका महत्व स्पष्ट है। अपने गुरुदेवसे दीक्षा एवं मंत्र लेते समय उन्होंने यह सुना कि इस मंत्रका एकबार श्रवण ही जीवोंको सांसारिक बन्धनोंसे छुटकारा दिलाकर वैकुण्ठ प्राप्त करा देता है, अतः यह परम गोप्य है। यह सुनकर आचार्य-चरणके हृदयमें दयाकी भावना बलवती हो गई और गुरु-आज्ञाके प्रतिकूल साधारण जन-समूहको उस मंत्रसे वैकुण्ठ दिलानेकी दृष्टिसे वे गोपुर पर चढ़कर उच्चस्वरसे मंत्रका उच्चारण करने लगे, जो बहत्तर व्यक्तियोंके कानोंमें पड़ा और वे सिद्ध हो गए। बादमें जब गुरुदेवने इस सबके किये जानेका कारण पूछा तो उन्होंने यही कहा कि अनेक मनुष्योंको वैकुण्ठमें भेजकर मुझ अकेलेको गुरु-आज्ञाके उल्लंघनके कारण नरक भी भोगना पड़े, तो यह मेरे लिए श्रेयस्कर ही है। यह उदात्त विचार सुनकर गुरुदेवने उन्हें हृदयसे लगा लिया।

इसी प्रकार दयाका उदाहरण आगे भक्त-चरितों में केवलरामजीकी गाथासे स्पष्ट है। गोस्वामीजीने दया पर बहुत जोर देते हुए कहा है—

दया-धर्म कौ मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छांड़िये, जब लग घट में प्रान॥

नवनि-वसन—जिस प्रकार शरीर मार्जनके उपरान्त वस्त्र पहिना जाता है, उसी प्रकार नम्रता ही भक्तिका परिधान (वस्त्र) है।

नम्रताकी तुलना वस्त्रोंसे करके टीकाकारने अपने सूक्ष्म-निरीक्षणका बड़ा ही सुन्दर परिचय दिया है। उत्तम जातिके वस्त्रों की नरमाई प्रसिद्ध है; उन्हें चाहे जैसे मोड़ा जा सकता है। भक्तकी भी नम्रता इसी प्रकार होती है। कहा भी है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः ।।

अर्थात्—अपने को तिनकेसे भी नीच समझकर, वृक्षसे भी अधिक सहनशील होकर, अपने सम्मानको त्यागकर एवं दूसरेके सम्मानमें तत्पर हो भक्तको हरिका कीर्त्तन करना चाहिए ।

('नवनि'-के सम्बन्धमें श्रीगोपालदास जोवनेरीका आख्यान आगे भक्त-चरितोंमें देखना चाहिए)

नाम आभरण—जिस प्रकार किसी भी सुन्दरसे सुन्दर स्वरूपके लिए आभूषणों की अपेक्षा है—बिना आभूषणके शृङ्गार अधूरा हैं, उसी प्रकार भगवन्नाम-जाप भी भक्तिका अलंकार है ।

श्रुति-स्मृतिके विधि-विधान द्वारा किये गए जितने भी कर्म-धर्म, ज्ञान-ध्यान, योग-यज्ञ, दान-पुण्य आदि सत्कार्य हैं वे सभी बिना भगवन्नामके अपूर्ण है, कहा भी है :—

मंत्रतस्तंत्रतश्छिद्रं यच्छिद्रं यज्ञकर्मणि ।
सर्वं भवतु निश्छिद्रं हरेर्नामानुकीर्त्तनात् ।।

सन्त-वाणियोंमें भी इस प्रकार वर्णित है—

"कोटिधर्म व्रत निगम रटि, विधि सौं करै बनाइ ।
एक नाम बिन कृष्ण के, सबै अविधि ह्वै जाइ ।।"

धर्मग्रन्थों और पुराणोंमें तथा सन्त-वाणियोंमें ऐसे अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनसे भगवन्नामके उच्चारणका महत्व स्पष्ट है । उल्टा नाम जपने वाले वाल्मीकि, पुत्रके बहानेसे आधा नाम उच्चारण करके भगवद्धाम प्राप्त करने वाले अजामिल, तोताके स्नेहके कारण अज्ञानसे भी हरि का नाम बोलने वाली गणिका, केवल एकबार नारायण नाम पुकारने वाला गजराज और निरन्तर भगवन्नामका पाठ पढ़ाने वाले भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद आदिके वृतान्तसे सभी परिचित हैं । इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजीने सविस्तार नामकी महिमाका वर्णन करके अन्तमें कहा कि—

"कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई । राम न सकहिं नामगुन गाई ।

इसीलिए भक्ति-महारानीका सर्वश्रेष्ठ आभूषण भगवन्नाम ही बतलाया गया है । भक्तके छोटेसे छोटे और बड़ेसे बड़े सभी कार्य नाम-ध्वनिके साथ ही होने चाहिए । भगवान्‌का नाम किस प्रकार आदर-सहित हृदयमें रखना चाहिए, यह आगे भक्तोंके चरित्रोंमें अन्तर्निष्ठ राजाके कथानकसे स्पष्ट है ।

साधु-सेवा कर्णफूल—साधु-सेवा भी भक्तिका प्रमुख अंग है, जैसा कि शुक-मुनिने कहा हैं—

"महत्सेवा द्वारमाहुर्विमुक्तेः ।"

अर्थात्—भवसागर से विमुक्त होने का उपाय महात्माओंकी सेवा ही है ।

इसी श्लोक में महात्मा कौन हैं, इस प्रश्न के उत्तर में आगे कहा है—

"महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।"

अर्थात्– महात्मा वे ही हैं, जो प्राणिमात्रमें समान दृष्टि रखने वाले, प्रशान्त, क्रोध-रहित, अकारण दूसरों पर स्नेह रखने वाले और परोपकारी हैं ।

साधु-सेवामें हरि-सेवा भी आ जाती है । भगवान् ने कहा भी है :—

"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहं, मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।। (श्रीमद्भागवत)

अर्थात्—साधुगण मेरे हृदय हैं और साधुओं का हृदय मैं हूँ । वे मुझे छोड़ और किसीको नहीं जानते और मैं भी उनके सिवा और किसीको नहीं जानता ।

इस वाक्यके अनुसार सेवाके दो अङ्ग हुए--साधु-सेवा और हरि-सेवा। कर्णफूल भी दो होते हैं और दोनोंका सौन्दर्यकी अभिवृद्धिमें बराबर योग रहता है। उसी प्रकार साधु-सेवा और हरि-सेवा भी अभिन्न हैं और दोनोंका बराबर महत्व है। इस सम्बन्धमें भगवान्‌ने तो भक्तोंको ही बड़ा बतलाते हुए यहाँ तक कह डाला है :—

"मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः'

रसिक सन्तोंका भी यही मत है :—

'सन्तनि बिन हरि ना मिलै, हरि ने कही पुकार।
मो सेवत सुमिरत भिया, बूड़ेगौ मँझधार॥
'अन्तर्यामी गर्भ गत, सन्त सुन्दरी माँहि।
तुलसी पूजे एक के, दोऊ पूजे जाहि॥'

साधु-सेवा और हरि-सेवा दोनोंके उदाहरण आगे भक्तोंके चरित्रमें क्रमशः महाजन सदाव्रती तथा रानी रत्नावतीमें पाये जाते हैं जो वर्णनमात्र है। वास्तवमें सन्तोंकी महिमा कौन कह सकता है-

'विधि हरि हर कबि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥

पन-सोधों--(टेक-रूपी सुगन्ध) जिस प्रकार वस्त्र पहननेके उपरान्त इत्र आदि लगाया जाता है, उसी प्रकार भक्ति-महारानीके नम्रतारूपी वस्त्रोंमें टेक या अनन्यता-रूपी इत्र-सुगन्ध लगाना आवश्यक है। सुगन्ध चित्तको प्रसन्न करती है और समीपवर्ती जनोंको भी आनन्दित करके प्रभावित करती है। ठीक यही गुण अनन्यता या टेकमें भी हैं। यह भक्तके चित्तको प्रसन्न करती है और अन्य जनोंको प्रभावित करती है। सुगन्ध जिस प्रकार चारों ओर फैलती है उसी प्रकार अनन्यभक्तिकी टेक भी सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। अपनी टेकके कारण ही गोस्वामी तुलसीदासजी ने पपीहे को प्रेम का आदर्श माना है :—

पपिहा पन को ना तजै, तजै तो तन बेकाज।
तन छूटे तो कछु नहीं, पन छूटे है लाज॥

इस प्रकारका पन राजा आसकरण एवं जैमलसिंहजीके चरित्रोंमें आगे वर्णन किया गया है।

मानसी-सेवा-सुनथ—जिस प्रकार नथ अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी अलंकारोंमें अपना प्रमुख स्थान रखती है वही महत्व मानसिक-सेवाका भी है। यह सेवाका अत्यन्त सूक्ष्म और भावगम्यरूप है। मानसी-सेवाके द्वारा उपासना करने वाले व्यक्तिको बाह्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती। उसकी तो समस्त चित्त-वृत्तियाँ ही सब ओरसे सिमटकर आराध्यकी सेवाका अङ्ग बन जाती हैं।

जिस प्रकार गोल नथका आदि अन्त नहीं होता उसी प्रकार मानसी-सेवा भी अपने आपमें परिपूर्ण होती है; न उसमें देशकालकी अपेक्षा है और न शौच-अशौचकी स्थितिके ज्ञानकी आवश्यकता वह तो सब समय, सब स्थानोंमें और सभी स्थितियोंमें समान-रूपसे की जा सकती है। इस रूपकमें एक और ध्यान देने योग्य बात यह है कि नथमें दो मोती होते हैं और दोनों मोतियोंके बीच एक लाल मणि। मानसिकसेवामें भी विवेक और वैराग्य-दो सत्वगुण सम्पन्न मोती हैं और युगल-स्वरूपके प्रति सच्चा अनुराग ही बीचकी लाल मणि है। यों तो अनेकों रसिक-सन्त और भक्तोंके चरित्रोंमें मानसिक सेवाके उदाहरण पाये जाते हैं, किन्तु इसके महत्व पर रघुनाथदास गोस्वामीके चरित्रकी निम्नलिखित घटनाने विशेष प्रकाश डाला है :—

रघुनाथदास गोस्वामी मानसीसेवाके उपासक थे। एकबार उनके अस्वस्थ होनेपर वैद्यने बतलाया

कि आपने खीर खाई है। उनके पास रहने वाले सभी व्यक्तियोंने जब कहा कि गोस्वामीजीने तो छाछ (मट्ठा) के अतिरिक्त बारह वर्षसे और कुछ खाया ही नहीं। तो वैद्यने भी जोर देकर अपने निदानको सत्य ही बतलाया। तब गोस्वामीजीने कहा—"मैंने मानसिक-सेवामें युगल-सरकार के भोग लगाकर खीर अवश्य खाई है। यह सुनकर सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ कि मानसिकसेवासे भोग लगाकर खीर खानेका प्रभाव इस स्थूल रूपमें भी प्रकट होगया।

इसीसे पुराणों में 'मानसी सा परा स्मृता' कहकर मानसिक-सेवाको सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

सबते अधिक मानसी पूजा। लखि साक्षात् भाव नहिं दूजा।।

संग-सत्संग-अंजन—जिस प्रकार आँखोंमें अञ्जन लगानेसे उनकी ज्योति और सुन्दरता बढ़ जाती है, उसी प्रकार सत्संग-रूपी अंजनके प्रयोगसे भाव-भक्तिका स्वरूप भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है। वास्तवमें सत्संग ही एक ऐसा सुलभ साधन है, जो जन्म-जन्मान्तरोंसे भगवद्विमुख जीवको उसका साक्षात्कार कराकर परमानन्द प्राप्त कराता है। संसारके समस्त पुरुषार्थोंका साधन भी यही सत्संग है। गो० तुलसीदासजीने भी कहा है :—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई।।
सो जानव सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ।। (श्रीरामचरितमानस)

तात्विक दृष्टिसे देखा जाय तो सत्संगकी महत्ताको तप भी नहीं प्राप्त कर सकता है। तपमें कठिनता है और सत्संगमें सरलता। एकबार इसी प्रसंगको लेकर ऋषि विश्वामित्रजी और महर्षि वशिष्ठजीमें विवाद उठ खड़ा हुआ। विश्वामित्रजीने बड़े स्वाभिमानसे वशिष्ठजीसे कहा—"ब्रह्मर्षे! संसारमें तप सर्वश्रेष्ठ है। देखते नहीं, मैं तपके प्रभावसे क्षत्रियसे ब्राह्मण होगया हूँ?" वशिष्ठजीने प्रत्युत्तर दिया कि—"तप तो श्रेष्ठ है ही, परन्तु उसे सर्वश्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि तप तो असुर भी कर लेते हैं। मेरे विचारसे सत्संग सर्वश्रेष्ठ है।" इसी सर्वश्रेष्ठताके निर्णय पर वाद-विवाद बढ़ गया। विश्वामित्रजी तपको श्रेष्ठ बतलाते थे और वशिष्ठजी सत्संगको। निर्णयके लिए जब मध्यस्थका प्रश्न उठा तो दोनोंने श्रीशेषजीको चुना।

दोनों पहुँचे शेषजीके पास और अपना-अपना मत सामने रक्खा। शेषजीने कहा—"उत्तर तो मैं दे सकता हूँ, परन्तु इस पृथ्वीका भार किसीको सँभालना पड़ेगा।" विश्वामित्रजी अपने तपका गर्व लिये आगे बढ़े और कहने लगे—"मैं अपने तपके प्रभावसे इसका भार धारण करूँगा।" जैसे ही पृथ्वी को उठाने लगे, वे उसके भारको न धारण कर सके और घबड़ाकर वहाँसे हट गये। तब फिर वशिष्ठ जी आगे आए और—"मेरा आधी घड़ीके सत्संगका जो पुण्य हो उसके बलसे मैं पृथ्वीका भार उठा सकूँ", यह कहकर उन्होंने भूभारको फूलकी भाँति धारण कर लिया। तब विश्वामित्रजीने शेषजीसे कहा—"भगवन्! अब आप हमारे विवादका निर्णय करदें।" शेषजी बोले—"ऋषिवर! अब भी क्या निर्णय करना शेष रह गया? आपके सारे जीवनके तपका फल भी आधी घड़ीके सत्संगके बराबर नहीं हो सका।"

अतः सत्संगके द्वारा सभी कुछ सम्भव हो सकता है—

"कह न होय सत्संग ते, देखो तिलअरु तेल।
नाम मोल सब फिर गयौ, भयौ नाम फुलेल।।" (श्रीध्रुवदासजी)

श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्‌ने कहा है कि—

सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधानाः खगाः मृगाः ।
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्र-कायाधवादयः ॥

और भी कहा है :—

नयन निकट काजर बसै, पै दरपन दरसाय ।
त्यौं साधुन के संग बिन, हरि छबि हिय न लखाय ॥

चाह-बीड़ी (लालसा-पान)—जिस प्रकार शृङ्गार करने के बाद पान-सेवनसे ही सौन्दर्यकी परि-पूर्ति होती है, उसी प्रकार दर्शनकी उत्कट-लालसामें ही भक्तिकी परिपूर्णता है। यह उत्कट अभिलाषा पूर्वोक्त क्रमके अनुशीलन द्वारा मानसी-सेवा प्राप्त होनेपर सच्चे रसिक-भक्तों के संगसे होती है। इनके उदाहरण सूर, तुलसी, मीरा, नरसी आदि हैं,किन्तु आदर्श रूपमें इस चाहकी साक्षात्प्रतिमा हैं प्रातः-स्मरणीया भुवनवन्द्या वे व्रजांगनाएँ, जिन्हें श्रीश्यामसुन्दरके दर्शनके विना एक निमेष भी युगके समान व्यतीत होता हैं।

"त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्" (श्रीमद्भागवत)

लाल-प्यारी—प्रियाप्रियतम प्रेमा-भक्तिके चरमलक्ष्य अखिल-रसामृतसिन्धु श्रीयुगलकिशोर ही हैं।

गाइये—"गाया गया है" अर्थात्–पुराण-शास्त्र इत्यादिमें भी कहा गया है, किन्तु श्रीप्रिया-दासजीने इस रूपकमें भक्तिमहारानीके शृङ्गारका जो क्रम निश्चित किया है,वह अपने ढँगका निराला ही है। प्रसंगवश इस संबन्धमें भक्तिसे इष्टकी प्राप्तिका विभिन्न ग्रन्थों और महानुभावों द्वारा निर्धारित क्रम द्रष्टव्य है—

१-श्रीमद्भागवत	२-श्रीहरिभक्तिरसामृत-सिन्धु		३-श्रीमहावाणी	४-स्वामी भगवतरसिकदेव	५-श्रीप्रियादास
श्रवण	श्रद्धा		रसिकोंका संग	भागवत-श्रवण	श्रद्धा
कीर्तन	साधुसंग		दया	नवधा-भक्ति	कथा-श्रवण
स्मरण	भजन-क्रिया		धर्म-निष्ठा	गुरुदीक्षा	निरभिमानता
पाद-सेवन	अनर्थ-निवृत्ति		कथा-श्रवण	धामनिवास	मनन
अर्चन	निष्ठा	(इष्ट)	पद-पंकजानुराग	तन्मयता	दया
वन्दन	रुचि	(इष्ट)	रूपासक्ति	रासकी भावना	नम्रता
दास्य	आसक्ति		प्रेमाधिक्य	उज्ज्वलरस-रीति	पन(अनन्यता)
सख्य	भाव		नामरूप-लीलागान	—	नाम (जप)
आत्म-निवेदन	प्रेम		दृढ़ता	—	साधु-सेवा
—	—		रस-प्रवाह	—	मानसी-सेवा
—	—		—	—	सत्संग
—	—		—	—	चाह

ऊपर दी गई तालिकाके प्रमाण-रूपमें उन-उन ग्रन्थों तथा महानुभावोंके उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

१—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (श्रीमद्भागवत)

२—आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया। ततोऽनर्थनिवृत्तिश्च ततोनिष्ठा रूचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति। साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावो भवेत् क्रमात्॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

३—पहिले रसिक जननकों सेवें। दूजी दया हिये धरि लेवें॥
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनि हैं। चौथी कथा अतृप्त ह्वै सुनि हैं॥
पंचमि पद पंकज अनुरागें। षष्ठी रूप अधिकता पागें॥
सप्तमि प्रेम हिए बिरधावें। अष्टमि रूप ध्यान गुन गावें॥
नौमी दृढता निश्चै गहिवें। दसमी रसकी सरिता बहिवें॥
या अनुक्रम करि जे अनुसरहीं। सनै-सनै जगते निरबरहीं॥
परमधाम परिकर मधि बसहीं। श्रीहरिप्रिया हितू संग लसहीं॥ (महावाणी)

४—प्रथम सुनै भागवत भक्तमुख भगवत बानी।
द्वितीय आराधै भक्ति व्यास नव भाँति बखानी॥
तृतीय करै गुरु दक्ष समझि सर्वज्ञ रसीलौ।
चौथे होइ विरक्त बसें बनराज जसीलौ॥
पाँचे भूले देह सुधि छठे भावना रास की।
सातें पावै रीति-रस श्री स्वामी हरिदास की॥ (भगवतरसिकदेव)

५—श्रीप्रियादासजीके प्रमाणके लिए देखिए पृष्ठ संख्या ३

भक्ति-रस-बोधिनी

शान्त दास्य सख्य वातसल्य औ शृंगारु चारु, पाँचौ रस सार विस्तार नीके गाये हैं।
टीका कौ चमत्कार जानौगे विचारि मन, इनके स्वरूप मैं अनूप लै दिखाये हैं॥
जिनके न अश्रुपात पुलकित गात कभू, तिनहू को भावसिन्धु बोरि सो छकाये हैं।
जौ लौं रहैं दूरि रहैं विमुखता पूरि, हियौ होय चूर-चूर नैकु श्रवण लगाये हैं॥४॥

प्रस्तुत कवित्तमें श्रीप्रियादासजीने भक्ति-रस-बोधिनी में बतलाया है कि इस टीकाके पढ़ने मात्रसे ही भक्ति-हीन हृदयमें किस प्रकार भक्तिकी अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है।

अर्थ :—शान्त, दास्य, सख्य, वातसल्य और उज्ज्वल शृङ्गार-भक्तिके इन पाँचों रसोंका वर्णन 'भक्तिरस-बोधिनीमें' विस्तार से किया गया है। पाठक अपने मनमें विचार करनेसे ही इस टीकाका चमत्कार जान पायेंगे कि भक्तिके पाँचों स्वरूपका मैंने कैसा अनूठा वर्णन किया है। जिनके नेत्रोंमें न तो कभी प्रेमानन्दके आँसू आते हैं और न शरीरमें रोमाञ्च होता है, उन नीरस-हृदय व्यक्तियोंको भी भावरसके समुद्रमें डुबा कर मैंने तृप्त कर दिया है। जब तक वे इस 'भक्तिरस-बोधिनीसे' दूर रहते हैं, तभी तक भक्तिसे विमुख रहते हैं, किन्तु यदि इसका रस तनिक भी उनके कानोंमें पड़ गया तो उनका हृदय चूर-चूर होकर भक्तिरसमें सराबोर हो जायगा।

साहित्यशास्त्रमें नवरसोंका वर्णन किया गया है, परन्तु भक्तिरसके आचार्योंने उनमें-से केवल पाँचरसोंको ही अपनाया है। जैसा श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजीने लिखा है :—

अथ भक्तेः पंचरसाः :—

"शान्तं दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्ज्वलमेवच। अमी पञ्चरसा मुख्याः ये प्रोक्ता रसवेदिभिः॥" (सिद्धा.-रत्न.

अर्थात् भक्तिके पाँच रस होते हैं—शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और (उज्ज्वल) शृङ्गार। रसज्ञों द्वारा ये ही पाँच रस मुख्य कहे गये हैं।

इन्हीं पाँचों रसोंमें-से अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भक्तोंने किसी एकको अपने इष्टकी प्राप्तिका साधन बताया है—

बहुत भाँति लीला चरित, तैसेई भक्त अपार।
अपनी अपनी रुचि लिए, करत भक्ति विस्तार॥

इन सभी प्रकारके रसोपासकोंके उदाहरण भक्तमालमें पाए पाते हैं।

शान्त-रस—शान्त-रसका स्थायी भाव है–निर्वेद। इसमें सांसारिक विषयोंसे अगल होकर भक्त इष्टको परब्रह्म परमात्मारूपसे देखता है और फिर उसीकी भक्तिमें तल्लीन होकर वह शान्ति-लाभ करता है—

प्रायः शम-प्रधानानां ममता-गंधवर्जिता।
परमात्मतया कृष्णे जाता शान्तीरतिर्मता॥

ज्ञानमार्गीय भक्त पहले ज्ञानके द्वारा संसारके विषयोंसे विरत होकर श्रीकृष्णको ही परमात्मा मानकर प्रेम करते हैं। उनकी इस प्रकारकी रतिको ही 'शान्ति' कहा जाता है। शिव, सनकादि तथा नवयोगेश्वर आदि इसी कोटिके भक्त हैं।

दास्य-रस—इस रसमें सेव्य-सेवक भावकी प्रधानता है; क्योंकि दास का काम सेवा करना ही है। इस रसमें ऐश्वर्यभावका आधिक्य रहता है और सेवकको अपने स्वामीके गौरव और मर्यादाका पद-पद पर ध्यान रखना पड़ता है। इस रसका उपासक नवधा-भक्ति द्वारा अपने प्रभुकी उपासना करता है। वैकुण्ठ, साकेत और द्वारका आदिका समस्त परिकर इसी रसका उपासक है।

सख्य-रस—इस रस के अनुसार साधक अपने इष्टमें सखा-भाव रखता है। दास्यकी भाँति इसमें उपास्यके प्रति गौरव या भय-संकोचका भाव नहीं रहता। दो मित्र जिस प्रकार एक-दूसरेका विश्वास करते हैं और एक-दूसरेकी गोपनीय बातोंको जानते हैं, वैसेही इस रसका उपासक भी इष्टके प्रति समानताका व्यवहार करता है। यहां भक्तको अपने इष्टके ऐश्वर्यसे कोई प्रयोजन नहीं होता, प्रयोजन होता है उसके साहचर्यसे, उसके हृदयकी मधुर भावनाओंसे। वह इष्टके साथ खेलता है, हँसता है, और समय पड़ने पर उसे खरी-खोटी भी सुनाता है। सख्य-रसके उदाहरण सुबल–श्रीदामा आदि सखा हैं, जिनका प्रेम इतना अधिक है कि ये श्रीनन्दनन्दनको अपने समान ही समझते है। देखिए, वृन्दावनमें गोचारण करते समय श्रीकृष्णके मनमें नृत्यसंगीत सीखनेकी लालसा जागती है। सखाओंसे पता लगता है कि तोष इस विषयमें सबसे निपुण हैं। फिर क्या है? तोषके लिए आवाजों पर आवाजें लगती हैं, तब कहीं तोष पधारते हैं। श्रीकृष्णके मनुहारें करने पर नृत्यसंगीत सिखानेको राजी होते हैं; सो भी शर्तों सहित और वे शर्तें साधारण-सी हैं। पहली तो यह है कि श्रीकृष्ण तोषको अपना गुरु मानें और दूसरी यह कि भूलचूक होने पर पिटनेको भी तैयार रहें। खैर, गर्ज बावली होती है। शर्त मानली गई और शिक्षा प्रारम्भ होने ही वाली थी कि बीचमें ही मधुमंगल बोल पड़ा—"भाई, इस समय नाचगान कोई भी क्यों न सिखाये, कन्हैयाका गुरु तो मैं ही रहूँगा।"

यह सुनकर श्रीदामा भला कैसे चुप रहते? ऐंठ कर बोले--"वाह! यह भी खूब रही। असली गुरु तो मैं बैठा हूँ।"

बस इसी बात पर सब सखाओंमें झगड़ा होने लगता है और सब अपने-अपनेको उस कृष्णका गुरु घोषित करने लगते हैं,जिसे वेद, शास्त्र, पुराण, ऋषि, मुनि और संसार 'जगद्गुरु' कहता है। यही है इस रसका अनूठापन, जहाँ योगीन्द्रदुर्लभगति श्रीकृष्ण भी अपने समस्त ऐश्वर्य और वैभवको तिलांजलि देकर इन गँवार ग्वालों की जूठन और गाली खानेमें सुख मानते हैं।

इसी प्रकार गोविन्दस्वामी और सूरदास आदि 'अष्टसखा' भी इसी सख्य-रसके उपासक थे। सूरदास ने भी श्रीकृष्ण को सुनाकर कहा है—

आज हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधौ अपुन भरोसे लरिहौं॥

वात्सल्य-रस—इस रसमें ममतापूर्ण वातसल्यपूर्णभावसे इष्टकी उपासना की जाती है। जैसे किसी भी अशोभनीय कार्यको करनेपर पुत्रको माता डाँटती है, फटकारती है और कभी-कभी पीटती भी है, उसी प्रकारका व्यवहार वातसल्य-रसका उपासक अपने आराध्यके साथ करता है। इस रसके सर्वश्रेष्ठ उपासक नन्द और यशोदा हैं। व्रजरानी श्रीयशोदाकी प्रशंसामें तो श्रीशुकदेवजी ने यहाँ तक कह दिया है—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यंगसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥

जिस कृपाको श्रीमुकुंदसे गोपी यशोदाने प्राप्त किया, उस कृपाको ब्रह्मा, शङ्कर और स्वयं श्रीविष्णुप्रिया लक्ष्मी भी नहीं प्राप्त कर सकी।

वेद, वेदान्त और उपनिषद् जिसके लिए 'नेति-नेति' पुकारते रहते हैं, वही पूर्णब्रह्म स्वयं माँ यशोदा की गोदमें लेटकर दूध पीता है। जिसके भयसे स्वयं भय भी भीत रहता है, वही नीलमणि माता के भयसे थरथर काँपता है और मार खानेकी धमकी भी चुपचाप सहनकर जाता है। जिसने अपने माया-पाशमें समस्त स्थावर और जंगमको बाँध रखा है, वही मैयाके स्नेह-पासमें स्वय बंध जाता है। भूखसे व्याकुल होकर वह विश्वम्भर भी मैयाका आंचल पकड़कर आँसू बहाता है। वातसल्य-रसका अनिर्वचनीय उदाहरण है नन्द-यशोदा का यह प्रेम। सूरने इस प्रेमको कितने सुन्दर शब्दोंमें चित्रित किया है। देखिए—

मैया मोरी मैं नहीं माखन खायौ।
भोर भयौ गैयनके पाछें मधुवन मोहि पठायौ।
चार पहर वंशीवट भटक्यौ साँझ परे घर आयौ॥
मैं बालक बहियनको छोटौ छींकौ केहि विधि पायौ।
ग्वाल-बाल सब बैर परे हैं बरवस मुख लपटायौ॥
तू जननी मनकी अति भोरी इनके कहे पतियायौ।
जिय तेरे कछु भेद उपजि है जानि परायौ जायौ॥
यह लै अपनी लकुट कमरिया बहुतहि नाच नचायौ।
'सूरदास' तब विहसि जसोदा लैं उर कण्ठ लगायौ॥

श्रृङ्गार-रस—साहित्य-शास्त्रमें श्रृङ्गारको रसराज माना गया है, क्योंकि शेष आठों रसोके स्थायीभाव इसमें संचारी-रूपसे आजाते हैं, जब कि अन्य रसोंके संचारीभाव इने-गिने हैं। इसी प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें भी आचार्योंने उज्ज्वल (श्रृङ्गार) रसको पाँचों रसोंका राजा माना है, क्योंकि इस रस में ही अन्य चारोंके भावोंका समावेश हो जाता है। लौकिक रति में जो कि साहित्यशास्त्रके श्रृङ्गार-

रसका स्थायी-भाव है, न तो सदा एकरसता रहती है और न माधुर्य ही, क्योंकि उसमें स्वसुखकी भावना आदिसे अन्त तक बनी रहती है। जहाँ स्वसुख और स्वार्थ ही प्रधान है वहाँ उज्ज्वलता कहाँ ? इसलिए भगवत्-विषयक 'रति' (प्रेम) से उत्पन्न आनन्द उज्ज्वल-शृङ्गार कहा गया है। यह सदा एकरस, मंधुर और तत्सुखप्रधान है। इसकी यही विशेषता इसे सांसारिक कलुषित-शृङ्गारसे ऊपर उठाकर उज्ज्वलतम बना देती है।

उपर्युक्त चारों रसोंके उपासक अपने-अपने रसमें डूबे रहते हैं; फिर भी रसज्ञोंने उज्ज्वल शृङ्गाररसको ही सर्वश्रेष्ठ माना है। अनन्य-रसिक मुकुटमणि श्रीस्वामी विहारिनदेवजीने "सब रसकौ रस तिलक सिंगार" कहकर उस रसकी श्रेष्ठता बतलाई है और यही बात हित-कुलभूषण श्रीध्रुवदास जीने भी निम्न-प्रकारसे कही है :—

ब्रजमें जो लीला चरित, भयौ जु बहुत प्रकार।
सबकौ सार विहार (शृङ्गार) है, रसिकन कियौ निरधार।

इस रसमें दास्यकी दासता, सख्यकी निःसंकोचता तथा वात्सल्यका लाड़-चाव सब कुछ होने के साथ-साथ विधि-निषेधका परित्याग करके मन-वचन-कर्मसे आतम-समर्पण भी है। इस रसका श्रेष्ठ उदाहरण है—ब्रज-वनिताएँ जिनके शुद्ध प्रेम, सच्चे आतम-समर्पण, तत्सुखी भावना और समस्त लोक-मर्यादाओंके त्यागके कारण अखिल-लोकचूड़ामणि श्रीकृष्ण भी इनके हाथ बिक जाते हैं। व्रजगोपियों का यह प्रेम लौकिक वासनामयी चेष्टाओंसे कोसों दूर है। इसीलिए तो शिव, ब्रह्मा एवं उद्धव आदि इन गोपियोंकी चरण-रजकी वाञ्छा करते रहते हैं। स्वयं श्रीकृष्णने भी इस सम्बन्धमें कहा है :—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ. नान्ये जानन्ति तत्वतः ॥ (आदिपुराण)

हे अर्जुन ! मेरी महिमा, मेरी सेवा, मेरी इच्छाओं और मेरे मनोगत भवोंको तो एकमात्र व्रज-बनिताएँ ही ठीक-ठीक जानती हैं, और कोई दूसरा नहीं।

चैतन्य-चरितामृत में भी केवल इसी विशुद्ध शृङ्गारको श्रीकृष्णकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए कहा गया है :—

परिपूर्ण कृष्ण प्राप्ति एई प्रेमा हई ते।
एई प्रेमार वश हय कहे भागवते ॥

यद्यपि व्रज-वनिताओंका यह प्रेम शृङ्गाररसका आदर्श है, तथापि समय-समयपर प्रदर्शित ऐश्वर्य-लीलाओं एवं मथुरा-द्वारिका-गमनके समय गोपियोंके विरहके कारण इस प्रेममें जो एक रसकी सुखानुभूति नहीं रह पाई, इसीलिए हम इसे शृङ्गार-रसका आदर्श तो कह सकते हैं, किन्तु सर्वोच्च आदर्श नहीं। विशुद्ध, उज्ज्वल और पूर्णतम शृङ्गार-रस एवं प्रेमकी चरमसीमा तो श्रीवृन्दावन-नव-निकुञ्ज-मन्दिरकी निभृत-शान्त-केलिकुञ्जोंमें ही है, जहाँ अनादिकालसे अनवरत रूपमें अखिल-रसामृत-मूर्ति श्रीलाड़िलीलाल नित्य-विहार करते रहते हैं। दोनों एक दूसरेके जीवन-प्राण हैं। वहाँ स्थूल-विरह-वियोगकी तो कोई चर्चा ही नहीं है। इन्हींके सुखकी साक्षात् प्रतिमा इनकी सहचरियाँ हैं। इस उज्ज्वल शृङ्गाररस के चरम ध्येय ये निकुञ्जविहारी श्रीश्यामाश्याम ही हैं और ये ही अनन्य रसिकोंके एकमात्र सेव्य हैं।

जैसा कि श्रीरूपरसिकदेवजीने कहा है :—

अति अपार आश्चर्यमय, आदि अनादि स्वतंत्र।
सेवैं सुख सब सहचरी, निमीष न पावहिं अंत्र ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

पंचरस सोई पँच-रंग फूल थाके नीके पियके पहिराइबे को रुचिकै बनाई है।
वैजयन्ती दाम भाववती अलि 'नाभा' नाम लाई अभिराम श्याममति ललचाई है।।
धारी उर प्यारी, किहूँ करत न न्यारी, अहो! देखो गति न्यारी ढरि पायन को आई है।
भक्ति छवि भार ताते नमित, शृंगार होत, होते वश लखे जोई याते जानि पाई है।।५।।

इस कवित्तमें भक्तमालको श्रीहरि की पचरंगी वैजयन्ती-माला बतलाकर इसकी प्रियता, सुन्दरता, महिमा और प्रभावका वर्णन किया गया है—

अर्थ—(ऊपर के कवित्तमें जिन शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार-इन पाँच रसोंका वर्णन किया गया है) ये पाँच रस मानों पचरँगे फूलोंके सुन्दर गुच्छे हैं। (भगवान्‌की भक्तिभावना से ओतप्रोत नाभा नामकी अली (सखि) ने अपने प्रियतम श्रीकृष्णको पहिनानेके लिए इन्हीं पाँच रंगके फूलोंसे वैजयन्ती माला गूँथकर बनाई है। भक्तिकी यह माला इतनी सुन्दर है कि इसे देखकर श्यामसुन्दरका मन भी ललचा गया है। भगवान्‌ने इस प्यारी मालाको अपने श्रीअङ्ग पर धारण किया है और वह उन्हें इतनी अच्छी लगी है कि वे कभी इस मालाको अपने कण्ठसे अलग नहीं करते हैं। इस मालाकी विलक्षणता तो देखिए कि (गलेमें धारण करनेपर भी) यह ढरककर पैरोंसे आ लगी है। इससे यह जाना जाता है कि यह माला भक्तिके सौन्दर्य-भारसे झुकगई है और इससे श्रीश्यामसुन्दरके शृङ्गारमें और अधिक सुन्दरता आगई है। इस प्रकार जो इस पचरंगी वैजयन्ती मालाका दर्शन करता है, वह भगवान्‌की भक्तिका आविर्भाव हो जानेसे वह प्रभुका अनन्य-भक्त बन जाता है। अथवा भक्तको भक्तिके सौन्दर्य-भारसे युक्त और विनम्रतासे अवनत देखकर भगवान् स्वयं उसके वश होजाते हैं।

इस कवित्तमें 'भक्तमाल' शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गार-रसके पाँच रंग-बिरंगे फूलोंका हार बतलानेका कारण यही है कि इसमें समस्त रसोंके उपासक भक्तोंके चरित्रोंका निर्विशेष भावसे वर्णन किया गया है। भक्त उपर्युक्त पाँचों प्रकारोंमें से किसी एक प्रकार द्वारा अपने आराध्यकी आराधना करता है और उसीमें उसे परमानन्दकी उपलब्धि होती है। इस मौलिक भेदके होते हुए भी सभी भक्तोंका हृदय एक भावतन्तुसे अपने आराध्यसे जुड़ा रहता है, जिसे 'भक्ति' कहा जाता है। यह भक्ति ही सभी प्रकारकी उपासनाका मूल-आधार है।

भाववती सखी नाभा नाम—श्रीप्रियादासजीने नाभादासजीको 'नाभा' नामकी श्रीश्यामकी सखी बतलाया है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रीप्रियादासजीके अनुसार श्रीनाभादासजी सखीभावके उपासक थे।

ढरि पायनको आई है-इससे भक्तोंकी नम्रताकी ओर प्रियादासजीने संकेत किया है। भगवान्‌को अपने भक्त बहुत प्यारे हैं, इसीलिए वे हमेशा उनको अपने हृदयमें स्थान देते हैं, किन्तु भक्त अपने नम्र-

स्वभावके कारण भगवान् के हृदयमें वास पानेपर भी उनके चरण-कमलोंकी ही चाह किया करते हैं। मालाको गलेमें धारण करनेपर भी ढरककर पैरोंमें आनेका यहीं कारण है।

भक्तिछवि-शृङ्गार होत—इस वाक्यके टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न अर्थ लगाए हैं। पहिला तो यह है कि भक्तिके सौन्दर्यसे भगवान्की शोभा बढ़ती है। यहाँ शोभाका अर्थ महिमा लगाना पड़ेगा। अर्थात् भक्तों द्वारा भगवान्का गौरव बढ़ता है। दूसरा अर्थ है—भक्ति-द्वारा शृङ्गार-अर्थात् उज्ज्वल रस की वृद्धि होती है। श्रीकृष्ण उज्ज्वल रसके प्रधान आलम्बन और अधिष्ठातृ देवता हैं। उनकी रूप-माधुरी को देखकर प्रेममें पगी गोपियोंके हृदयमें जो भक्ति-भावना उत्पन्न होती है, वही उज्ज्वल शृङ्गारकी जननी है। इसीलिए कहा है कि भक्तिकी छविके भारसे शृङ्गार नमित होता है—सुन्दर लगता है। तीसरा अर्थ यह भी है कि भक्तमालको अपने श्रीअंग में धारण करने पर उस मालाकी भक्तिके सौन्दर्य भारसे श्रीहरि का और समस्त शृङ्गार नमित हो जाता—अर्थात् नीचा पड़ जाता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

भक्ति तरु पौधा ताहि विघ्न डर छेरी हू कौ, वारि दै विचार, बारि सींच्यौ सतसंग सौं।
लाग्यौई बढ़न, गोंदा चहूँ दिशि कढ़न, सो चढ़न अकाश जस फैल्यौ बहुरंग सौं॥
सन्त उर आलबाल शोभित विशाल छाया, जिये जीव जाल, ताप गये यों प्रसंग सौं।
देखौ बढ़वारि, जाहि अजाहू की शंका हुती ताहिपेड़ बांधे फूलैं हाथी जीते जंग सौं॥६॥

इस कवित्तमें भक्तिके विकासको वृक्षके रूपक द्वारा समझाया गया है।

अर्थ—भक्तिका वृक्ष जब पौधाकी अवस्थामें होता है, तो उसे बकरीके बच्चेसे भी हानिका भय रहता है, किन्तु जब इस पौधेमें बिचाररूपी बाढ़ (घेरा) लगाकर इसे सत्संगरूपी पानीसे सींचा जाता है, तो यह बढ़ने लगता है। इसमें चारों ओरसे शाखा-प्रशाखाएँ फूटने लगती हैं। यह आकाशकी ओर फैलने लगता है और अनेकों प्रकारसे इसकी ख्याति होने लगती है। सन्तोंके हृदयरूपी आलबाल (थामलेमें) स्थित इस विशाल भक्ति-वृक्षकी छाया में आकर अनेक तापोंसे संतप्त प्राणी शान्ति-लाभ करते हैं। इस वृक्षकी आश्चर्यजनक बृद्धिको तो देखोकि जिस वृक्षको कभी बकरीके बच्चेसे भी भय था उसी से आज युद्ध को जीतने वाले (भक्तिके विघ्नकारक) बड़े-बड़े हाथी भी बँधे हुए झूम रहे हैं।

पेड़ जब पौधेकी अवस्थामें होताहै तो उसे छोटे-छोटे पशुओंसे भी भय रहता है, किन्तु जब उसे सुरक्षित रखकर बराबर उसकी सिंचाई की जाती है तो वह विशाल वृक्षके रूपमें होजाता है और इस समय उसे सबसे अधिक बलवान् पशु हाथीसे भी भय नहीं रहता और अनेकों प्रकारके जीव-जन्तु उसके आश्रयमें निवास करते रहते हैं। उसकी छायामें आकर रास्तागीर और पशु-पक्षी गर्मी से अपनी रक्षा करते हैं। ठीक उसी प्रकार भक्ति-वृक्षकी भी दशा है। जब मानव के हृदयमें नई-नई भक्तिका प्रादुर्भाव होता है तो संसार के छोटे-छोटे आकर्षण ही उसके मनको अपनी ओर खींच लेते हैं और उसका वह अभिनव-भक्तिका भाव समाप्त हो जाता है। इस समय यदि वह उन सांसारिक प्रलोभनों की झूठी महत्तापर विचार करके जान ले कि ये तो भ्रममात्र हैं—इनमें आनन्द कहाँ ? तो उसके हृदय

में भक्ति का अंकुर सुरक्षित रहेगा। उस भक्ति-भावनाको बलवती बनाने के लिए आवश्यकता होती है सत्संगकी। सत्संग की सहायतासे यह भक्ति का अंकुर प्रतिपल बढ़ेगा और इसमें दृढ़ता आयेगी। श्रीमद्भागवत्में भी एकस्थान पर भगवान् ने कहा है—

सतां प्रसंगान्मम वीर्य-संविदो भवन्ति हृत्कर्ण-रसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

अर्थात्—सन्तोंका सत्संग करनेसे मेरे पराक्रम से सम्बंधित वे कथाएँ सुननेको मिलती हैं, जो हृदय और कानोंके लिए रसायन का काम करती हैं। इन कथाओंका श्रवण करनेसे मोक्ष (संसारसे छुटकारे) के मार्ग में क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति होती है।

इस प्रकार सत्संगके द्वारा भक्तके हृदयकी भक्ति अविचल हो जाती है। इस अवस्थामें संसार का कोई भी प्रलोभन भक्त को नहीं डिगा सकता है। इस भक्तके आश्रय में अब और दूसरे जीव भी सांसारिक सन्तापोंसे मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

बारि सींच्यौ सतसंग सौं—प्रियादासजी ने सत्संग की उपमा जल से दी है।जल दो प्रकार का होता है—मीठा और खारा। इसी प्रकार सत्संग भी सजातीय और विजातीय भेदोंसे दो प्रकारका होता है। जहाँ एकही इष्ट होता है और भजन-रीति भी एक ही प्रकार की होती है, वहाँ सजातीय सत्संग होता है जो मीठे पानीके समान है। श्रीध्रुवदासजीने कहा है--

इष्ट मिलै अरु मन मिलै, मिलै भजन रस-रीति।
मिलिए तहाँ निसंक ह्वै, कीजै तिनसों-प्रीति॥

भक्तिके विशाल वृक्षके नीचे सभी प्रकारके साधकोंको आश्रय मिलता है। चाहे ज्ञानी हो या योगी, शान्ति उसे भक्तिमें ही मिलती है।

झूलें हाथी जीते जंगसौं--ये हाथी कौनसे हैं? सम्भवतः ये ज्ञान, वैराग्य, यश, महत्वादिक के हाथी हैं, जो कर्म-क्षेत्र और ज्ञान-क्षेत्रमें विजयी होनेपर भी भक्तिके विशाल वृक्षसे बाँध दिये जातेहैं। अर्थात्–जिन समस्याओंका समाधान ज्ञान, कर्म या योग द्वारा नहीं हो पाता है, वे भक्ति-मार्गमें आकर अनायास ही सुलझ जाती हैं।

हाथियोंके बाँधनेका दूसरा तात्पर्य यह भी हो सकता है कि भगवान्‌का भक्त हाथी-जैसे प्रबल विघ्नोंको भी अपने वशमें कर लेता है। प्रहलाद, ध्रुव, भीष्म, विभीषण आदि अनेकों भक्त ऐसे हैं जिनका विघ्न-बाधाएँ कुछ भी नहीं बिगाड़ सकीं।

भक्ति-रस-बोधिनी

जाकौ जो स्वरूप सो अनूप लै दिखाय दियौ, कियो यों कवित्त पट मिहीं मध्य लाल है।
गुण पै अपार साधु कहैं आँक चारि ही में, अर्थ विस्तार कविराज टकसाल है॥
सुनि संत सभा झूमि रही, अलि श्रेणी मानों घूमि रहीं, कहैं यह कहा धौं रसाल है।
सुने हे अगर अब जाने मैं अगर सही, चोवा भये नाभा सो सुगन्ध भक्तमाल है॥७॥

अर्थ--(श्रीनाभाजीने) प्रत्येक महात्माके चरित्रके अनूठेपनको (उसकी विशेषताको अपनी) कविता द्वारा स्पष्ट कर दिया है। वह कविता ऐसी है जैसे झीने-वस्त्रके अन्दर

हुई लालमणि (जैसे बहुत पतले-वस्त्रके अन्दर रखी हुई लालमणिकी प्रभा उस वस्त्रके झीने छेदोंमें-से बाहर छन जाती है, वैसे ही नाभाजीकी कविताकी शब्दावलीमें-से अर्थ छन-छनकर बाहर प्रकट होता है। साधु-सन्तोंकी महिमा अनन्त है, (किन्तु नाभाजीने अपनी कवित्त-शक्तिके प्रभावसे) थोड़े ही अक्षरोंमें (सन्तोंके गुणोंका इस खूबीके साथ) वर्णन किया है कि एकके बाद दूसरा अर्थ करते जाइए। नाभाजीकी वाणी, इस प्रकार, किसी कविराजकी टकसाल है। [टकसाल थोड़ी-सी जगहमें बन जाती है, लेकिन उसमें अनन्त सिक्के रोज ढलते हैं।] सन्तोंकी सभा इसे सुनकर (भक्तमालकी कविताका रसास्वादन कर) आनन्दमें झूम उठती है, मानों (सन्त-रूपी) भौंरोकी पंक्ति (भक्त-चरित्ररूपी सुगंधित फूलोंपर चारों ओर) मंडरा रही हो। वे (आश्चर्यसे यह) कहते हैं कि यह (कविता) कैसी विचित्र रसभरी है। (श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि) मैंने अगर (स्वामी श्रीअग्रदेवजी) का नाम सुना तो था, परन्तु आज यह (उनकी महिमाकी वास्तविकताका) अनुभव होगया कि वह सचमुच अगर (सुगन्धि-विशेष) ही है, जिनसे (जिनकी कृपासे) नाभाजी जैसे चोबा (इत्र) उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं (नाभाजी-रूपी चोबा) की सुगन्ध यह भक्तमाल है।

इस कवित्तमें श्रीप्रियादासजीने श्रीनाभाजी तथा उनकी कविप्रतिभाका परिचय दिया है और साथही उनके गुरु श्रीअग्रदासजीका भी नामनिर्देश कर दिया है।

पट मिहीं मध्य लाल है—पुराने जमानेमें जौहरी लोग किसी बहुमूल्य-रत्नको पतले कपड़ेमें ढककर ग्राहकोंको दिखाया करते थे। नाभाजी उसी प्रकार अपनी सरस एवं सुन्दर शब्दावली द्वारा अनेक अर्थोंकी विचित्र और चमत्कारपूर्ण व्यंजना करने में समर्थ हुए हैं।

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़े भक्तिमान, निशिदिन गुणगान करैं, हरैं जग-पाप जाप हियौ परिपूर है।
जानि सुखमानि हरि सन्त सनमान सचे, बचेऊ जगत रीति. प्रीति जानी सूर है।।
तऊ दुराराध्य कोऊ कैसे कै अराधि सकै, समझो न जात. मन कंप भयौ चूर है।
शोभित तिलक भाल माल उर राजै, ऐ पै बिना भक्तमाल भक्ति-रूप अति दूर है।।८।।

श्रीप्रियादासजीके इस कवित्तसे यह स्पष्ट होता है कि भक्तिका सच्चा अधिकारी बननेके लिए भक्तोंके चरित्रोंका श्रवण करना आवश्यक है। जो उपासक भक्तोंके चरित्रोंकी अवहेलना करके अन्य साधनोंका आश्रय लेता है, वह भक्तिके सूक्ष्म स्वरूपको नहीं पहिचान सकता।

अर्थ—यद्यपि कुछ साधक भक्तिसे युक्त हैं, रात-दिन श्रीहरिका गुणगान करते रहते हैं, संसारके पापोंको हरने वाले हैं और हृदयमें भगवान्‌के नामोंका उच्चारण करते रहते हैं, वे हरि और सन्तोंके स्वरूपको जानते हैं एवं उनका सत्कार करके आनन्दका अनुभव करते हैं तथा संसारके प्रपंचों (मायाजाल)से दूर हैं और प्रेमको ही संसारमें सार मानते

हैं,इतनेपर भी उनके लिए भक्तिकी आराधना करना बड़ा कठिन है । उसकी आराधना कोई कर भी कैसे सकता है ? वह (भक्तिका स्वरूप) समझमें आता ही नहीं है—हृदय काँपकर चूर-चूर हो जाता है । चाहे माथे पर सुन्दर तिलक हो, चाहे गलेमें माला (कंठी), किन्तु बिना भक्तमालके (श्रवण किए) भक्तिका स्वरूप बहुत ही दूर रहता है ।

भगवत्कृपाको प्राप्त करनेके लिए जिन गुणोंकी आवश्यकता है वे भक्तोंके चरित्रको सुननेसे ही आते हैं । जो साधक भक्तोंके चरित्रोंको न सुनकर अकेले साधनामें लगे रहते हैं, उनमें किसी भी समय अभिमानका विकार पैदा हो सकता है । नारद–जैसे महामुनिको भी यह अभिमान हो गया था कि मैंने कामको जीत लिया है । अन्तर्निष्ट राजाकी धर्मपत्नी रानी भक्तिमतीको भी अपनी भक्तिका अभिमान होगया था, परन्तु जब उन्हें अपने पतिके हृदयमें छिपी हुई भक्तिका ज्ञान हुआ, तो उनका (भ्रम) दूर होगया और वह दीन हो गईं । श्रीपीपाजीने जब श्रीधर भक्तकी भक्तिको देखा तो उनकी तुलनामें अपनेको बहुत ही छोटा समझने लगे । इस प्रकार भक्तिके स्वरूपको स्थिर करनेके लिए भक्तोंके चरित्रोंका श्रवण परमावश्यक है ।

अब तक कहे गए आठ कवित्त श्रीप्रियादासजीने भूमिकाके रूपमें रचे हैं, जिनमें मंगलाचरण, भक्ति-महारानीका स्वरूप-वर्णन, सत्संगकी महिमा, श्रीनाभाजीका गुणानुवाद तथा भक्तमालका यशोगान किया है । यहाँसे आगे श्रीनाभाजीका मूल-ग्रन्थ तथा उस पर श्रीप्रियादासजीकी टीका आरम्भ होती है ।

मूल

दोहा—भक्त भक्ति भगवन्त गुरु, चतुर नाम बपु एक ।
इनके पद बन्दन किये, नाशैं विघ्न अनेक ॥

ग्रन्थके आरम्भमें विघ्नोंका विनाश करनेके लिए मंगलाचरणके रूपमें इष्टदेवकी वन्दनाकी जाती है । मंगलाचरण तीन प्रकारके होते हैं–आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तुनिर्देशात्मक ।

यह दोहा वस्तु निर्देशात्मक और नमस्कारात्मक दोनों प्रकारके मंगलाचरणोंका एकही उदाहरण है । इसकी प्रथम पंक्तिमें वस्तु–अर्थात् प्रतिपाद्य विषयका उल्लेख है और दूसरीमें शुद्ध नमस्कार । साधारणतया वन्दनीय इष्ट एक ही होता है, लेकिन यहाँ तो चार हैं । यह कैसे ? इस शंकाका समाधान श्रीनाभादासजीके मंगलाचरण से स्वयं ही हो जाता है ।

अर्थ :—भगवद्भक्त, भगवद्भक्ति, भगवान् और गुरु-कहनेको ये चार हैं, लेकिन वास्तवमें इनका स्वरूप एक ही है । इनके चरणोंमें नमस्कार करनेसे समस्त विघ्नोंका विनाश हो जाता है ।

भक्ति-भक्त :—भक्ति-शास्त्रके अनुसार भक्ति भगवान्की अन्तरंग-स्वरूपा-शक्ति है । प्रभु-कृपा से इसी शक्तिका जब मनुष्योंके हृदयमें उदय होता है, तब वह विषयोंसे पराङ्मुख हो जाता है और उसे भगवान्से अनुराग होने लगता है । यही अनुराग लक्षणा भक्ति भगवद्-प्राप्तिका मुख्य साधन है ।

भक्तिकी व्याख्या विभिन्न ग्रन्थों, ऋषि-मुनियों एवं आचार्योंने अनेक प्रकारसे की है, जिसमें-से कुछ उद्धरण यहाँ दिए जाते हैं :—

१—सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र-१।१।२)

—आराध्यके प्रति अनन्य अनुराग ही भक्ति है।

२—सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च। (ना० भ० सू० २)

—भगवान्‌के प्रति होने वाले परम-प्रेमको ही भक्ति कहते हैं।

३—द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते। (भक्तिरसायन-१।३)

भगवत्-गुण के श्रवणसे प्रवाहित होने वाली भगवद्-विषयिणी धारावाहिक वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं।

४—कृपास्य दैन्यादि-युजि प्रजायते, यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा॥
(श्रीनिम्बार्काचार्यकृत-वेदान्त कामधेनु)

—परिपूर्ण माधुर्य-सौन्दर्यादिसागर श्रीसर्वेश्वरकी कृपासे उनकी प्रेमविशेषलक्षणा भक्ति प्रस्फुरित होती है। जिसमें विनम्रता आदि गुण हों उन्हीं पर प्रभु कृपा करते हैं। परा और अपरा भक्ति के दो भेद हैं। उनमें प्रेमरूपा परा (उत्तमा) है और साधन-रूपा अपरा है।

५—अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥ (भक्तिरसामृत-सिन्धु)

—अन्य अभिलाषाओंसे रहित, ज्ञान-कर्म आदिसे अनावृत श्रीकृष्ण-प्रीतिके अनुकूल आचरण करना ही भक्ति है।

इन सभी व्याख्याओंमें एक ही बात विभिन्न प्रकारसे कही गई है। सभीका भाव एक ही है। सभीने संसारसे पराङ्मुख हो श्रीश्यामाश्यामके चरणकमलोंमें अटूट अनुरागको ही भक्ति कहा है। जिनके हृदयमें इस प्रकारकी भक्तिका संचार होता है, उन्हींकी 'भक्त' संज्ञा होती है और भगवान्‌का निवास-स्थान भी प्रेममय होनेके कारण एकमात्र भक्त-हृदय ही है। जब हृदय एकान्त भक्तिनिष्ट हो जाता है, तब प्रेमी-प्रेमपात्रसे अपनी तदाकारताका अनुभव करता है और तभी प्रेमपात्र भगवान् भी अपने भक्तोंसे तदाकारताका प्रकाश करते हैं :—

वैष्णवो मम देहस्तु तस्मात् पूज्यो महामुने।
अन्य यत्नं परित्यज्य वैष्णवान् भज सुव्रत॥

—हे मुनिराज! वैष्णव तो मेरा स्वरूप है, अतः अन्य साधनों के फेरमें न पड़कर वैष्णवोंकी ही सेवा करनी चाहिए।

भगवान् और गुरु—भगवत्प्राप्ति में गुरुको सर्व श्रेष्ठ माना गया है। जन्म-जन्मान्तरोंसे प्रभुसे वहिर्मुख जीवको गुरु ही उनकी ओर प्रेरित करता है, उन्हें सद्-असद्का ज्ञान कराकर संसारिक मायाके अन्धकारसे छुड़ाता है। (न विना गुरु संबन्धं ज्ञानस्याधिगमः कुतः) अन्यथा बिना गुरुके ज्ञानकी प्राप्ति कहाँ ? इसीलिए भगवान्‌ने कहा है—

आचार्यं मां विजानीयात् नावमन्येत कर्हिचित् ।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ।। (श्रीमद्भागवत)

अर्थात्—आचार्य (गुरु) को मेरा ही स्वरूप समझना चाहिए, उनका कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए और न उनमें मनुष्य-बुद्धि ही करनी चाहिए; क्योंकि गुरुमें सब देवताओंका वास होता है । इसीलिए यह कहा गया है कि—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

अर्थात्—अपने इष्टमें जिसकी एकान्त भक्ति है और जो गुरुको भी स्वयं इष्ट करके मानता है, उस महात्माके हृदयमें तत्व ज्ञानका प्रकाश होता है ।

सन्त-वाणियोंमें भी इसी बातको स्पष्ट किया गया है—

ज्यौं गुरु त्यौं गोविंद बिनु गुरु गोविंद किन लह्यौ ।
ज्यौं मावस्या इन्दु (त्यौं) निगुरा पंथ न पावहीं ।।
गुरु सेवत गोविंद मिल्यौ गुरु गोविंदै आहि ।
विहारिदास हरिदास कौ जीवत है मुख चाहि।।[स्वामी श्रीविहारिनदेवजी]

स्वामी श्रीललितकिशोरीदेवने तो यहाँ तक कह दिया है कि—

गुरु सेये हरि सेइये हरि सेये गुरु नाँहि ।
गुरु छाड़े हरिकौ भजै तिनसे दोऊ जाँहि ।।

कबीरदासने भी कहा है—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागों पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियौ दिखाय ।।

चारों तत्त्वोंकी एकता—ऊपर भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति-भक्तिका उल्लेख किया गया है । यही शक्ति भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरु—इन चार रूपोंमें प्रकट होती है । समुद्रमें, मेघमें, जलमें और जलाशयमें एक ही जल-तत्व स्थित रहता है । समुद्र जलनिधि है, उसमें से उठी हुई भाप आकाश में टिक कर मेघका रूप धारण करती है, मेघमें से निकली हुई जलधाराएँ स्थलपर एकत्र होकर जलाशयका रूप धारण करती है । इसी प्रकार भक्ति या ह्लादिनी-शक्ति या भगवत्-कृपाका उद्‌गम-स्थान भगवान् हैं, भक्तिका दाता गुरु है और भक्तिका पात्र भक्त है । चारों एक-दूसरेसे अभिन्न हैं ।

जैसा कि श्रीस्वामी बिहारिनदेवजी ने कहा है—

भक्ति, भक्त अरु भागवत ए भगवत निज जानि ।
'विहारिदास' यह भाव भज और सबै मति हानि ।।

अनुबन्ध-चतुष्टय—ग्रन्थको प्रारम्भ करनेसे पूर्व अनुबन्ध-चतुष्टयका उल्लेख करना आवश्यक है । ये अनुबन्ध संख्यामें चार होते हैं—१. विषय, २. प्रयोजन, ३. संबन्ध और ४. अधिकारी । नाभाजी ने उपर्युक्त वन्दनामें निम्नलिखित प्रकारसे इन चारोंकी ओर संकेत किया है—

भक्ति-रसका विषयावलंबन भगवान् हैं, आश्रयालम्बन भक्त और गुरु हैं, अतः भक्ति, भक्त गुरु और भगवान्‌के बीचमें भगवान् साध्य-तत्व—अर्थात् विषय हैं; भक्ति साधन-तत्व अर्थात् प्रयोजन है । गुरु और भगवान्‌के साथ भक्तका साध्य-साधक सम्बन्ध है । भक्त इसके अधिकारी हैं ।

भक्ति-रस-बोधिनी

हरि गुरु दासनि सौं साँचो सोई भक्त सही, गही एक टेक फेरि उरते न टरी है।
भक्तिरस रूप को स्वरूप यहै छबि सार, चारु हरिनाम लेत अँसुवन झरी है॥
वही भगवन्त सन्त प्रीति को विचार करै धरै दूरि ईशता हू, पाँड्डन सो करी है।
गुरु गुरुताई की सचाई लै दिखाई जहाँ गाई श्री पैहारीजू की रीति रंगभरी है॥६॥

टीकाकार श्रीप्रियादासर्जाने इस कवित्त में भक्त, भक्ति, भगवान् और गुरुकी परिभाषा की है तथा व्यंजना-द्वारा चारोंकी एकताका प्रतिपादन किया है।

अर्थ—सच्चा भक्त वही है जो हरि, गुरु और दासों [भगवान्‌के भक्तों] के प्रति सच्ची प्रीति और निष्कपट व्यवहार करता है, तथा एक बार भगवान्‌के प्रति भक्तिका संकल्प करके उस पर सर्वदा दृढ़ रहता है। रसरूपा भक्तिका सुन्दर सार और स्वरूप वही है, जहाँ भगवान्‌का नाम लेते ही आँखोंसे प्रेमके आँसू झर-झर करके झरने लगते हैं। भगवान् वही हैं, जो सन्तों [भक्तों] का हमेशा ध्यान रखते हैं और उसके लिए अपनी भगवत्ताको एक ओर उठाकर रख देते हैं; जैसा श्रीकृष्णने पाण्डवोके साथ [राजसूय-यज्ञमें] किया था। गुरुकी गुरुता तथा सचाईको भक्तमालमें वर्णित श्रीकृष्णदास पयोहारीजीके चरित्रसे समझना चाहिए।

ईश्वरके प्रति प्रबल अनुराग-युक्त व्यक्तिको ही 'भक्त' माना जाता है, परन्तु टीकाकारने भक्तका लक्षण व्यापक दृष्टिसे किया है। उसका अनुराग गुरु और भक्तजनोंमें भी उसी कोटिका होना चाहिए जैसा कि भगवान्‌में। इन तीनोंमें किसी प्रकारका तारतम्य नहीं समझना चाहिए। लालाचार्यजी का चरित्र इसका दृष्टान्त है। कोई प्रतिकूल घटना होने पर भी हरि, गुरु और दासोंके प्रति अविचल अनुरागमें अन्तर नहीं आना चाहिए। रानी रत्नावली इसका उदाहरण है। उनके पति माधवसिंहने बहुत विरोध किया, किन्तु रानीने अपनी प्रतिज्ञाको नहीं तोड़ा। जो भक्त हरिसे सच्चे रहें है उनमें मीराबाई, कर्मेतीबाई, सीवाँ भगतके नाम उल्लेखनीय हैं और गुरुसे सच्चे रहने वालोंमें श्रीपादपद्माचार्य, रसिकमुरारीदेव, घाटमजी, तत्ववेत्ताजी आदि। श्रीसदाव्रतीजी, व्यासजी, त्रिलोचनजी आदिने भक्तोंके प्रति सच्चे रहनेका आदर्श उपस्थित किया है।

प्रेमलक्षणा-भक्तिका स्वरूप निर्देश करते हुए श्रीशुक मुनिने उसकी यह पहिचान बताई है--

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं हसत्यभीक्ष्णं रुदति क्वचिच्च।
विलज्य उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ (श्रीमद्भागवत-स्कन्ध १२)

अर्थात्--(हरिका नाम स्मरण करते ही) जिसका कंठ रुक जाता है, हृदय पिघलकर पानी-पानी हो जाता है; जो कभी हँसने लगता है, कभी रोने लगता है और कभी लौकिक लज्जाका परित्याग कर नाचने-गाने लगता है, वह मेरा भक्त तीनों भुवनोंको पवित्र कर देता है।

भगवान्‌के प्रेममें इस प्रकार तन्मय होकर नाचने-गानेवालोंमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु, कात्यायनी बाई, मीराबाईके नाम स्मरणीय है।

भगवान्‌के स्वरूपकी व्याख्या करते हुए श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि जिस प्रकार भक्त भगवद्-

भक्ति-परायण होते हैं; वैसे ही भगवान् भी भक्त-भक्तिमान् होते हैं—अर्थात् वे भक्तोंकी भक्ति करते हैं। ऐसेमें भगवान् अपनी ईश्वरताके अभिमानको एक ओर रखकर अपने भक्तोंकी प्रीतिको सर्वाधिक महत्व प्रदान करते है—यहाँ तक कि अपने भक्तोंकी दासता स्वीकार करनेमें भी संकोच नहीं करते। युधिष्ठिर द्वारा आयोजित राजसूय यज्ञमें भगवान्ने ब्राह्मणोंके चरण धोये और उनकी जूठी पत्तलें उठाईं। इससे पूर्व महाभारत युद्धमें अर्जुनका रथ हाँकना उन्होंने स्वीकार किया। भक्तके परवश होकर ही भगवान्ने त्रिलोचन भक्तके घरपर रहकर तेरह महीनों तक निष्ठापूर्वक सन्तोंकी सेवा की। 'भक्तमाल' में वर्णित है।

सच्चे गुरुके आदर्शको बतानेके लिए टीकाकारने श्रीपयहारीजीके चरित्रका उल्लेख किया है। जिस प्रकार पयोहारीजी अपने शिष्योंसे किसी प्रकारकी कामना नहीं करते थे, उसी प्रकार गुरुको सर्वथा निस्पृह रहना चाहिए। श्रीपयहारीजीके चरित्रका वर्णन करनेके प्रसंगमें ग्रन्थकार श्रीनाभजीने गुरुमें चार तत्वोंका होना आवश्यक बताया है—

(१) जाके सिर कर धर्यौ तासु कर तर नहिं अड्ड्यौ।
(२) अर्प्यो पद निर्वान सोक निर्भय करि छड्ड्यौ।
(३) तेजपुञ्ज बल भजन महामुनि ऊरधरेता।
(४) निर्वेद अवधि ..

गुरुका प्रथम लक्षण है—निस्पृहता। श्रीपयहारीजीने जिस शिष्यके माथे पर हाथ रक्खा उसके हाथोंके नीचे अपना हाथ कभी नहीं पसारा। गुरुका दूसरा लक्षण यह है कि उसमें इतनी योग्यता होनी चाहिए कि शिष्यगणोंको निर्भय पदवीपर पहुँचा दे—अर्थात् उन्हें शोकरहित करके भक्तिका अधिकारी बना दे और भगवान्से साक्षात्कार करा दे। चौथा लक्षण यह है कि गुरु ब्रह्मचर्यके बलसे युक्त हो और सात्त्विक तेजसे जगमगाता रहे।

मूल

दो०—मंगल आदि विचारि रह, वस्तु न और अनूप।
हरिजन कौ यश गावते, हरिजन मंगलरूप ॥२॥
सब सन्तन निर्णय कियौ, श्रुति पुरान इतिहास।
भजिबे को दोई सुघर, कै हरि, कै हरिदास ॥३॥
अग्रदेव आज्ञा दई, भक्तन कौ यस गाउ।
भवसागर के तरन कौ, नाहिन और उपाउ ॥४॥

अर्थ—संसारमें जो वस्तुएँ मंगलकारी समझी जाती हैं, उनकी यथार्थतापर विचार करनेके बाद एक यही बात शेष रह जाती है कि भगवान्के भक्तोंका गुणानुवाद सरीखी और कोई वस्तु अनोखी नहीं है। भगवद्भक्तोंका गुणगान करते-करते भगवान्के भक्त मंगलमय हो जाते हैं; उन्हें अपने कल्याणके लिए अन्य किसी सांसारिक शुभ-साधनोंकी जरूरत नहीं रहती ॥२॥

सब साधु-सन्तोंने तथा वेद, पुराण, इतिहास आदि शास्त्रोंमें निश्चित रूपसे यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि भजन और उपासना के लिए या तो हरि या हरिके दास ही सबसे श्रेष्ठ हैं ।।३।।

स्वामी श्रीअग्रदेवजीने (नाभाजीको) आज्ञा दी कि भक्तोंके चरित्रोंका वर्णन करो; क्योंकि संसार-समुद्रसे पार उतरनेका इससे सुगम अन्य कोई उपाय नहीं है ।।४।।

श्रीनाभाजीने 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु' इस प्रथम दोहेमें वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण करते हुए प्रतिपाद्य विषयको भगवत-तत्वसे अभिन्न बतलाया है । दूसरे दोहेंमें उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाको स्पष्ट किया है जोकि हरिजनों (भगवद्भक्तों) का यशोगान करना है । तीसरे दोहेंमें भक्तोंकी महिमाको ही सर्वश्रेष्ठ ठहराते हुए उसके गुणानुवाद करनेका कारण बताया है कि यह सिद्धान्त उनका स्वयंका नहीं है, वरन् वेदपुराण आदि धर्मशास्त्रों द्वारा समर्थित है । चौथे दोहेंमें ग्रन्थकारने इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय हरिजनोंका यशोगान करना ही बतलाया है, और पहले दोहेमें प्रेम-लक्षण-भक्तिको प्रयोजन तत्व कहा है, यहाँ भी यह समझ लेना चाहिए कि प्रेमा-भक्तिका लाभ आनुषंगिक है । प्रधान साध्य भगवद्भक्तोंकी भक्तिका अनुशीलन करना ही है । उनके भजनकी रीतिका अनुभव करनेसे ही भक्तिका जन्म होता है और भक्ति से ही प्रभुकी प्राप्ति होती है ।

आगेके चार कवित्तोंमें प्रियादासजीने ग्रन्थकर्ता श्रीनाभाजीके जीवनमें घटित घटनाओंके द्वारा सन्तोंकी अहैतुकी कृपाका प्रभाव दिखलाया है तथा उनके जीवन चरित्रका संक्षिप्त वर्णन भी किया है।

भक्ति-रस-बोधिनी

मानसी स्वरूप में लगे हैं अग्रदास जू वै, करत बयार नाभा मधुर सँभार सौं ।
चढ़चो हो जहाज पै जु शिष्य एक, आपदा में करचो ध्यान, खिच्यौ मन छुटचौ रूपसार सौं ।।
कहत समर्थ गयौ बोहित बहुत दूरि आओ छवि पूरि, फिर ढरौ ताही ढार सौं ।
लोचन उघारि कै निहारि, कह्यो बोल्यौ कौन ? वही जौन पाल्यौ सीथ दै दै सुकुँवार सौं ।।१०।।

अर्थ—श्रीअग्रदासजी महाराज एक बार मानसी उपासनामें लीन थे और नाभाजी महाराज धीरे-धीरे उनको पंखा झल रहे थे । इधर यह हो रहा था, उधर अग्रदासजी महाराजका एक शिष्य जो कि जहाज द्वारा समुद्र-यात्रा कर रहा था, (जहाजके एकाएक रुक जानेसे) आपत्ति में फँस गया । उस शिष्यने तुरन्त अपने गुरु श्रीअग्रदासजीका स्मरण किया और (उसका फल यह हुआ कि) श्रीअग्रदासजीका ध्यान रूपके सार (सुन्दरतम) भगवान्‌की एकान्त मानसी-सेवासे हट गया । अपने गुरुके इस ध्यान-विक्षेपको नाभाजी न सह सके और (अपने पंखेकी हवाकी शक्ति से रुके जहाजको समुद्रमें चालू करते हुए) गुरुजीसे बोले—"महाराज, वह जहाज तो (अपनी यात्रामें) बहुत दूर निकल गया; आप अब अपने चित्तको उसी रूप और शोभाके धाम (भगवान्) में लगा दीजिए ।" (यह सुनते ही) श्रीअग्रदासजीने अपनी आँखें खोलीं और सामने किसीको बैठा हुआ देखकर पूछा—"कौन बोला ?" (श्रीनाभाजीने हाथ जोड़कर उत्तर दिया)—वही (आपका दास) जिसे सीथ-प्रसाद दे-देकर आपने पाला है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

अचरज दयो नयो यहाँ लौ प्रवेश भयो, मन सुख छयो जान्यो संतन प्रभाव को ।
आज्ञा तब दई यह भई तोपै साधु कृपा, उनहीं को रूप गुण कहो हिय भाव को ॥
बोल्यो कर जोरि याको पावत न ओर छोर, गाऊँ रामकृष्ण नहीं पाऊँ भक्ति दाव को ।
कही समुझाइ वोइ हृदय आइ कहैं सब, जिन लै दिखाइ दई सागर में नाव को ॥११॥

अर्थ—(श्रीनाभाजीके उपर्युक्त कथनको सुनकर गुरु अग्रदासजीको) एक नवीन आश्चर्यका अनुभव हुआ (और वह मनमें सोचने लगे कि) इसकी यहाँ तक पहुँच होगई कि यहाँ बैठे ही बैठे दूरस्थित समुद्रमें होनेवाली घटनाका प्रत्यक्ष कर लिया । भक्तकी इस महिमाको देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और वह जान गए कि यह सब सन्तों के प्रसाद-ग्रहण करनेका ही प्रभाव है कि (नाभा को ऐसी सूक्ष्मदृष्टि प्राप्त हुई) । तब श्रीअग्रदासजीने आज्ञा दी—"वत्स ! तुझपर साधुओंकी कृपा हुई है, अब तू उन्हीं भक्त-सन्तोंके गुण, स्वरूप तथा हृदयके भावोंका गान कर" नाभाजीने यह आज्ञा सुनी तो हाथ जोड़कर बोले—"(महाराज !) मैं भगवान् रामकृष्णके चरित्र तो गा सकता हूँ, पर सन्तों के चरित्रों का आदि-अन्त पाना तो बड़ा कठिन है, (क्योंकि वह तो अत्यन्त रहस्यमय है) भला मैं भक्तिके रहस्यको कैसे समझ सकता हूँ !" तब स्वामी अग्रदासजी ने उन्हें समझाते हुए कहा—"वही (भगवान् तुम्हारे हृदयमें प्रविष्ट होकर भक्तों के तथा अपने) सब रहस्योंको खोलकर बतायेंगे, जिन्होंने समुद्रमें जहाजको तुम्हें दिखा दिया"

इस कवित्तमें टीकाकारने यह बताया हैं कि श्रीनाभाजीको इस ग्रन्थको लिखनेकी प्रेरणा कहाँसे और किस परिस्थितिमें मिली । इस कवित्तसे यह भी स्पष्ट है कि ग्रन्थ रचनेसे पूर्व ही श्रीनाभाजीको अलौकिकवस्तु प्राप्त होगई थी और उसका कारण था, साधु-सन्तोंमें दृढ़ निष्ठा तथा एकान्त भावसे सेवा.

भक्ति-रस-बोधिनी

हनूमान् वंश ही में जनम प्रशंस जाको, भयो दृगहीन सो नवीन बात धारिये ।
उमरि बरष पाँच, मानि कै अकाल आँच, माता वन छोड़ि गई विपति विचारिये ॥
कील्ह औ अगर ताहि डगर दरश दियो, लियो यों अनाथ जानि, पूछी सो उचारिये ।
बड़े सिद्ध जल लै कमण्डलु सों सींचे नैन, चैन भयो खुले चख, जोरी को निहारिये ॥१२॥

अर्थ—श्रीनाभाजीका पूर्व नाम नारायणदास था । इनका जन्म प्रशंसनीय हनुमान् वंशमें हुआ था । (आपके जन्म-सम्बन्धमें) एक आश्चर्यजनक बात यह थी कि आप नेत्र-हीन (अन्धे) पैदा हुए थे । जब आप केवल पाँच वर्षके थे तभी दुर्भिक्ष आगके समान चारों ओर फैल गया । यह देखकर माता उन्हें वनमें छोड़कर चली गईं और अब नाभाजी पर एक नई विपत्ति आई । संयोगसे [जब नाभाजी वनमें भटक रहे थे] कील्हदेव और अग्रदासजी दो महात्मा उसी रास्ते से निकले और नाभाजीको इस प्रकार अनाथ जान कर [उनके माता-पिताके सम्बन्ध में] कई बातें पूछीं, जिनका कि उन्होंने

उत्तर दिया । तब कील्हदेवजीने अपने कमण्डलुसे जल लेकर नाभाजी की बन्द आँखोंमें छींटे दिए । महात्माओंकी कृपासे नाभाजीको नेत्र-लाभ हुआ और अपने सामने दो महात्माओंको खड़ा देखकर उन्हें बड़ी शान्ति मिली ।

श्रीप्रियादासजीने इस कवित्तमें उन प्रश्नोत्तरोंका वर्णन नहीं किया जो श्रीकील्हदेव और बालक नारायणदासजी(श्रीनाभाजी)के बीच हुए थे । ये सन्त-समाजमें निम्नलिखित रूपसे प्रचलित हैं–

श्रीकील्हदेवजी—"बालक ! तुम कौन हो ?"

बालक—"महाराज, मुझे नहीं मालूम मैं कौन हूँ" (उत्तरका गूढ़ तात्पर्य यह था कि संसारके सब प्राणी जिन तीन गुण और पाँच तत्वोंसे बने हैं, उनसे मैं किसी प्रकार भिन्न नहीं हूँ । ऐसे में मैं क्या बताऊँ कि मैं कौन हूँ ।)

श्रीकील्हदेव—"तुम कहाँसे आये हो ?

बालक—"यह तो भूल है" (तात्पर्य यह कि जीव अपनी भूल (अज्ञान) के कारण कर्मानुसार अनेक जन्म लेता है, यहाँ किसका आना और किसका जाना ? वास्तव में आवागमन—जैसी कोई वस्तु ही नहीं ।)

श्रीकील्हदेव—"तुम्हारा पालनकर्त्ता कौन है ?"

बालक—"जो सबका पालक है, वही मेरा भी है ।"

कहते हैं, बालक नाभाके इन वचनोंसे श्रीकील्हदेव इतने प्रभावित हुए कि उसे तत्काल अपने साथ ले गए ।

भक्तमालके टीकाकार श्रीसीतारामशरण भगवान्दास रूपकलाने श्रीनाभाजीके वंशके सम्बन्धमें कई मान्यताओंका उल्लेख किया है । उनमेंसे एकके अनुसार तैलङ्ग (दक्षिण) में गोदावरीके निकट 'श्रीरामदास' नामक एक महाराष्ट्र ब्राह्मण थे । यह हनुमानजीके अंशावतार माने जाते थे और उच्च कोटि के राम-भक्त थे । हनुमान-वंशके आदि पुरुष यही थे ।

भक्तमालके एक टीकाकार राजा श्रीरघुराजसिंहजीके मतके अनुसार श्रीनाभाजी लांगूली ब्राह्मण थे । कोई-कोई उन्हें डोमवंशज बताते हैं । उत्तर भारतमें डोमोंकी गणना शूद्रोंमें की जाती है, लेकिन कुछ विद्वानों ने इसका प्रतिवाद करते हुए लिखा है कि पश्चिम मारवाड़ आदि देशोंमें डोम कत्थकोंके समकक्ष माने जाते हैं और प्रतिष्ठा की दृष्टिसे देखे जाते हैं ।

श्रीनाभाजीके निम्नजातीय होनेके सम्बन्धमें एक कथा इस प्रकार कही जाती है—एक बार राजा मानसिंहजी अग्रदासजीसे अत्यन्त अनुनय-विनय करके श्रीनाभाजीको अपने साथ ले गए जिससे उनके सदुपदेशोंका लाभ उठा सकें । श्रीनाभाजीमें राजाकी अपूर्व श्रद्धा और विश्वास देखकर राज-दरबारके पण्डितों को बड़ी ईर्ष्या हुई । उन्हें परास्त करने तथा नीचा दिखानेके लिए पण्डित-लोग प्रायः तरह-तरहके गूढ़ प्रश्न किया करते थे, परन्तु श्रीनाभाजी इनका उत्तर अत्यन्त सरलतासे दे दिया करते थे । कभी-कभी ऐसा भी होता था कि श्रीनाभाजीके उत्तर पण्डितोंके लिए इतने गूढ़ हो जाते थे कि वे उन्हें समझ ही नहीं पाते थे । यह देखकर पण्डितोंने मिलकर श्रीनाभाजी का मान-भङ्ग करनेकी एक योजना बनाई और उसके अनुसार एक दिन राजाकी उपस्थितिमें उनसे प्रश्न किया—"आपने अपने जन्मसे किस जाति और कुलको अलंकृत किया है ?" श्रीनाभाजीने उनका मनोगत अभिप्राय समझ कर कहा—

मृतक चीर जूठनि वचन, काग विष्ठ अरु मित्र।
शिव निरमालय आदि दै, ये सब वस्तु पवित्र॥

अर्थात्—कफन, गायके बछड़ेकी जूठन, कौवाका विष्ठा, मित्र और शिव-निर्माल्य—ये सब पवित्र माने जाते हैं।

श्रीनाभाजीके कहनेका तात्पर्य यह था कि जिस प्रकार कौवाकी बीटसे उत्पन्न पीपलका पेड़ सब मनुष्योंका पूजनीय होता है, उसी प्रकार किसी भी कुलमें उत्पन्न भागवत जाति-पाँतिकी कसौटीसे ऊँचा होता है।

कई एक पौराणिक दन्त-कथाएँ भी इस सम्बन्धमें प्रचलित हैं। कहते हैं, श्रीनाभाजी ब्रह्माके अवतार थे। ब्रह्माजीने एक बार व्रजके सब गोपालों और बछड़ोंको अपहरण कर लिया था। इस पर श्रीकृष्णने अपनी मायासे वैसे ही अन्य ग्वाल-बालों तथा वत्सोंकी सृष्टि करदी और बहुत समय तक व्रजके लोगोंको इसका पता ही नहीं लगा कि ब्रह्माजी उन्हें चुराकर ले गए हैं। बादमें ब्रह्माजीने जब श्रीकृष्ण भगवान्‌से अपने अपराधके लिए क्षमा-याचना की, तब श्रीकृष्णने उन्हें केवल इतना ही डण्ड दिया कि तुम कलियुगमें नेत्र-हीन होकर जन्म लोगे, लेकिन यह अन्धपन केवल पाँच वर्ष तक ही रहेगा। बादमें महात्माओंकी कृपासे तुम्हें दिव्य-ज्योति प्राप्त होगी। इस प्रकार नाभाजी ब्रह्माजीके ही अवतार थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

पायँ परि आँसू आये, कृपा करि संग लाये, कील्ह आज्ञा पाइ मंत्र अगर सुनायो है।
'गलतै प्रगट साधु-सेवा सों विराजमान, जानि अनुमान ताही टहल लगायो है॥
चरण प्रछालि संत सीत सों अनन्त प्रीति, जानी रस-रीति, ताते हृदय रंग छायो है।
भई बढ़वारि ताकौ पावै कौन पारवार, जैसो भक्तिरूप सो अनूप गिरा गायो है॥१३॥

अर्थ—श्रीनाभा स्वामी [दोनों महात्माओंका ऐसा अनुग्रह देखकर] उनके पैरों पर गिर पड़े और उनकी आँखोंसे आँसू वह निकले। महात्मागण श्रीनाभाजीको अपने साथ 'गलता' नामक स्थानमें ले आये। तब श्रीकील्हदेवकी आज्ञा पाकर श्रीअग्रदेवने उन्हें मंत्रोपदेश दिया। 'गलता' के आश्रममें जिस साधु-सेवाका प्राकट्य हुआ था। उसे दृष्टिमें रखते हुए और श्रीनाभाजीकी साधु-सेवाका अनुमान लगाकर उन्हें यह काम सौंपा गया कि वे सन्तोंकी टहल [सेवा] किया करें। [इस प्रकार] सन्तोंके चरण धोते-धोते तथा उनके उच्छिष्टको प्रसादरूपमें ग्रहण करते-करते श्रीनाभाजीका महात्माओंके सीथ [जूठन] से अनन्त प्रेम होगया और उन्हें भक्ति-रसका आस्वाद मिल गया। परिणाम यह हुआ कि उनका अन्तःकरण अनूठे प्रेम-रंगमें सराबोर होगया और इस दिशामें वह इतने ऊँचे चढ़गए कि साधारण जनको उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। भक्तिके इस स्वानुभूत स्वरूपका ही वर्णन उन्होंने 'भक्तमाल' में अपनी अनुपम वाणीसे किया है।

सन्तोंकी जूठन ग्रहण करके ज्ञान और भक्ति प्राप्त करनेके अनेक उदाहरण भागवत सम्प्रदाय के ग्रन्थोंमें मिलते हैं। नारदजी अपना पूर्व इतिहास बताते हुए श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म भुंक्ते तदपास्तकिल्विषः ।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतसस्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते ॥ [भा० १।६।२५]

अर्थात्—ब्राह्मणोंसे आज्ञा पाकर मैंने उनका उच्छिष्ट जब ग्रहण किया, तब मेरे सब पाप दूर हो गए। शुद्ध हृदयसे जो इस प्रकार साधु-सेवामें प्रवृत्त होता है, उसकी ही आत्म-ज्ञानमें रुचि पैदा होती है।

मूल [छप्पय]

जय जय मीन बराह, कमठ, नरहरि, बलि-बावन,
परशुराम, रघुवीर, कृष्ण कीरति जगपावन ।
बुद्ध, कलक्की, व्यास, पृथू, हरि, हंस, मन्वन्तर,
यज्ञ, ऋषभ, हयग्रीव, ध्रुव बरदैन, धन्वन्तर ॥
बद्रीपति, दत्त, कपिलदेव, सनकादिक करुणा करौ,
चौबीस रूप लीला रुचिर श्रीअग्रदास उर पद धरौ ॥५॥

अर्थ—मीन, वाराह आदि चौबीस अवतारोंकी मंगलाचरणके रूपमें जयजयकार करने के उपरान्त ग्रन्थकार उन्हें सम्बोधन करते हुए प्रार्थना करते हैं कि आपके चौबीसों रूपावतार जो विभिन्न लीलाओंके कारण बड़े मनोरम हैं, मेरे हृदय-पटल पर अपने चरण-कमलों को विराजमान करें और साथ ही गुरु अग्रदासजीके चरण भी मेरे हृदयपर स्थित रहें । अथवा-चौबीसों अवतारों की सुन्दर लीलाएँ मेरे हृदयमें बसकर उसे प्रकाशमान करें ।

अवतारोंका संक्षिप्त परिचय

उपर्युक्त छप्पयमें उल्लिखित चौबीस अवतारोंमें मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह, बामन, परशुराम और रामचन्द्र त्रेतायुगके हैं, श्रीकृष्ण और व्यास द्वापरके, बुद्ध और कल्कि कलियुगके और शेष सत्ययुगके हैं। मीन-रूप धारण करके भगवान्ने शंखासुरका बध किया और सत्यव्रतको प्रलयकाल दृश्य दिखाया। वाराह ब्रह्माकी नासिकासे प्रकट हुए। उन्होंने हिरण्याक्षको मारकर पाताललोकमें-से पृथ्वीका उद्धार किया। कमठावतारमें समुद्र-मन्थनके समय मन्दर-गिरिको अपनी पीठपर धारण किया और देवताओंकी सहायता की। नृसिंहावतारमें हिरण्यकशिपुको मारकर अपने भक्त प्रह्लादकी रक्षा की। परशुराम अवतारमें भगवान्ने रेणुकाके गर्भसे पैदा होकर बाईस बार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे शून्यकर ब्राह्मणोंको दान दिया। दशरथ-सुत श्रीरामने मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें रावणका संहार किया और अपने प्रिय भक्त विभीषणको लंकाके राज्यपर प्रतिष्ठित किया। द्वापरमें देवकी और वसुदेवके घरमें प्रकट होकर दुष्टोंका दमन किया और गीताके रूपमें कर्मयोग तथा भक्तियोगके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया एवं व्रज-प्रदेशमें अपनी मधुर-लीलाओं द्वारा रसिक भक्तोंको आह्लादित किया। बुद्धावतारमें अहिंसा, जीवदया और सर्वभूत-मैत्रीका उपदेश देकर समस्त विश्वमें एक नवीन धार्मिक क्रान्तिको जन्म दिया। कल्कि-अवतार घोर कलियुगके आनेपर जिला मुरादाबादके संभल नामक ग्राममें होगा, ऐसा पुराणोंमें लिखा है। महर्षि पाराशरके पुत्र व्यास सत्यवतीके गर्भसे पैदा हुए। वेदोंका विभाजन करनेके कारण उन्हें 'वेद-व्यास' कहा जाता है। आप अठारह पुराणोंके रचयिता

माने जाते हैं। हरि-अवतारमें हरिणीसे पैदा होकर आपने ग्राहको मारा। हंसावतारमें ब्रह्माजीको ज्ञानोपदेश किया, मन्वंतर-रूपमें लाखों दुष्टोंका संहार कर संसार को आनन्द प्रदान किया और यज्ञ-रूप आकूती मातासे जन्म लेकर वैदिक मार्गका उद्धार किया। ऋषभ अवतारमें तत्व-ज्ञानका उपदेश दिया और हयग्रीवके रूपमें लुप्त हुए वेद-ज्ञानका पृथ्वी पर फिर प्रचार किया। एक पैरपर खड़े होकर सहस्रों वर्षों तक तपस्या करनेवाले बालक ध्रुवको अक्षय धाम देनेवाले विभु स्वयं शंखचक्र-गदाधारी होकर प्रकट हुए। धन्वन्तरि-अवतारमें अमृत-कलश लेकर संसारको अनेक प्रकारकी आधि-व्याधियोंसे मुक्त किया। नर-नारायण-रूपमें बद्रिकाश्रममें तपस्या की। कर्दम-देवहूतिके पुत्र कपिल-ऋषि सांख्य-दर्शनके प्रवर्तक हुए और संसारको एक नया तत्व-ज्ञान दिया। सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन सृष्टिके सर्वप्रथम ज्ञानीके रूपमें अवतरित हुए।

इस स्थल पर यह शंका की जा सकती है कि श्रीनाभाजीके गुरुदेवने इन्हें भक्तजनोंका गुणगान करने की जब आज्ञा दी थी, तब प्रारम्भमें चौबीसों अवतारोंकी वन्दना करनेकी संगति कैसे बैठ सकती है। इसके कई एक उत्तर दिए जाते हैं। पहला यह कि साधारणतः वैष्णव-महात्मागण जब प्रदेश जाते हैं तब अपने इष्टदेवका बटुआ सदैव अपने पास रखते हैं। किसी स्थान पर पहुँचते ही सर्व-प्रथम वे ठाकुरमन्दिरमें अपना बटुआ रखते हैं। उस बटुआको छोड़कर कोई महात्मा कहीं नहीं जाता। इस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता है कि यदि कोई भक्तजनोंकी लीलाको अपने हृदयमें धारण करना चाहता है, तो सबसे पहले उन भक्तोंके उपास्य इष्टदेवकी मूर्ति और उसकी रुचिरलीलाको हृदयंगम करना होगा। अभिप्राय यह है कि भक्तोंकी जाति एक होनेपर भी उनके उपास्य एक नहीं है, अतः भक्तोंके चरित्रोंको समझनेके लिए उनके आराध्य देवताओंको पहले समझना होगा।

दूसरा समाधान इस प्रकार है कि भक्तोंके हृदयोंमें जैसे भगवान् निवास करते हैं, उसी प्रकार भक्तोंके हृदय भी तद्रूप अपने-अपने इष्टदेवोंके चरणोंमें सदा संलग्न रहते है। प्रायः देखा जाता है कि यदि हम किसीके प्रेमीको प्रसन्न करना चाहते हैं, तो यह आवश्यक होजाता है कि हम उस प्रेमीके सामने उसके प्रेमपात्रकी प्रशंसा करें। प्रस्तुतमें सन्त-लोग, जिनके चरित्रोंका गान करना है, प्रेमी हैं और मीनादिक अवतार उनके प्रेमपात्र हैं। चौबीस अवतारोंकी वन्दना करनेसे उन सबकी रुचिर-लीला श्रीगुरुदेवकी कृपासे अपने हृदयमें प्रकाशित होती है और तब उनके भक्तजनोंके चरित्र भी प्रकाशित हो जाते हैं।

तीसरा उत्तर यह है कि सन्तोंके चरित्रोंको सुननेके लिए श्रोताओंका होना भी आवश्यक है, अतः श्रीनाभाजीने मीनादि अवतारोंको श्रोताओंके रूपमें प्रारम्भमें उपस्थित किया है।

चौथा समाधान जोकि अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है, यह है कि चौबीस अवतारोंकी वन्दना द्वारा श्रीनाभा-स्वामीने यह दिखलाया है कि जैसे मीन, वराह आदि तिर्यक योनिके जीव हैं, किन्तु यही जब अंशावतारके रूपमें उपस्थित होते हैं, तब लोक-वन्दनीय हो जाते हैं उसी प्रकार कबीर, रैदास आदि नीच-जातिमें उत्पन्न होनेपर भी भगवान्के भक्त होनेके कारण वन्दनीय हैं, क्योंकि इनमें भगवान्की एक ही ह्लादिनी शक्ति श्रीभक्ति-महारानीका उसी प्रकार पूर्ण प्रकाश होता है जैसा कि उच्च कुलोंमें उत्पन्न अन्य भक्तोंमें। अतः इन भक्तोंसे किसी प्रकार घृणा नहीं करनी चाहिए। जो ऐसा करते हैं उन्हें शास्त्रोंमें नारकी व्यक्ति कहा गया है। लिखा भी है—

अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिः
विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः।

श्रीविष्णोर्नाम्नि मंत्रे सकलकलुषहे शब्द-सामान्य बुद्धि,
विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधी र्यस्य वै नारकी सः ॥

—विष्णुकी प्रतिमाको जो पत्थर समझता है, गुरुओंको साधारण मनुष्यकी तरह देखता है, कलियुगके पापोंको मेटनेवाले विष्णु अथवा वैष्णवोंके चरणोदकको केवल जल मानता है, विष्णुके निज-मन्त्रको साधारण शब्द-समुदायके रूपमें ग्रहण करता है और सब देवताओंके अधिपति विष्णुमें जो अन्य देवोंकी अपेक्षा विशेषता नहीं देख पाता, वह नारकी है।

असलमें अवतारोंमें प्राकृत देह-बुद्धि होनेसे मीन-वराह आदि तिर्यक् जातिके अवतारों तथा श्रीरामकृष्ण आदि मानव-अवतारोंमें भिन्नताकी प्रतीति होती है जोकि अज्ञानमूलक है। इस संबन्धमें यह जान लेना चाहिए कि अवतारोंके तीन हेतु हैं—(१) अनुग्रह, (२) निग्रह और (३) धर्म-संस्थापन। जीव-जातको अवतार-लीलाओं-द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करना तथा आदर्श चरित्रों-द्वारा विविध आदर्श उपस्थित करना अवतारका उद्देश्य होता है। उदाहरणके लिए, भगवान्के भक्तगण ज्ञान-विज्ञानको नाश करनेवाले कामको जीत सकें, इसलिए श्रीकृष्णने योगमाया द्वारा रास-लीलाका दृश्य उपस्थित करके देवताओं तकको भी कृतार्थ करदिया और वे भगवन्निष्ठ होगए—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा या श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥ [श्रीमद्भागवत १०-३३-३७]

—भक्तोंपर कृपा करनेके लिए मनुष्य-देह धारणकर भगवान् ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिन्हें देख-सुनकर मनुष्य उनके चरणोंमें अनुराग करने लगता है।

ऊपर कहे गए अवतारोंके उद्देश्योंपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न अवतारोंमें विभिन्न देह धारण करना भी भगवानकी क्रीड़ामात्र है। सब देह नित्य हैं और जन्म-मरण से रहित हैं। कहा भी है—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

जिते अवतार सुख-सागर न पारावार, करैं विस्तार लीला जीवन उधार कौं।
जाही रूप माँझ मन लागै जाको, पागै ताही, जागै हिय भाव वही, पावै कौन पार कौं ॥
सब ही हैं नित्त, ध्यान करत प्रकाशै चित्त, जैसे रंक पावैं वित्त, जो पै जानै सार कौं।
केशनि कुटिलताई ऐसे मीन सुखदाई, अगर सुरीति भाई, बसौ उर हार कौं ॥१४॥

अर्थ—भगवान्के जितने भी अवतार हैं, सब सुखके अनन्त समुद्र हैं। प्रत्येक अवतारमें लीलाका विस्तार जीवोंके उद्धार (कल्याण) करनेके लिये होता है। भक्तका मन भगवान्के जिस रूपके प्रति आकृष्ट होजाता है, उसीमें रम जाता है और तब उसी अवतारसे सम्बन्धित भावनाएँ हृदयमें तरंगित होने लगती हैं। (चूँकि अवतार अनन्त-सुख-समुद्र हैं, अतः) इन भाव-रूपी तरंगोंका भी कोई पारावार नहीं। सब अवतार नित्य हैं (उनमें जन्म-मरणकी बुद्धि रखना भ्रम है) और ध्यान करने मात्रसे ही हृदयको आनन्द और ज्ञानसे प्रकाशित कर देते है। तब उस भक्तको ऐसा अनुभव होता है जैसे

दरिद्रको धन मिल गया हो। लेकिन इस प्रकारके अमूल्य और सुखद अनुभव तभी होते हैं जब सार पदार्थका कुछ ज्ञान हो; अन्यथा नहीं। जिस प्रकार केशोंकी कुटिलता (टेढ़ा होना) भी उनका भूषण माना जाता है, वैसे ही मीन, वाराह आदि तिर्यक् शरीर भी भगवान्के सम्बन्धसे भक्तोंको सुख ही प्रदान करते हैं। श्रीनाभाजीकी अभिलाषा है कि सब अवतारोंके प्रति भगवत्ताकी एक ही भावना रखनेकी जो श्रीअग्रदासजीकी रीति है वही उनके हृदयमें भी हार बनकर विराजमान हो—अर्थात् श्रीनाभा-स्वामीजी भी भगवान् के सब अवतारोंके प्रति इष्ट-बुद्धि रक्खें।

टीकाकारने "जैसे रंक पावे वित्त, जोपै जाने सार को"—इन पंक्तियों द्वारा यह व्यंजना की है कि अवतारका रहस्य न जाननेसे उसमें भाव-भक्ति नहीं होती है और भावके बिना भगवान् हृदयमें प्रकट भी नहीं होते; क्योंकि वह तो भावके आधीन हैं। कहा है—

भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः।

इस बातको स्पष्ट करनेके लिए उदाहरण दिया गया हैं उस दरिद्रका जिसे मणि हाथ पड़ जाती है। यदि वह मणिका मूल्य नहीं जानता, तो वह उसके लिए पत्थरका टुकड़ा-मात्र है।

श्रीतुलसीदासजीने भी इसी भावको व्यक्त करते हुए लिखा है—

'नाम निरूपन नाम जतन ते, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते।'

मूल (छप्पय)

अंकुस, अंबर, कुलिस, कमल, जव, धुजा, धेनुपद।
संख, चक्र, स्वस्तिक, जंबूफल, कलस, सुधाह्रद॥
अधचन्द्र, षटकोन, मीन, बिन्दु, ऊरधरेखा।
अष्टकोन, त्रैकोन, इन्द्रधनु, पुरुष-विशेषा॥
सीतापति-पद निज बसत एते मंगलदायका।
चरण-चिन्ह रघुवीर के सन्तन सदा सहायका॥६॥

अर्थ—अंकुश, वस्त्र, वज्र, कमल, जौ, ध्वजा, गायका खुर, शंख, चक्र, साँतिया, जामुन का फल, घड़ा, अमृत-सरोवर, आधा चन्द्रमा, षट्कोण, मछली, ऊर्ध्वरेखा, अठकोण, त्रिकोण, इन्द्रधनुष, पुरुषकी आकृति—ये बाईस चिह्न सीतापति श्रीरामचन्द्रजी के चरणोंमें सदा विराजमान रहते हैं। ये चिह्न भक्तोंका कल्याण करनेवाले तथा उन्हें आनन्द देनेवाले हैं।

कई महात्माओंके मतमें ये चरणचिह्न अड़तालीस होते हैं, कुछ अठारह रेखाओंका ही वर्णन करते हैं और कुछ केवल सात का। गोस्वामी तुलसीदासजीने तो केवल चार चिह्नोंका ही उल्लेख किया है—ध्वज, वज्र, अंकुश और कमल। श्रीनाभाजीने जिन बाईस चिह्नोंकी वन्दनाकी है उनमें

अंकुश, अंबर, वज्र, कमल, जौ, ध्वजा, चक्र, स्वस्तिक, उर्ध्वरेखा, अष्टकोण और पुरुष—ये ग्यारह दाहिने चरणके हैं और शेष वाम चरण के।

भक्ति-रस-बोधिनी

सन्तनि सहाय काज धारे नृप राम राज चरण सरोजनि में चिन्ह सुखदाइये।
मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताके लिये अंकुस लै धार्‌यौ हिय ध्याइये॥
ऐसे ही कुलिस पाप पर्वत के फोरिबे को भक्ति निधि जोरिबे को कंज मन ल्याइये।
जो पै बुधवन्त रसवन्त रूप सम्पति में करि लै विचार सब निसि दिन गाइये॥१५॥

अर्थ—राजराजेश्वर भगवान् श्रीराघवेन्द्रने साधु-सन्तोंकी सहायता करनेके लिए सुख देने वाले इन चिन्होंको अपने चरण-कमलोंमें धारण किया है। मन-रूपी मदमस्त हाथी किसी प्रकार भी वशमें नहीं आता है, इसीलिए आपने अंकुशका चिन्ह धारण किया है, जिससे भक्तगण उसका हृदयमें ध्यानकर मनपर विजय प्राप्त कर सकें। इसी प्रकार पापोंके पहाड़को ढहानेके लिए कुलिश (वज्र) के चिन्हका तथा भक्तिके अमूल्य खजानेको जोड़नेके लिए कमलके चिन्हका ध्यान करना चाहिए। जो बुद्धिमान रसिक भक्त हैं, उन्हें इसी प्रकार श्रीहरिके चरणकमलोंके चिन्होंकी आकृति पर विचार करके उन सभीके गुणोंका गुणगान करना चाहिए। भाव यह है कि भगवान्‌के चरण-कमलोंमें जिन यन्त्रोंकी रेखाएँ हैं, उन यन्त्रोंका ध्यान और गुणगान करके भक्तिके बाधक तत्वों को दूर कर दीजिए।

मूल (छप्पय)

विधि, नारद, संकर, सनकादिक, कपिलदेव, मनु भूप।
नरहरिदास जनक, भीषम, बलि, शुकमुनि, धर्मस्वरूप॥
अंतरंग अनुचर हरिजू के जो इनकौ जस गावै।
आदि अन्त लौं मंगल तिनको श्रोता वक्ता पावै॥
अजामेल परसंग यह निर्णय परम धर्म के जान।
इनकी कृपा और पुनि समझै द्वादस भक्त प्रधान॥७॥

अर्थ—(१) ब्रह्मा, (२) नारद, (३) शिव, (४) सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार (५) कपिलदेव, (६) मनु, (७) प्रह्लाद, (८) जनक, (९) भीष्म, (१०) बलि, (११) शुकमुनि, और (१२) धर्मस्वरूप यमराज। ये (बारहों भक्त) भगवान्‌के अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक हैं। इनका गुणगान जो करते हैं उन महाभक्तोंके यशको कहनेवाले तथा सुननेवाले आदि-अन्ततक मंगल (सुख) पाते हैं। (द्वादश भक्तोंके यशोगान करने-वाले तो महाभक्त की पदवीसे विभूषित होते ही हैं, पर उन महाभक्तोंका यशोगान

करनेवालोंका स्थायी कल्याण होता है।) अजामिलकी घटनाके प्रसंगमें 'धर्मराज' ने अपना यही निर्णय दिया है कि भागवत-धर्मका रहस्य ये बारहजन ही उत्तम रीतिसे जानते हैं।) इन सबकी कृपा होनेपर दूसरे लोग भी भागवत-धर्मका रहस्य समझ सकते हैं।

इस छप्पयके 'अजामेल परसंग' से प्रारम्भ होने वाले पाँचवे चरणका अर्थ करनेमें कई टीकाकार उलझनमें पड़ गए हैं। ❀श्रीरूपकलाजी लिखते हैं—"परम धर्मके निर्णयमें श्रीअलामिलजीका प्रसंग जानने योग्य है। यह अर्थ कुछ युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। अजामिलके प्रसंगमें यमराजने धर्मका निर्णय नहीं किया है, वलिक सर्व-प्रधान भक्तोंका और उनमें अपने आपको भी शामिल किया है। यमराजकी उक्ति इस प्रकार है—

स्वयंभूर्नारदः शंभुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलि वैयासकिर्वयम्॥ (श्रीमद्भागवत ६-३-२०-२१)

अच्छा यह होगा कि दूसरे चरणके अन्तमें आये हुए 'धर्म-स्वरूप' शब्दको नारदका विशेषण न मानकर बारहवें भक्त (यमराज) का नामोल्लेख माना जाय। श्रीरूपकलाजीने ऐसा न कर 'परम धर्म' के ऊपर १२ अङ्क बनाया है। ऐसा करने पर यथातथा अर्थ-संगतिके बिठाये जाने पर भी यह छप्पय समाप्तपुरनात्तत्व नामक साहित्यिक दोषसे ग्रस्त हो जाता है।

श्रीब्रह्माजी

भगवान्‌के उपर्युक्त द्वादश भगवदाचार्योंमें श्रीब्रह्माजीका नाम सर्व-प्रथम आता है। सृष्टिके प्रारम्भमें प्रलय-सिन्धुमें सोनेवाले भगवान् विष्णुकी नाभीसे एक दिव्य-ज्योतिर्मय कमल उत्पन्न हुआ था। उसी कमलकी कर्णिकासे श्रीब्रह्माजी प्रकट हुए। जब उन्होंने आँखें खोलीं तो चारों ओर सागरकी उत्ताल लहरोंके अतिरिक्त वे और कुछ भी न देख सके। अन्तमें वे उस कमलके नालके अन्दर उतर गए और वहाँ सहस्रों वर्षों तक उसके रहस्यका पता लगाते रहे, किन्तु कुछ भी पता न लगनेपर निराश होकर उन्हें ऊपर कमलपर लौट आना पड़ा। जब वे कमलके फूल पर वापस आगये तो सहसा उन्हें—'तप-तप' ऐसा सुनाई पड़ा। उस आदेशके अनुसार उन्होंने तप करना आरम्भ कर दिया, तपके द्वारा, चित्तके स्थिर हो जानेपर उन्हें अन्तःकरणमें शेषशायी भगवान् विष्णुके दर्शन हुए। ब्रह्माजीने उनका स्तवन करना प्रारम्भ किया। उसी समय भगवान् ने उनसे कहा—

"ब्रह्माजी! विज्ञानके सहित जो मेरा परम गोपनीय ज्ञान है, उसे रहस्यों एवं अङ्गोंके साथ मैं आपको बतलाता हूँ, आप उसे ग्रहण करें। मैं जिस प्रकारका हूँ, मेरा जो भाव है, जो रूप है, जो गुण है और जो कर्म है उन सबका यथावत तत्वज्ञान आपको मेरी कृपासे हो जाय।"

❀ देखिये नवलकिशोर प्रेस, लखनऊसे प्रकाशित भक्तमाल पृष्ठ संख्या ६०

इतना कहनेके बाद भगवान्ने ब्रह्माजीको चार श्लोकोंमें मूल-भागवतका उपदेश दिया जिनमें भगवान्ने अपना स्वरूप, ज्ञान, लीला, भाव, गुण आदिके बारेमें बतलाया है।

इसके बाद उन्होंने यह भी कहा कि परम समाधिके द्वारा इस मतपर आधारित रहनेसे कल्पोंतक सृष्टि करने पर भी आप कभी भी मोहित नहीं होंगे।

इस प्रकार ब्रह्माजीको श्रीविष्णुभगवान्से जो तत्व-ज्ञान प्राप्त हुआ था उसीका उपदेश उन्होंने देवर्षि नारदको उनकी प्रार्थनापर किया और भगवान्की कृपासे अपने हृदयमें स्फुरित चौबीस अवतारोंके चरित्रोंको भी सूत्र-रूपमें सुनाया। इसी ज्ञान और लीला-चरित्र को महर्षि नारदसे श्रीव्यासजीने प्राप्त किया और उन्होंने उसे अठारह सहस्र श्लोकमें वर्णन करके श्रीमद्भागवतके रूपमें अपने पुत्र श्रीशुकदेवजीको सिखाया। इस क्रमसे श्रीमद्भागवतके रूपमें लोकमें उस दिव्य और अनन्त ज्ञानका विस्तार हुआ जो श्रीविष्णुभगवान्के द्वारा प्रजापति ब्रह्माजीको प्राप्त हुआ था। इसीका सविस्तार वर्णन श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धके अध्याय नौ में किया गया है।

देवर्षि नारद

देवर्षि नारद भक्तिके प्रधानाचार्य हैं। उनका कार्य हमेशा श्रीहरिका गुणानुवाद करना तथा जीवको उनके चरण-कमलोंकी ओर प्रेरित करना है। वे सदैव जन-जनके मनमें भक्तिका संचार करनेके प्रयत्नमें अपनी वीणापर श्रीश्यामा-श्यामके गुणोंका संकीर्तन करते हुए तीनों लोकोंमें विचरण करते रहते हैं।

पूर्व कल्पमें नारदजी उपबर्हण नामके एक गन्धर्व थे। एक बार ब्रह्माजीके यहाँ सभी गन्धर्व, किन्नर आदि श्रीहरिके गुण-संकीर्तनके लिए एकत्रित हुए। उपबर्हण भी वहाँ गये, किन्तु अपने रूप-सौन्दर्यके दर्पमें उन्मत्त वे अपनी सुन्दरियोंको साथ ले गये। भगवान्के गुणानुवादमें इस शारीरिक सौन्दर्य और रूपकी क्या कीमत? वहाँ तो स्त्रियोंको श्रृङ्गार-भावनासे साथ लेजाना ही बड़ा अपराध है। इसलिए उपबर्हणका यह प्रमाद देखकर ब्रह्माजीने उन्हें शूद्र-योनिमें जन्म लेने का शाप दे दिया।

महापुरुषोंका क्रोध भी कल्याणके लिए होता है, इसीलिए उस शापके फलसे वे एक ऐसी शूद्रा दासीके पुत्र हुए जो वेदवादी, सदाचारी ब्राह्मणोंकी सेवा करने वाली थी। इस दासीके बालक होने पर भी शील-समानता आदि सद्‌गुण उनमें स्वाभाविक थे। जब वह बालक पाँच वर्षका हुआ तो उसकी माँ के सम्बन्धियोंमें और कोई जीवित नहीं रह गया था। उसी समय वर्षा-ऋतु में कुछ सन्तोंने वहाँ अपना चातुर्मास्य

बिताया। बालककी माता उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगी रहती थी और बालक भी उनकी सेवा किया करता था तथा उन्हींका सीथ-प्रसाद खाकर उनके मुखसे भगवान्की चर्चाको बड़े प्रेमसे सुना करता था।

चातुर्मास्य समाप्त हुआ तो सभी सन्त जाने लगे। उसी समय उन्होंने उस दासीके बालकको देखा और उसके नम्रता आदि गुणों के कारण उसे भगवान्के स्वरूप का ध्यान तथा नामके जपका आदेश कर दिया।

साधुओंके चले जानेके कुछ समय बाद ही एक दिन अपने स्वामीकी गायको दुहते समय उस बालककी माताको साँप डस गया और वह मर गई। इस प्रकार माता की ममत्वमयी वत्सलता के सांसारिक बन्धनसे छूटकर वह बालक एकमात्र प्रभुके भरोसे पर रहने लगा।

वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर वह बालक भगवान्के विश्वासके बलपर आगे बढ़ता चला गया और जब एक सरोवरके किनारे पर पहुँचते-पहुँचते थक गया, तो वहाँ विश्राम के लिए रुक गया। उसने सरोवरका शीतल जल पिया और पास ही पीपलके पेड़की छायामें बैठकर सन्तों द्वारा बतलाई बिधिसे प्रभुका ध्यान करने लगा। अचानक उसके हृदयमें भगवान् प्रकट होगए और एक दिव्य ज्योतिसे उसका अन्तःकरण उद्भासित हो उठा, किन्तु वह प्रकाश बिजली की चमकके समान आते-ही-आते समाप्त भी हो गया और वह बालक उसके लिए पागलोंके समान विकल हो उठा। उसकी विकलताके कारण आकाश-वाणीने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—"इस जन्ममें तुम मुझे देख नहीं सकते हो; क्योंकि जिनका चित्त पूर्ण निर्मल है वे ही मेरे दर्शनके अधिकारी हैं। यह एक झाँकी तो मैंने कृपाकर तुम्हें इसलिए दिखलाई है कि इसके दर्शनसे तुम्हारा चित्त मुझमें लग जाय।"

नारदजीने अपना मस्तक भूमि पर झुकाकर भगवान्को प्रणाम किया और उनका गुण गाते हुए इस धरती पर विचरते रहे। समय आने पर उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया। इसके बाद उस कल्पमें उनका जन्म नहीं हुआ और कल्पान्तमें वे ब्रह्माजी में प्रविष्ट होगए। सृष्टिके प्रारम्भ में उनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके मनसे हुई। अब भगवान् जो कुछ भी करना चाहते हैं उसकी वैसी ही चेष्टा देवर्षि नारद द्वारा की जाती है।

देवर्षि नारदजीके कार्य और गुणोंका संकीर्तन कौन कर सकता है? प्रह्लादको भगवद्भक्ति का उपदेश उन्होंने गर्भमें ही किया था। माता-पिताको त्यागकर भगवान्की खोजमें निकले बालक ध्रुवको भगवान्के प्राप्त करने की उपासना और पद्धति उन्हींने ही बतलाई थी। प्रजापति-दक्षके ग्यारह सहस्र पुत्रोंको भगवान्की भक्तिके अधिकारी

समझकर उन्हें विरक्त बनाने वाले ये नारद ही थे। भगवान्‌की भक्तिमें रात-दिन छके रहने वाले नारदको यद्यपि प्रजापति द्वारा दो घड़ीसे अधिक किसी भी स्थान पर न ठहर सकनेका शाप मिला था, किन्तु इसे भी प्रभुकी कृपामानकर उन्होंने वरदान समझा।

सप्तदश पुराणोंकी रचनाके बाद भी अशान्त-चित्त महर्षि वेदव्यासको परमानन्द-स्वरूप श्रीनन्दनन्दनकी लोकमंगलकारी दिव्य-लीलाओंको श्रीमद्भागवतके रूपमें गायनका उपदेश देकर उन्होंने ही कृतार्थ किया था।

श्रीशिवजी

त्रिमूर्तिमें से आप एक हैं। एक ओर जहाँ शिव सृष्टिका संहार करते हैं, वहाँ दूसरी ओर जगत्‌के कल्याणकर्ता होनेसे आपका नाम 'शिव' है। टीकाकार श्रीप्रियादासजीने श्रीशिवजीके सम्बन्धमें निम्नलिखित तीन कवित्त कहे हैं—

भक्ति-रस-बोधिनी

द्वादश प्रसिद्ध भक्तराज कथा-भागवत अति सुखदाई, नाना विधि करि गाये हैं।
शिव जू की बात एक बहुधा न जानै कोऊ, सुनि रस सानै हियौ भाव उरझाये हैं॥
सीता के वियोग राम बिकल बिपिन देखि, शंकर निपुन सती बचन सुनाये हैं।
कैसे ये प्रवीन ईश? कौतुक नवीन देखौं, मनेउ करत अंग वैसे ही बनाये हैं॥२०॥

अर्थ—भागवत आदि पुराणोंमें बारह भक्तराजोंकी सुख देनेवाली कथायें अनेक प्रकारसे कही गई है, लेकिन शिवजीके सम्बन्ध की एक घटना प्रायः बहुतेरे लोगोंको नहीं मालूम। इस अपूर्व आख्यानको सुनकर हृदय भक्तिजन्य आनन्दसे विभोर हो उठता है और (श्रीरामचन्द्रजी में शिवकी एकान्त निष्ठाको देखकर) आश्चर्यसे एक विचित्र उलझनमें फँस जाता है। श्रीरामचन्द्रजीको सीताके वियोगमें दुःखी होकर वन-वन भटकता हुआ देखकर सतीजीने प्रवीण शंकरजी से कहा—'यह कैसे सर्वज्ञ परमात्मा हैं? (जो स्त्रीके वियोगमें साधारण व्यक्तिकी भाँति घबड़ा उठे हैं।) यह तो आज एक नवीन कौतुक देखनेमें आरहा है!" (इस पर सतीजी श्रीरामचन्द्रजीकी परीक्षा लेनेको उद्यत होगई और) शिवजीके बहुत मना करने पर भी सतीजीने सीताका रूप धारण कर लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

सीता ही सो रूप वेष लेश हू न फेरफार, रामजू निहारि नेकु मन में न आई है।
तब फिरि आय कैं सुनाय दई शंकर को, अति दुख पाय बहुविधि समझाई है॥
इष्ट कौ स्वरूप धरचौ, ताते तनु परिहरचौ, परचौ बड़ो सोच मति अति भरमाई है।
ऐसे प्रभु भाव पगे, पोथिन मैं जगमगे, लगे मोकौं प्यारे, यह बात रीझि गाई है॥२१॥

अर्थ—श्रीसतीजीका वेष बिलकुल सीताजीका जैसा था—तनिक भी कहीं अन्तर नहीं था। श्रीरामचन्द्रजीने उसे देखा, लेकिन उनके मन पर उसका कुछ भी असर नहीं हुआ। तब श्रीसतीजी ने यह सब शिवजीको सुना दिया। सुनकर श्रीशिवजीको बड़ा

कष्ट हुआ और उन्होंने तरह-तरह से उन्हें समझाया और अन्तमें कहा—'तुमने मेरे इष्ट-देवता, स्वामिनी श्रीसीताजीका रूप धारण किया, अतः मैंने तुम्हारे शरीरमें पत्नी-भाव छोड़ दिया।' इस पर श्रीसतीजी बड़ी चिन्तामें फँस गईं और उनकी बुद्धि भ्रममें पड़ गई। (श्रीशिवजी की आज्ञानुसार सतीजीको यह शरीर छोड़ना पड़ा।) प्रभु शिवजीका हृदय रामभक्तिमें इस प्रकार सराबोर है। पुराण आदि ग्रन्थोंमें उनकी भक्ति-गाथा अब भी लोगोंको चमत्कृत कर देती है। टीकाकार श्रीप्रियादासजीको शिवजी अत्यन्त प्रिय लगते हैं, इसीलिए उन्होंने रीझ-रीझकर इस आख्यानको छन्दोबद्ध किया है।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले मग जात उभै खेरे शिव दीठि परे, करे परनाम, हिय भक्ति लागी प्यारी है।
पारवती पूछैं किये कौन को जू? कहो मोसौं, दीसत न जन कोऊ, तब सो उचारी है॥
बरस हजार दस बीते तहाँ भक्त भयो, नयो और ह्वै है दूजी ठौर बीते धारी है।
सुनिकै प्रभाव हरिदासनि सौं भाव बढ़्यौ, रढ़्यौ कैसे जात, चढ़्यौ रंग अति भारी है॥२२॥

अर्थ—एक बार श्रीशिव और पार्वतीजी दोनों जारहे थे कि रास्तेमें शिवजीको गाँवके दो-खेरे (टीले) दिखाई दिये। उन्होंने उन दोनों टीलोंको प्रणाम किया, क्योंकि उनके हृदयको भक्तोंकी भक्ति बड़ी प्यारी लगती है। इस पर श्रीपार्वतीजीने पूछा—"प्रभो! आपने यह प्रणाम किसको किया? कृपया मुझे बतलाइए। यहाँ प्रत्यक्षमें तो कोई व्यक्ति दिखाई नहीं देता।' इस पर शिवजीने उत्तर दिया—"दस हजार वर्ष पहले (इनमें से एक टीलेपर) एक भक्त रहते थे और वह जो दूसरा टीला है, उस पर इतना ही समय बीत जानेपर भविष्यमें एक और भक्तराज निवास करेंगे।" यह सुनकर हरिभक्तोंके प्रति पार्वतीजीके हृदयका अनुराग और भी बढ़ गया। इस अनुरागका वर्णन कैसे किया जा सकता है, क्योंकि उन पर (पार्वतीजी पर) तो भक्तिका गहरा रंग चढ़ गया था।

सनकादि

ब्रह्माजीके संकल्पसे उत्पन्न चार कुमार—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार भक्तिमार्गके मुख्याचार्य हैं। पहिले ब्रह्माजीने उन्हें सृष्टि-विस्तारमें लगाना चाहा, किन्तु उनकी स्वाभाविक रति श्रीहरिका नाम-संकीर्तन तथा उनके गुण-गानमें थी, अतः पिता की उस आज्ञाको न मान कर राजसी और तामसी प्रवृत्तियोंसे दूर ये चारों कुमार भगवान्के यशोगानमें ही लवलीन रहने लगे। वे भगवान्की लीलाओंका वर्णन करते और सुनते, इसमें उन्हें बड़ा आनन्द आता था। इनकी वाणी हमेशा 'हरिः शरणम्' का जाप करती रहती थी।

ये सनकादि कुमार देशकालके बन्धनोंसे मुक्त हैं। हमेशा ये पाँच वर्षकी अवस्था में रहकर त्रिलोकीमें किसी भी स्थानपर जा सकते हैं। कभी श्रीहरिके गुण-गान सुननेके लिए ये श्रीशङ्करजीके पास जाते हैं, तो कभी सहस्र-मुखसे उनकी लीलाओंका वर्णन सुननेके लिए पाताल-लोकमें श्रीशेषजीके पास। इनका जीवन हरिमय है। मुखसे भगवान्का नामोच्चारण, हृदयमें भगवान्का ध्यान, बुद्धिसे भगवान्का चिन्तन और कानोंसे उनकी रसमयी लीलाओंका श्रवण! कभी-कभी वे पृथ्वीपर भी पधारते हैं। महाराज पृथुको तत्त्व-ज्ञान इन्होंने ही दिया था। नारदजीने भी इन्हींसे श्रीमद्भागवतका श्रवण किया था।

एक बार विष्णुलोकके द्वारपालोंने इनका अपमान किया था, तो इन्होंने उन्हें शाप दिया जिसके कारण जय-विजयको तीन योनियोंमें राक्षसी-शरीर धारण करना पड़ा।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने इनके सम्बन्धमें लिखा है—

ब्रह्मानन्द सदा लवलीना। देखत बालक बहु कालीना॥
रूप धरे जनु चारिहु वेदा। समदरसी मुनि विगत विभेदा॥

श्रीकपिलदेव

भगवान्ने तत्त्व-ज्ञानका उपदेश करनेके लिए सृष्टिके आरम्भमें स्वायम्भुव मन्वन्तरमें प्रजापति कर्दमके यहाँ उनकी पत्नी देवहूतिसे कपिल-रूपमें अवतार ग्रहण किया। कपिलदेवने सबसे पहले अपनी माताको तत्त्व-ज्ञान और भक्तिका उपदेश दिया, जिसके द्वारा उन मनुपुत्री देवहूतिका स्थूल-शरीर भी दिव्य होगया।

माताको जिस ज्ञानका उपदेश कपिलमुनिने किया था उसका बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें है। इस स्कन्धमें अनेक दोषोंसे पूर्ण इस मानव-जीवनको क्लेशयुक्त बतलाया गया है। जब व्यक्तिको इसकी निस्सारता और दुखोंका ज्ञान होता है, तो उसका भगवान्के चरणोंमें अनुराग होने लगता है। तब भगवान्के नामका जप, उनकी मंगलमयी लीलाओंका ध्यान और उनके दिव्य गुणोंका कीर्तन करनेमें मन लगता है। विना भगवान्की शरण लिए हृदय शुद्ध नहीं होता, इसलिए मनुष्यको बड़ी सावधानीसे संसारके विषय-भोगोंसे अपने मनको हटाकर उसे भगवान्के चरणोंमें लगाना चाहिए। यह भगवान् कपिलके उपदेशका बहुत ही संक्षिप्त सार है।

माताको उपदेश देकर कपिलजी, आज जहाँ गंगासागर-संगम है, वहाँ चले गये। समुद्रने उन्हें स्थान दिया। सागरके भीतर वे अब तक तपस्या कर रहे हैं। भगवान् कपिल भागवतधर्मके मुख्य बारह अवतारोंमें हैं। ये भारतीय सांख्यदर्शनके

प्रवर्तक हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार सत्व, रज, तम-त्रिगुणात्मिका अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्व उत्पन्न होता है। महत्तत्वसे अहंकार, अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ और पाँच महाभूत और पञ्चीकृत महाभूतोंसे यह पृथ्वी और इसपर के विविध रूप। वास्तवमें भगवान् कपिल मुनिका 'सांख्यशास्त्र' जीवको सांसारिक कष्टोंसे मुक्ति दिलानेवाला है।

श्रीमनु

जब ब्रह्माजीने देखा कि उनकी मानसिक सृष्टि नहीं बढ़ रही है, उन्होंने अपने शरीरसे एक दम्पति उत्पन्न किये। उनके दाहिने अङ्गसे मनु तथा बाएँसे उनकी पत्नी शतरूपा प्रकट हुईं। सृष्टि-विस्तारके लिए जब मनुने स्थलकी माँगकी तो ब्रह्माजीकी प्रार्थनापर भगवान्ने वाराह-रूप धारण करके पृथ्वीका उद्धार किया। पृथ्वीका उद्धार हो जानेपर मनु अपनी पत्नीके साथ तप करने लगे; क्योंकि तप या भगवद्-भजन आदि से बासनामयी चित्त-वृत्तियोंके विना पवित्र किए सन्तानोत्पत्ति नहीं करनी चाहिए, अन्यथा वासनासे उत्पन्नकी गई सन्तानमें वासनाही प्रधान होती है। जब मनुमहाराज को भगवान्के दर्शन होगए, तब उनकी आज्ञासे उन्होंने प्रजा-विस्तार करना शुरू किया और अपनी पत्नी शतरूपासे प्रियव्रत एवं उत्तानपाद नामके दो पुत्र और आकूति, देवहूति तथा प्रसूति नामकी तीन कन्याएँ उत्पन्न कीं। बादमें इन स्वायम्भुव मनु-महाराजकी सन्तानसे ही पृथ्वी पर समस्त मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई। महाराज मनुके दो पुत्रोंसे प्रथम प्रियव्रत परम भगवद्भक्त हुए। उन्होंने ही इस वसुन्धराको सप्तद्वीपवती बनाया। दूसरे पुत्र उत्तानपादके ध्रुवजी-जैसे अनन्य भक्त पैदा हुए। मनुकी कन्याओंमें आकूतिका विवाह महर्षि रुचिसे हुआ। देवहूतिका महर्षि कर्दमसे और प्रसूतिका ब्रह्माके मानस-पुत्र दक्षसे। महाराज मनुने अपनी सन्तानको कल्याण-पथ पर चलानेके लिए 'मानव-धर्मशास्त्र' का उपदेश किया जो आज भी मनुस्मृतिके नामसे उपलब्ध है।

सुदीर्घ काल तक राज्य भोगनेके बाद भी जब उन्हें चिदानन्दकी प्राप्ति नहीं हुई, तो वे अपनी पत्नी शतरूपाके साथ तपस्या करनेके लिए चले गए। एकान्त शान्त-स्थानमें दोनोंने जाकर कठोर तपस्या प्रारम्भ कर दी। देवता वरदान देनेके लिए आए और मनुसे वर माँगनेको कहा, किन्तु महाराज मनुकी अभिलाषा तो शोभाधाम प्रभुके दर्शनकी थी, इसलिए वे अविचलितरूपसे कठोरतम तपस्या करते रहे। उनका शरीर सूख गया और अस्थिमात्र ही जब शेष रहगया, तो आकाश-वाणीमें प्रभुने उनसे वरदान माँगनेको कहा। उस असाधारण आकाश-वाणीने जब मनु और शतरूपाके हृदयमें प्रवेश किया, तो एक दिव्य आनन्दसे उनका अन्तःकरण खिल उठा और उन्होंने भूमिपर मस्तक

नवाकर भगवान्से प्रार्थनाकी कि हे भगवान् ! अगर आप हमपर प्रसन्न हैं, तो हमें प्रत्यक्ष आकर दर्शन दीजिए, हम भगवान् शङ्करके हृदयमें निवास करनेवाले आपके श्रुतिमय-रूपको जी-भरकर देखना चाहते हैं ।

भक्तवत्सल भगवान्ने मनुकी प्रार्थना मान ली और अपनी पराशक्ति श्रीलक्ष्मीजी के साथ उन दम्पतीको दर्शन देकर कृतार्थ किया । श्रीहरिकी रूप-माधुरीको देख कर उनकी अतृप्त आँखें अपलक हो उस दिव्यरूप-सागरमें निमग्न हो गईं । भगवान्ने अब प्रकट होकर फिर वरदान माँगनेको कहा, तो मनु अत्यन्त संकोचसे हृदयमें सँजोई अमर अभिलाषाको प्रभुके सामने रखते हुए बोले—"दयानिधान ! आप परम उदार हैं, आपके लिए अदेय कुछ भी नहीं है, किन्तु फिरभी मुझे उसे माँगनेमें बड़ा संकोच होरहा है ।" भगवान्ने जब बार-बार निःसंकोच माँगनेको कहा, तो माँगा—'आपके समान पुत्र मुझे प्राप्त हो ।' सुनकर भगवान् हँस पड़े उस निश्छल याचनापर और स्वयं ही मनुका पुत्र होना स्वीकार किया । शतरूपाने भी यही वरदान माँगा और कहा—जो भक्त आपको परम प्रिय हैं, उनको जो सुख, जो भक्ति और जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही हमें भी कृपा करके प्रदान कीजिए ।

भगवान् वरदान देकर चले गए । त्रेतामें जब महाराज मनुने अयोध्याके राजा दशरथके रूपमें और शतरूपाने रानी कौशल्याके रूप में इस धरतीपर जन्म लिया, तब भगवान् भी रामके रूपमें अयोध्यामें अवतरित हुए और राक्षसोंका नाश कर सन्तोंको आनन्द दिया ।

श्रीभक्त प्रह्लाद

पृथ्वीका उद्धार करते समय भगवान्ने वाराह अवतार धारणकर हिरणाक्षको मार दिया था, इससे उसका भाई बड़ा क्रोधित हुआ और अपने भाईका बदला लेनेके लिए हिमालयपर जाकर घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त किया कि—'मैं अस्त्र-शस्त्रसे, किसी प्राणीसे, रातमें, दिनमें, जमीनपर, आकाशमें कहीं भी न मरूँ ।'

इधर जब दैत्यराज तपस्या कर रहा था तभी देवताओंने राक्षसोंपर आक्रमण करके उन्हें परास्त कर दिया और देवराज इन्द्र हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूको बंदिनी बनाकर ले जाने लगा । मार्गमें देवर्षि नारद मिले । जब नारदने पूछा कि इस परम साध्वी पतिव्रताको बन्दी बनाकर कहाँ ले जारहे हो ? तो इन्द्रने कहा—"ऋषिराज ! यह कयाधू गर्भिणी है । इसकी सन्तान होनेपर उसका वध कर दिया जायगा ।" नारदने बतलाया कि इसके गर्भमें भगवान्का परमभक्त है; न तो वह माराही जा सकता है

और न वह तुम्हारे लिए भयका ही कारण है; अतः तुम इसे छोड़ दो ।"

देवर्षिकी बात सुनकर इन्द्र कयाधूको छोड़कर अपने लोक को चले गए और अनन्याश्रिता वह कयाधू देवर्षिके आश्रममें रहने लगी। नारदजी उसे भगवद्-भक्तिका उपदेश दिया करते थे, जिसे गर्भस्थ बालक प्रह्लादने धारण किया और जन्म लेनेके बाद भी उसे भूले नहीं।

हिरण्यकशिपु तपस्याके बलसे परम बली हो गया और उसने समस्त देवलोकको जीत लिया। जब प्रह्लादका जन्म हुआ तो वे मुनिके भगवान्‌की भक्तिके उपदेशको भूले नहीं; बल्कि पाठशालामें जाकर पिताकी आज्ञाके विपरीत श्रीहरिके भजन और राम-नाम संकीर्तनका उपदेश अपने अन्य साथियोंको भी करने लगे। एक बार प्रह्लाद घर आए तो पिताने उन्हें अपनी गोदीमें लेकर पूछा—"बेटा ! बताओ तो, तुमने इतने दिनसे क्या पढ़ा ?" प्रह्लादने कहा—"पिताजी यह असत्-संसार दुःख-स्वरूप है, इसलिए मनुष्यको इसके भोगोंमें न फँसकर परमानन्द-स्वरूप श्रीहरिका स्मरण और भजन करना चाहिए।" हिरण्यकशिपु जोरसे हँस पड़ा और गुरु-पुत्रोंसे कहा—"आप इस प्रह्लादको सुधारिए, इसे कुलोचित धर्म, अर्थ, कामका उपदेश दीजिए।" गुरु-पुत्रोंने प्रह्लादको अपने यहाँ लाकर पूछा—"तुम्हें यह उल्टा ज्ञान किसने दिया है ?" तो प्रह्लादने उत्तर दिया—"गुरुदेव ! यह मैं हूँ और यह दूसरा है, यह तो अज्ञान है। यह सारा संसार इसी अज्ञानमें भूला हुआ है। जिस-किसी भक्तपर उन कृपालुकी दया होती है, तभी उनकी ओर प्रवृत्ति होती है। मेरा हृदय भी प्रभुकी कृपासे उनकी ओर स्वयं ही आकर्षित होगया है।"

गुरुपुत्रोंने उन्हें डाँटा, धमकाया और अनेकों प्रकारकी नीतियोंकी शिक्षा देने लगे। यद्यपि भक्त-प्रह्लादको यह सभी ज्ञान नहीं रुचता था, फिर भी उन्होंने गुरुओंकी कभी अवज्ञा नहीं की और न उस विद्याका अपमान ही किया। जब गुरु-पुत्रोंने प्रह्लाद को पूर्ण-शिक्षित समझा तब हिरण्यकशिपुके पास उन्हें ले गए। दैत्यराजने फिर अपने पुत्रसे पूछा—"बतलाओ बेटा ! तुम्हारी समझमें अब सबसे उत्तम ज्ञान क्या है ?" भक्ति-हृदय प्रह्लादजीने उत्तर दिया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म - निवेदनम् ॥

—विष्णु भगवान्‌के गुणोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण, उनके चरण-कमलोंकी सेवा, उन प्रभुकी पूजा, उनके प्रति दास्य और सख्य-भाव तथा अपने-आपको उनके समर्पण कर देना, यही सबसे उत्तम ज्ञान है, यही सबसे उत्तम कार्य है और यही मानव-

जीवनका फल है। सम्पूर्ण क्लेशों और अनर्थोंका नाश तभी होता है जब बुद्धि भगवान्के श्रीचरणोंमें लगे, किन्तु बिना भगवान्के भक्तोंकी चरण-रजके मस्तकपर धारण किए इस प्रकारकी निर्मल बुद्धि होती ही नहीं है।

पाँच वर्षका नन्हा-सा बालक त्रिभुवन-पति दैत्यराजके सामने किस प्रकार उसके शत्रुका पक्ष लेकर निडरतासे सत्यपर अटल था ! सभी शान्त, मौन और चित्रांकित हो गए। उसी समय दैत्यराज काँप उठा, क्रोधसे उसकी आँखें जलने लगीं और गरजकर बोला—"जाओ, मार दो इस दुष्टको, इसकी बोटी-बोटी अलग कर दो !" सभी दैत्य एक साथ सशस्त्र उस बालक पर टूट पड़े, पर वह निर्भय होकर प्रभु-स्मरण करता हुआ खड़ा रहा। हथियार उनके शरीरका स्पर्श पाकर नष्ट हो गए, पर प्रह्लादके अङ्गोंमें कहीं खरोंच भी नहीं आई।

हिरण्यकशिपु केवल इतने से ही शान्त न हुआ। उसने प्रह्लादको मारनेके लिए कोई भी उपाय अछूता न छोड़ा। वे मद-मस्त हाथीके पैरोंके नीचे डाले गए, पर गज-राजने उठा कर उन्हें मस्तकपर बिठा लिया। उनको साँपोंकी कोठरीमें छोड़ा गया, पर वे विषधर सामान्य केंचुएके समान हो गए। शेर उनके सामने आकर कुत्तेके समान पूँछ हिलाने लगा। विष उनके पेटमें जाकर अमृत हो गया। पहाड़ोंसे फेंके जानेपर भी वे अक्षत रहे; सागरकी गम्भीरता भी उनके लिए हानि नहीं पहुँचा सकी। होलिका उन्हें लेकर आगमें प्रवेश कर गई। उसे गर्व था अपने उस वस्त्र का जिसके धारणसे अग्निका प्रभाव उसके शरीरपर नहीं होता था; पर आगकी भीषण लपटोंमें वह जलकर राख हो गई और भक्तवर प्रह्लाद मानों पुष्पोंकी सेजसे उतर कर निकल आए। उन्होंने फिर दैत्यराजको समझाते हुए कहा—"पिताजी ! आप भगवान्से द्वेष करना छोड़ दें। आपने देखा नहीं, भगवान्के प्रभावके सामने सभी प्रयत्न असफल रहे ? आप भी श्रीहरि का स्मरण करें, ध्यान करें और उनके आश्रयमें जाकर निडर हो जायँ। वे प्रभु बड़े दयालु हैं।" दैत्यराज क्रोधसे काँप उठा और प्रह्लादसे बोला—"अरे मूर्ख ! तू किसके बलपर मेरा अपमान करता है ? कहाँ है तेरा वह सहायक ? कहाँ है तेरा वह हरि ? मैं अभी तेरी गर्दन काटता हूँ ! देखूँ, कौन आता हैं तेरी रक्षा करनेके लिए ?" प्रह्लाद ने नम्रता-पूर्वक कहा—"पिताजी ! वह प्रभु तो इस अखिल सृष्टिमें सब जगह रमा हुआ है। कण-कण और अणु-अणुमें उसकी सत्ता विद्यमान है। वे मुझमें भी हैं, आपमें भी हैं, इस खड्गमें भी हैं और आपके पासवाले इस खम्भेके भीतर भी हैं।

'खम्भेके भीतर भी !' दैत्यराज चौंका। वह अपने अज्ञानके कारण इस रहस्य-

मय सत्यको समझ न सका। उसने अपनी गदा उठाई और पूरे बलसे खम्भेके मध्यमें जमा दी। खम्भा बीचसे फट गया और उसके मध्यसे एक भयंकर आकृतिवाले नृसिंहजी प्रकट हुए। उनके तेजसे दिशाएँ जल उठीं। वे गर्जते हुए हिरण्यकशिपु पर झपटे और उस अप्रतिम शक्तिशालीका, ब्रह्माके वरदानकी समस्त मर्यादाओंका ध्यान रखते हुए, प्रभुने संहार कर दिया।

दैत्यराज मर गया, पर नृसिंहजीका क्रोध शान्त न हुआ। वे अब भी गर्जना कर रहे थे। देवताओंमें किसीकी भी शक्ति नहीं थी कि उनके सामने जायँ। स्वयं ब्रह्माजी और शंकरजी भी दूर खड़े थे। अंतमें ब्रह्माजीने भक्तवर प्रह्लाद को ही उनके पास भेजा। प्रह्लाद निडरता-पूर्वक जाकर भगवान्‌के चरणोंसे लिपट गए। भगवान्‌ने अपने प्रियभक्त को छातीसे लगा लिया और उसे गोदी में बिठाकर बोले—

क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत् क्वेमाः प्रमत्तकृत-दारुण-यातनास्ते।
नालोकितं विषममेतदभूतपूर्वं क्षंतव्यमङ्ग यदि मे समये विलम्बः॥

(नृसिह पुराण)

बेटा प्रह्लाद! मुझे आनेमें बहुत देर हो गई, तुझे अनेकों कष्ट सहने पड़े; तू मुझे क्षमा कर दे। भगवान्‌के श्रीमुखसे ऐसी वाणी सुनकर भक्तवर प्रह्लादका हृदय भर आया और अनेकों प्रकारसे उनकी प्रार्थना करने लगे। भगवान्‌ने उनसे वर माँगनेको कहा तो प्रह्लादजीने कहा—"भगवन्! क्या आप मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं? जो सेवक अपनी सेवाके बदले वरदान चाहता है, वह सेवक नहीं, व्यापारी है। अगर फिर भी आप मुझे वरदान देना ही चाहें तो मुझे यही दान दीजिए कि कभी भी मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामना पैदा न हो तथा मेरे पिता और गुरु-पुत्र जो आपके विरोधी थे, उनको भी आप निष्पाप कर दीजिए।" भगवान्‌का हृदय आनन्दसे भर गया। वे बोले—"प्रह्लाद! जिस वंशमें मेरा भक्त पैदा होता है वह वंशका वंश अपने सभी प्रकारके पापोंसे छूट जाता है, फिर तुम्हारे पिता और अन्य दैत्योंका तो कहना ही क्या!" भगवान्‌ने यह वर भी दिया कि मैं कभी भी प्रहलादकी सन्ततिका बध नहीं करूँगा। इस प्रकार अपने वंशको कल्प-पर्यन्त उन्होंने अमर बनाया और बादमें अपने परम-भागवत पौत्र बलिके साथ सुतलमें चले गए जहाँ वे तभीसे भगवान्‌की आराधना में मग्न रहते हैं।

योगि-राज राजा जनक

विदेहराज भक्त श्रीजनकजीकी उत्पत्ति ऋषियों द्वारा महाराज निमिके शरीर-मन्थनसे हुई है। मातासे उत्पन्न न होनेके कारण इनका नाम विदेह पड़ा और मन्थनसे

पैदा होनेके कारण ये मैथिल पुकारे जाने लगे। इसीलिए इस वंशमें आगे होने वाले राजा भी मैथिल और जनक कहलाए। भुवन-वन्द्या भगवती सीताके पिता महाराज सीरध्वजको भी जनक नामसे पुकारनेका यही कारण है। सीरध्वज जनक सर्वगुण-सम्पन्न, असाधारण ज्ञानी, धर्म-धुरंधर और नीति-निपुण महान् पण्डित थे; किन्तु इन सबसे अधिक थे वे श्रीरामके चरण-कमलोंके सच्चे स्नेही। उनकी पुत्री सीताका विवाह भी श्रीरामचन्द्रजीके साथ हुआ था, यह प्रसिद्ध ही है।

पुराणोंमें जनक 'राजर्षि' की उपाधिसे विभूषित किए गये हैं। आप अपने युगके महान् ब्रह्मज्ञानी और योगिराज थे। अध्यात्म ज्ञान प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले ऋषि-महर्षि आपके दरबारमें आया करते थे। बृहदारण्यकोपनिषद्‌में राजा जनकके ब्रह्मज्ञानसे संबंधित अनेकों आख्यान दिए गए हैं।

भीष्म-पितामह

भक्तप्रवर भीष्म महाराज शन्तनुके पुत्र थे। भगवती भागीरथी श्रीगंगाजी इनकी माता थीं। भीष्मजीका पहला नाम 'देवव्रत' था। एक बार इनके पिता शन्तनुकी दृष्टि दाशराजकी पालिता पुत्री सत्यवती पर पड़ी। देखते ही उसके सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो गये। दाशराजने प्रस्ताव रखा कि शन्तनुकी पहली सन्तान राज्यकी अधिकारिणी न बनकर मेरी पुत्रीकी सन्तति ही राज्यका अधिकार प्राप्त करे, तभी सत्यवतीका विवाह शन्तनुसे किया जासकता है। महाराज शन्तनु न तो अपने पुत्र भीष्मका राज्याधिकार ही छीनना चाहते थे और न वे सत्यवतीके प्रति आसक्तिको ही अपने मनसे निकाल सके। फल यह हुआ कि वे सदा चिन्तित और उदास रहने लगे। जब भीष्मको यह पता लगा तो उन्होंने दाशराजसे राज्याधिारके त्यागकी प्रतिज्ञा कर ली। जब दाशराज ने यह शंका की कि भीष्मकी सन्तान राज्यके लिए झगड़ सकती है, तो भीष्मने आजन्म ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा करके उसके मनकी इस शंकाको भी निर्मूल कर दिया। इसी भीषण प्रतिज्ञाके कारण उनका नाम 'भीष्म' पड़ा। उनकी इस प्रतिज्ञासे सन्तुष्ट होकर महाराज शन्तनुने उन्हें आशीर्वाद दिया कि बेटा! आजसे मृत्यु तुम्हारे अधीन हुई। तुम जब मरना चाहोगे तभी मरोगे, अन्यथा मृत्यु तुम्हारा कुछ भी नहीं विगाड़ सकेगी। भीष्मजीने अपनी प्रतिज्ञा का पालन भी किया। उनके धनुर्विद्याके गुरु परशुरामजी जब काशिराजकी कन्या अम्बाके विवाहकी प्रार्थना लेकर आए तो उन्होंने कहा—"गुरुदेव! मैं स्वर्गके सिंहासनके लोभसे भी सत्य को नहीं छोड़ सकता, फिर एक सामान्य राजकुमारीकी तो बात ही अलग रही।" इसी प्रसंगमें गुरु-शिष्यमें

संग्राम भी हुआ, किन्तु भीष्मजी अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे और देवताओं की प्रार्थना पर परशुरामजीको ही शान्त होना पड़ा। माता सत्यवतीने दोनों पुत्रोंके मर जानेके बाद भीष्मजीसे सिंहासन पर बैठनेको और विवाह करनेको जब कहा, तो उन्होंने यही कहा कि संसारके समस्त जड़-जंगम चाहे अपनी प्रकृति बदल दें, परन्तु भीष्म एक बार की गई प्रतिज्ञाको निभाना ही सीखा है, छोड़ना नहीं।

यहाँ एक शंका उठती है कि ऐसे महापुरुष और धर्मात्मा होने पर भी भीष्मके कौरवोंकी ओर से लड़नेका क्या कारण था? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि वे आश्रयदाताकी सहायता करना अपना धर्म समझते थे, इसीलिए महाभारतके युद्धमें वे कौरवों की ओरसे लड़े थे, किन्तु दुर्योधनकी अन्यायमूलक नीतिकी सदाही निन्दाकी। धर्म-प्रिय होनेके कारण ही उन्होंने अपने मरनेका उपाय पाण्डवोंको बतला दिया और युधिष्ठिरको अपने बधके लिए आज्ञा दी।

वे भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यभक्त थे और श्रीकृष्णका भी भीष्मके प्रति कम अनुराग नहीं था। इसीलिए बड़ें-बड़े योधाओं और महारथियोंके सामने श्रीकृष्णने अपनी प्रतिज्ञाको तोड़कर शस्त्र ग्रहण किया और अपने भक्त भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा की।

युद्ध-समाप्तिके बाद जब युधिष्ठिरका राज्याभिषेक होगया तब एक दिन युधिष्ठिर रात्रिके समय भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। उस समय श्रीकृष्ण न-जाने किसके ध्यानमें अचल बैठे थे। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा था। युधिष्ठिर ने पूछा—"प्रभो! भला आप किसका ध्यान कर रहे हैं?" भगवान् ने बतलाया—'शर-शैया पर महाराज भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, इसलिए मैं भी उनका ध्यान करनेमें लग गया था, मेरा मन भी उनके पास चला गया।' भगवान् ने फिर कहा—"युधिष्ठिर! धर्म एवं वेदके सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता, नैष्ठिक ब्रह्मचारी पितामह-भीष्मके न रहनेपर संसारसे ज्ञानका सूर्य अस्त हो जायगा। तुमको उनसे उपदेश लेना चाहिए।

भगवान्‌की आज्ञासे सभी भाई भीष्मजीके पास गये। उनकी शर-शैयाके चारों ओर अनेकों ऋषि-मुनि उनसे धर्म-चर्चा कर रहे थे। श्रीकृष्णने उनसे युधिष्ठिर आदि राजकुमारोंके लिए उपदेश करनेको कहा, तो भीष्म बोले—'महाराज आप जगद्गुरुके सामने मैं उपदेश करूँ, यह कैसे सम्भव हो सकता है? फिर इस समय तो मेरा मन भी अशान्त है। वाणोंके शरीरमें लगे होनेसे असह्य वेदना हो रही है। आप ही इन राज-कुमारोंको उपदेश देकर कृतार्थ करें।' श्रीकृष्ण भगवान् ने बतलाया—"मैं स्वयं उपदेश न करके आपसे इसलिए कह रहा हूँ कि इससे मेरे भक्त की कीर्तिका विस्तार होगा।"

भगवान्की कृपासे भीष्मका शारीरिक क्लेश शान्त होगया और उनके मनमें भी स्थिरता आगई। उन्होंने युधिष्ठिरको उपदेश दिया और सूर्यके उत्तरायण होनेपर एकसौ पैंतीस वर्षकी अवस्थामें पीताम्बरधारी भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करते हुए इस नश्वर देहको त्याग अनन्त में जा मिले।

भक्तराज बलि

महादानी बलि भक्त-प्रवर प्रह्लादके पौत्र और विरोचनके पुत्र थे। दैत्य-कुलमें उत्पन्न होनेके कारण देवताओंसे इनका स्वाभाविक वैमनस्य था, अतः बलिने पृथ्वीपर एक-छत्र राज्य स्थापित करनेके बाद स्वर्गपर आक्रमण कर दिया और देवताओंको परास्त किया। पराजित देवता ब्रह्माके पास गए और उनके साथ भगवान्की स्तुति करके उन्हें प्रसन्न किया। भगवान्ने बतलाया कि दैत्योंके साथ सन्धि करके उनकी सहायतासे समुद्रका मंथन करो और अमृत प्राप्त कर तुम लोग अमर हो जाओ। ऐसा ही हुआ; समुद्र मंथन किया गया और अमृतके उत्पन्न होनेपर भगवान्ने अपना मोहिनी-रूप बनाकर दैत्योंको मोहित किया और देवताओंको अमृत-पान कराया। इस पर बलि बहुत बिगड़ा। दानव और देवताओंमें संग्राम हुआ, पर अब देवताओंको न जीता जा सका। बलि तथा उसके दूसरे साथी इन्द्रके वज्रसे प्राणहीन हो युद्ध-स्थलमें सो गए। जीवित दैत्य सभी मृत दैत्योंको उठाकर अस्ताचल पर्वतपर ले गए जहाँ उन्हें श्रीशुक्राचार्यजीने अपनी संजीवनी विद्यासे जीवित कर दिया।

बलि ब्राह्मण और गुरुके भक्त तो पहिले ही से थे। अब उनकी आस्था और बढ़ गई। उन्होंने विश्वजित्-यज्ञ किया जिसकी पूर्ति पर अग्निने प्रकट होकर उन्हें एक दिव्य घोड़ोंसे जुता हुआ रथ, एक असाधारण धनुष, अक्षय वाण तथा अभेद्य कवच दिया। अब दैत्यराजने फिर स्वर्गपर आक्रमण करके उसे अपने अधीन कर लिया।

गुरु शुक्राचार्य चाहते थे कि बलिको ही इन्द्र बना दिया जाय, इसलिए उन्होंने उनसे अश्वमेध-यज्ञ करना प्रारम्भ कराया और निन्नानवे यज्ञ समाप्त कर लिए गए।

यह सब देख माता अदितिको बड़ा दुःख हुआ। वे अपने पति कश्यपके पास गईं और उनसे आज्ञा लेकर भगवान्की आराधना करने लगीं। भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने बतलाया कि जिससे ब्राह्मण और गुरु प्रसन्न हैं, जो धर्मका रक्षक है, उसके प्रति बल प्रयोग करना उचित नहीं। फिर भी तुमने मेरी आराधना की है, इसलिए कोई उपाय अवश्य करूँगा। तुम निश्चिन्त रहो।

भगवान् देव–माता अदितिके यहाँ वामन-रूपसे अवतीर्ण हुए। महर्षि कश्यपने

उनका यज्ञोपवीत कराया। इसके बाद वामन भगवान् राजा बलिकी यज्ञशालाकी ओर चल दिए। सौवाँ अश्वमेध-यज्ञ नर्मदाके उत्तर-तटपर गुरु शुक्राचार्यजीकी अध्यक्षता में चल रहा था। सबने देखा कि सूर्यके तेजके समान तेजस्वी ब्रह्मचारी-वेषमें एक वामन हाथमें कमण्डल और पलाश-दण्ड लेकर चले आ रहे हैं। बलिने उन्हें आसनपर बिठाया, उनकी पूजा की और उनका चरणोदक ग्रहण करके आदरपूर्वक कहा—हे महाराज! आपके आगमनसे मैं परिवार-सहित कृतार्थ होगया, अब आप अपने शुभागमनका कारण मुझे निःसंकोच बतलाइए। क्योंकि आप किसी-न-किसी उद्देश्यसे ही यहाँ आए होंगे।

वामन भगवान्ने कहा—"मुझे तीन पैरके बराबर भूमिकी आवश्यकता है।" वामनरूपको देखकर और उसकी तीन डगकी माँगको सुनकर बलिको हँसी आगई और उन्होंने अधिक भूमि लेनेके लिए जब आग्रह किया तो वामन ने केवल तीन पग ही की याचना की।

राजा बलि भूमि का संकल्प करने लगे तो शुक्राचार्यजीने उन्हें रोककर कहा—"ये ब्रह्मचारी-रूपमें साक्षात् विष्णु हैं और तीन डगोंमें सारी त्रिलोकी नाप लेनेको आये हैं। तुम अपना संकल्प पूरा नहीं कर पाओगे और उसके फलस्वरूप समस्त साम्राज्य का दान कर देने पर भी तुम्हें नरक ही भोगना पड़ेगा। परन्तु राजा बलिने उनकी बात नहीं मानी। इस पर शुक्राचार्यजीने उन्हें समस्त ऐश्वर्यके नाश होनेका शाप दे दिया।

बलिने जब संकल्प कर दिया तो वामन भगवान्ने अपना विराट-रूप धारण करके एक पदमें समस्त पृथ्वी नाप ली और दूसरा पद ब्रह्मलोक तक जा पहुँचा। भगवान्ने कहा—"बलि! तुम्हें अपने राज्यका बड़ा दर्प था। तुमने मुझे तीन पग भूमि कहाँ दी है; तुम्हारा समस्त राज्य तो केवल दो पैरोंके बराबर हुआ। अब तीसरा पग नापूँ?" परम-दानी और सत्यवादी बलिने अत्यन्त नम्रतासे कहा—"भगवन्! राज्यका अधिकारी राज्यसे बड़ा होता है, आप तीसरे पैरमें मुझे नाप लीजिए।" भगवान्ने तीसरा पद बलिके मस्तकपर रख दिया। बलि धन्य होगये। भगवान्ने बलिसे कहा—"जो अपने आपको मेरे लिए सौंप देता है मैं भी फिर उसीका हो जाता हूँ। तुमने अपने दान और त्यागसे मुझे जीत लिया है।" इसके बाद जमीनमें पड़े बलिको हाथ पकड़ कर भगवान्ने उठाया और हृदयसे लगाकर कहा—"पुत्र! तुम भी अब अपने पितामह प्रह्लादके पास जाओ और वहीं अनन्त-काल तक सुतलका राज्य करो। मैं भी आजसे सदा-सर्वदा तुम्हारे द्वारपर उपस्थित रहूँगा। तुम्हें नित्य मेरे

दर्शन होंगे। एक-सौ-एक अश्वमेध करनेके बाद तुम इन्द्र हो जाते। अगले सावर्णि मन्वन्तरमें मैं स्वयं तुम्हें इन्द्रासन पर बिठाऊँगा।"

बलि दयालु भगवान्के चरणोंपर गिर पड़े और अत्यन्त विनीत स्वरमें बोले— "भगवन्! आप दैत्योंके द्वार-रक्षक रहेंगे?" इतना कहते ही उनकी आँखोंमें प्रेमाश्रु छलक आए। शुक्राचार्यने वह यज्ञ समाप्त कराया। बलि अब अपने पितामहके साथ सुतलमें निवास करते हैं और भगवान् उनके द्वार पर विराजते हैं।

श्रीशुकदेवजी

श्रीशुकदेवजी भगवान् श्रीकृष्णके नित्य-धाममें परिकर-पार्षदोंके साथ श्रीकिशोरीजी के लीला-शुकके रूपमें रहते हैं। श्रीश्यामा-श्याम जब भक्तों और रसिकोंके ऊपर कृपाकर अपनी दिव्य लीलाओंके विस्तारके लिए व्रज-प्रदेशमें आविर्भूत हुए, तो शुक भी उस दिव्य लोकसे उड़कर भगवान् शङ्करके लोकमें पहुँचे। वहाँ भगवान् शङ्कर हिमाद्रि-तनया श्रीपार्वती को नन्दनन्दनकी वह रहस्यमयी गाथा सुना रहे थे, जिसका श्रवण-मात्र ही प्राणीको अमरत्व प्रदान करनेवाला है। श्रीशुक भी एक उत्तुङ्ग शिखरकी गोदमें बैठकर उस अमर-कथा को सुन रहे थे। सुनते-सुनते पार्वती उस माधुरीमें इतनी आत्म-लीन हो गईं कि हुंकृति का भी विस्मरण हो गया। श्रीशुकने सोचा कि अगर 'हूँ! हूँ!!' की आवाज बन्द होगई तो शङ्कर भगवान् समझेंगे कि पार्वती सो गईं और फिर उनकी यह अमर-कथा भी विराम ले लेगी। यह सोचकर वे पार्वतीके स्थान पर हुंकृति देते रहे और भगवान् शङ्कर अपनी कथा कहते गये। कुछ समय बाद भगवान् शङ्करको जब यह ज्ञात हुआ, तो वे अपना त्रिशूल लेकर उन्हें मारनेके लिए दौड़े, क्योंकि सामान्य-पक्षी उस कथाके अधिकारी नहीं है। परन्तु श्रीशुक शीघ्र ही कैलाशकी सीमासे बाहर व्यास-आश्रममें आकर मुख द्वारा उनकी पत्नीके उदरमें प्रवेश कर गए और वह अमर-कथा तथा दिव्य-ज्ञान उनके हृदयमें ज्योंके त्यों बने रहे।

श्रीशुकदेवजीके गर्भमें आनेके सम्बन्धमें इस कथाके अतिरिक्त और भी अनेकों कथाएँ शास्त्रोंमें आती हैं जो सभी कल्प-भेदसे सत्य हैं। एक स्थानपर श्रीशुकदेवजीको बादरायण श्रीव्यासकी वटिका नामकी पत्नीसे उत्पन्न हुआ कहा गया है। एक बार श्रीव्यासजी और वटिका अनन्त-ज्ञान और अपार तेजोमय-रूपवाले धैर्य-शील पुत्रकी प्राप्तिके लिए भगवान् शङ्करकी बिहार-स्थली सुमेरु-शृङ्गपर जाकर तपस्या करने लगे। यद्यपि श्रीव्यासजी महाराज स्वयं दृष्टिमात्रसे असंख्य योग्य पुत्र उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रखते थे, परन्तु पुत्र-प्राप्तिके हेतु भगवान्की कृपाके लिए तपस्या करनेके

विधानको प्रारम्भ करनेकी इच्छासे उन्होंने ऐसा करना स्वीकार किया था। श्रीव्यासजी महाराजकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने इनको वरदान देकर कृतार्थ किया और समयपर व्यास-पत्नी वटिकाने गर्भ धारण किया।

श्रीशुकदेवजी मायाके भयसे अपनी माताके गर्भमें बारह वर्ष तक रहे। उनको पता था कि भगवान्की माया बड़ी बलवती है। वह उदरसे बाहर आते ही जीवको अज्ञानके आवरणसे ऐसा ढक देती है कि उसे न तो पहली बातोंका ही ध्यान रहता है न भविष्यके सम्बन्धमें ही जानकारी रहती है। उन्होंने योग-बलसे आकार अत्यन्त सूक्ष्म बना रखा था, जिससे माताको उनके कारण किसी प्रकारका कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। बारह वर्ष बीत गए। श्रीशुकदेवजी गर्भ में ही बने रहे। उनसे भगवान् व्यास और अन्य ऋषि-मुनियोंने गर्भसे बाहर आनेके लिए आग्रह किया, किन्तु उन्होंने यही कहा– "यह जीव जब तक गर्भमें रहता है, उसका ज्ञान प्रकाशित रहता है, उसे संसारकी असारताका ध्यान रहता है, भगवान्में उसकी भक्ति रहती है और विषयोंके प्रति उसका वैराग्य रहता है; किन्तु इस मायामय संसारमें आते ही उसका ज्ञान अज्ञानमें बदल जाता है। वह भगवान्को भूल जाता है और विषयोंमें फँस जाता है। संसारके प्रति उसकी आसक्ति बढ़ जाती है और वह सद्-असद का विचार किए बिना अकर्ममें लग जाता है जो दुःख और जन्म-मरणके चक्रको गति-शील बनानेका कारण होते हैं।

देवर्षि नारदने भी शुकदेवजीसे जब बाहर आनेका आग्रह किया, तो उन्होंने उनसे भी मायाके भयकी बात कह कर संसार में आनेकी असमर्थता प्रकट की। श्रीनारदजीकी कृपासे भगवान् श्रीकृष्णने जब स्वयं जाकर श्रीशुकदेवजीको दर्शन दिए और उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि संसारमें आने पर भी मेरी माया तुम्हारा स्पर्श नहीं करेगी, तो उन्होंने इस धरती पर जन्म लिया और जन्म लेते ही वनकी ओर चल पड़े। कठिन तपस्या और लम्बी प्रतीक्षाके बाद भी पुत्रकी इस विरक्ति और वन-गमन को देखकर व्यासजी महाराज व्याकुल हो उठे और अपने नवजात सकुमार पुत्रके पीछे विकलवाणीसे 'हे पुत्र! हे पुत्र!!' पुकारते हुए भागने लगे। श्रीशुकदेवजीकी समदर्शिता और उनकी अखण्ड एकात्मकतासे प्रेरित होकर वृक्ष-वृक्ष पुत्र-प्रेममें विह्वल उन व्यासजी के पुकारने पर 'मैं शुक हूँ, मैं शुक हूँ,' ऐसा कहने लगा।

भगवान् व्यास अत्यन्त व्याकुल हो अपने प्रिय-पुत्रको पुकारते चले जारहे थे। रास्तेमें वे एक सरोवरके किनारेसे होकर जारहे थे। उस सरोवरके जलमें कुछ देवाङ्गनाएँ नग्न हो स्नान कर रहीं थीं। जब उन्होंने शुकदेवजीको आता हुआ देखा, तो वे पूर्ववत्

क्रीड़ा-विहार करती रहीं, किन्तु श्रीव्यासजीको आता देख लज्जाके कारण सरोवरसे बाहर आकर उन्होंने अपने-अपने वस्त्र पहिन लिए। व्यासजीको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा–'देवियों ! अभी इस रास्तेसे मेरा युवक-पुत्र दिगम्बर अवस्थामें गया है। आपने न तो उससे लज्जाकी और न उनका कोई विशेष ध्यान ही दिया। फिर मुझ वृद्धसे इतनी लज्जा करनेकी क्या आवश्यकता है ?'

बड़ी नम्रतासे देवाङ्गनाओंने उत्तर दिया—'महर्षे ! आप हमें क्षमा करें। आपके पूछने पर हमें इतना कहना पड़ रहा है। आप वृद्ध होने पर भी इतना तो पहिचानते ही हैं कि कौन स्त्री है और कौन पुरुष है; परन्तु आपके पुत्र श्रीशुकदेवजीको तो स्त्री और पुरुषके भेदका ही पता नहीं। इसलिए श्रीशुकदेवजीके सामने लज्जा करना और न करना बराबर है।'

उन देवियोंकी यह बात सुनकर श्रीव्यासजी लौट आए। उन्होंने सोचा, जिसे स्त्री-पुरुष का अन्तर नहीं मालूम, उसे माता-पिताके सम्बन्धका ही कब ज्ञान होगा ? परन्तु श्रीव्यासजीका शुकदेवजीके प्रति अपार स्नेह था, अतः वे ऐसी युक्ति सोचने लगे जिससे वे अपना कुछ समय अपने प्रिय पुत्रके साथ बिता सकें।

व्यासजी समझ गये कि सांसारिक आकर्षणसे शुक रीझने वाले नहीं। उन-जैसे आत्माराम भगवान्के भक्तको तो भगवान्का दिव्यरूप और मंगलमय चरित्र ही आकर्षित कर सकता है, इसलिये उन्होंने एक श्लोक बनाकर अपने शिष्योंको याद करा दिया और उनसे कहा कि तुम सब यह श्लोक वनमें उस स्थानपर जाकर सुनाना जहाँ श्रीशुकदेवजी हों। ब्रह्मचारी जब समिधा और कुशा लेने जंगलमें गए, तो श्रीशुकदेवजी को देखकर उन्होंने वह श्लोक बड़े प्रेमसे गाया—

बर्हापीडं नटवरवपुः वर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशत् गीतकीर्तिः॥

श्रीशुकदेवजीके कानोंमें जब यह मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी, तो सुन्दर रागपर मुग्ध हुई मृगीके समान वे खिंचे हुए चले आए और ब्रह्मचारियोंसे उस श्लोकके सिखाने का आग्रह करने लगे। वे ब्रह्मचारी श्रीशुकदेवजीको व्यासजीके पास ले आए। व्यासजी ने न केवल उन्हें यही एक श्लोक सिखाया, अपितु सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत्का प्रेमपूर्वक अध्ययन कराया।

श्रीशुकदेवजी निर्विकार और समदर्शी महापुरुष थे। एक बार अपने गुरुदेव तथा पिता श्रीव्यासजी महाराजकी आज्ञासे ये मिथिला गये। वहाँ जाकर जब राजमहलमें प्रवेश करने लगे तो द्वार-पालने इनको रोक दिया। उसे आशा थी कि श्रीशुकदेवजी

रोके जानेके कारण नाराज होंगे; परन्तु वे निर्विकार, शान्तचित्त महलके द्वार पर धूपमें ही खड़े होगये। उनको न तो मार्गकी थकावटका ज्ञान था और न द्वारपाल द्वारा किये अपमानका। थोड़ी देरके उपरान्त दूसरा द्वाररक्षक उनके पास आया और बड़े प्रेमभाव तथा सम्मानके साथ उनको राजमहलके एक कक्षमें लेगया। वहाँ उनकी विधि-विधान एवं श्रद्धाके साथ पूजा की गई। लोगोंका अनुमान था कि अब श्रीशुकदेवजीके शान्त और गम्भीर मुखपर आनन्द और उल्लासकी रेखा दौड़ पड़ेगी; परन्तु वहाँ जाकर भी शुकदेवजी अपने हृदयकी उस अनन्त माधुरीमें डूबे रहे और आकृतिसे कोई विशेष प्रकार का भाव स्पष्ट नहीं हुआ। इसके बाद उनको अन्तःपुरके 'प्रमदवन' में ले जाया गया, जहाँ अनेकों सुन्दरी वराङ्गनाएँ उनकी सेवाके लिए तत्पर थीं। नाँच-रंगके प्रदर्शन और हावभावकी चेष्टाओंसे भी श्रीशुकदेवजी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इन विलासमयी भावनाओंके विकारसे सर्वथा विरत वे भगवान्‌के चिन्तनमें लगे रहे। इसके बाद श्रीशुकदेवजीको वे वराङ्गनाएँ बगीचेकी सैर करानेके लिए लेगईं। वहाँ भी उनके हाव-भाव और विलासमयी चेष्टाओंका प्रभाव श्रीशुकदेवजीके विशुद्ध मानसका स्पर्श न कर सका। उन्हें इन्द्रासनके समान सुन्दर रत्न-खचित सिंहासन पर बिठाया गया, पर वहाँ वे कुशासनके समान भगवान्‌की अचिन्त्य रूपमाधुरीमें निमग्न हो ध्यानस्थ हो गए। अपने चारों ओर व्याप्त रूप-राशिको देखकर न तो उनके अन्तःकरणमें आनन्दकी सिहरन ही हुई और न क्रोधका आविर्भाव ही।

राजा जनक भी अपने मंत्री तथा पुरोहितोंको साथ लेकर श्रीशुकदेवजीके दर्शन करने आए। वे उन्हें महलोंके अन्दर लेगए और सम्मानपूर्वक उनकी पूजा की। श्रीजनकजीसे उन्होंने अध्यात्म-विद्याका उपदेश ग्रहण किया, यद्यपि वे जन्म से ही परम ज्ञानी, विरक्त उन्मत्तकी भाँति अपने आपमें आनन्दमग्न तथा हृदयमें चिदानन्द-स्वरूपकी झाँकीका दर्शन करनेवाले हैं।

जब राजा परीक्षित् ऋषिकुमारोंके शापकी सूचना प्राप्तकर अपने ज्येष्ठ-पुत्र जनमेजयको राज्याभिषिक्त करके गंगाके किनारे पर अनशन कर रहे थे और बहुतसे ऋषि-मुनि उनपर कृपा करनेके लिए गंगाकी तीरभूमि पर जाकर उन्हें सदुपदेशों द्वारा सान्त्वना प्रदान कर रहे थे, उसी समय श्रीशुकदेवजी भी विक्षिप्तोंके समान हृदयानन्दमें डूबे हुए वहाँ पधारे। आपके आते ही सभी ऋषि उठ खड़े हुए। परीक्षित्‌के द्वारा उच्चासन देकर उनकी विधिवत् पूजा की गई। उसी स्थान पर उन्होंने परीक्षित्‌के आग्रहपर उन्हें सात दिनमें पूरी श्रीमद्भागवतकी कथाका उपदेश किया और अनेक शंकाओंका समाधान कर परम-पवित्र भागवत-मार्गको प्रशस्त बनाया।

श्रीशुकदेवजी भक्तिके आचार्य तो हैं ही, साथ ही शांकर अद्वैतके आद्याचार्योंमें भी उनका प्रमुख स्थान है। आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णके समान ही सदा किशोर-अवस्था में रहकर हृदयमें निरन्तर श्रीव्रजेन्द्रनन्दनका स्मरण करते रहते हैं।

श्रीधर्मराजजी

श्रीधर्मराजजी नित्यदेव हैं, फिर भी सृष्टिक्रमके कारण भगवान् सूर्यनारायण उनके पिता और विश्वकर्माकी पुत्री संज्ञा उनकी माता हैं।

धर्मराजके दो रूप हैं—यमराज और धर्मराज। पापात्मा जीवोंको उनके पापोंका फल देते समय ये यमराजका रूप धारण करते हैं। उस समय इनकी आकृति बड़ी भयंकर होती है और भगवद्विमुख जीवोंको ये बड़ी कठोरतासे दण्ड विधान करते हैं। इस दण्ड देनेका उद्देश्य भी जीवको मङ्गलमय मार्गपर चलानेका होता है। नारकी यातनाके भोगके बाद जीवको फिर इस कर्मभूमिमें भेजा जाता है, इस आशासे कि इस बार वह भगवान्की भक्ति करके उन आनन्दघनको प्राप्त करले, जो उसके वास्तविक लक्ष्य हैं।

दूसरा रूप है, उनका धर्मराजका। यह रूप परम भागवत है। पुण्यात्मा जब शरीर त्याग कर धर्मराजके दूतोंके द्वारा उनके पास लाये जाते हैं, तब वे उनको अपना वही सौम्यसुन्दर रूप दिखलाते हैं और उन महाभागोंको उनके पुण्यके अनुसार तत्तत् लोकोंमें भेजते हैं।

यमराज ने अपने दूतोंको भक्ति-तत्त्वका उपदेश करते हुए कहा है—

इदमेव हि माङ्गल्यमिदमेव धनार्जनम्। जीवितस्य फलं चैतद् यद् दामोदरकीर्तनम्॥

—यह दामोदरका नाम-गुण-कीर्तन ही मंगल कार्य है, यही सच्चे धनका संग्रह है और यही जीवनका फल है। हे दूतो ? जो महापुरुष ऐसे भगवान्का भक्तिपूर्वक स्मरण करते हैं, वे मेरे द्वारा दण्ड पाने योग्य नहीं हैं। उन्होंने यदि पहिले कभी पाप भी किया है तो भगवद्-गुणानुवादसे वह भी नष्ट हो जाता है। जो भगवान्के भक्त हैं, उनकी रक्षा तो उनकी कौमोदकी (गदा) सर्वदा करती रहती है, तुम उनके पास भी नहीं जाना। जो जीव काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सरता आदिमें फँसकर विषय-वासनाओंमें लगा रहता है, जिसका मन-मिलिन्द भगवच्चरणारविन्द-मकरन्दका पान न करके उनसे विमुख रहता है, वही तुम्हारे इस पाश में बँधने योग्य है, उसे ही तुम इस अनन्त यातनामयी यमपुरीमें लाया करो।

वास्तवमें यमराजके दण्ड-विधानके भयसे अनेकों जीव-जन्तु भगवान्की आनन्द-

मयी माधुरीकी ओर प्रेरित होते हैं और जब उस सच्चिदानन्दकी प्राप्ति हो जाती है तो वे अनन्तकाल तक भगवद्-धाम में निवासकर अक्षय आनन्द और अपार सुख भोगते हैं।

श्रीधर्मराज स्वयं उच्च कोटिके भगवद्-भक्त हैं, जैसा कि श्रीनाभाजीके छप्पयमें कहा गया है। धर्मराजकी भगवद्-भक्तिका परिचय अजामिलके उपाख्यानमें मिलता है। इसी उपाख्यान में उन्हें भगवान्का प्रमुख भक्त माना गया है। इसीका वर्णन श्रीप्रिया-दासजीने निम्नलिखित दो कवित्तोंमें किया है—

भक्ति-रस-बोधिनी

धरचौ पितु मातु नाम अजामेल साँच भयो, भयो अजामेल छूटी तिया शुभ जातकी।
कियो मद पान, सो सयान गहि दूरि डारचौ, गारचौ तनु वाही सौं जो कीन्हों लै कै पातकी॥
करि परिहास काहू दुष्ट ने पठाये साधु, आए घर, देखि बुद्धि आइ गई सातकी।
सेवा करि सावधान सन्तन रिझाइ लियो 'नारायण' नाम धरचौ गर्भ बाल बात की॥२३॥

अर्थ—माता-पिताके द्वारा रक्खा गया 'अजामेल' नाम अन्वर्थ (सत्य) सिद्ध हुआ; क्योंकि उस (ब्राह्मण-पुत्र) का (मेल) संपर्क एक (अजा) वेश्यासे हो गया (परिणाम यह हुआ कि) उसने उच्च ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुई (अपनी विवाहिता) स्त्रीका परित्याग कर दिया और शराब पीने लगा, जिससे उसका समस्त विवेक नष्ट हो गया। (इस प्रकार जिस वेश्या-संग और मद्यपान) ने उसे पापी बनाया था, उसीमें उसने अपना शरीर नष्ट कर दिया। (इसी बीचमें) किसी दुष्टने मजाक करनेके लिए (यह कह कर कि अजामिल सन्तोंकी बड़ी सेवा करता है) कुछ साधुओंको उसके घर भेज दिया। उनके दर्शन करते ही उसके मनमें सात्विक बुद्धि आ गई और उसने बड़ी सावधानीसे सेवा द्वारा सन्तोंको प्रसन्न कर लिया। चलते समय साधुओंने आशीर्वाद देते हुए कहा कि तेरे एक पुत्र होगा और तू उसका नाम 'नारायण' रख देना।

साधुओंके दर्शन मात्रसे ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रसंगमें गोस्वामीजीने भी कहा है—

तन करि मन करि वचन करि, देत न काहू दुख।
तुलसी पातक नसत हैं, देखत उनके मुख॥
मुख देखत पातक नसैं, पाप मलिन ह्वै जायँ।
तुलसी ऐसे सन्त जन, पूरब भाग मिलायँ॥

इस प्रसंगको और भी रुचिकर बनानेसे लिए भक्तोंने बड़ी-बड़ी सुन्दर उद्भावनाएँ की हैं और उनमें से एक यह है कि साधु लोग जब अजामिलके यहाँ पहुँचे, तब वह शिकार खेलने वाहर चला गया था। साधुओंको आया हुआ देखकर वेश्याको पहले तो बड़ा आश्चर्य हुआ, पर अन्तमें उसकी समझमें आगया। वह साधुओंके विश्रामका प्रबन्ध कर अजामिलको खोजनेके लिए निकल पड़ी। सौभाग्यसे शिकारसे लौटता हुआ अजामिल मिल गया। वेश्याने उसे रास्तेमें ही रोककर कहा—'तुमको साधु समझकर कुछ सन्त लोग तुम्हारे घर आए हैं और वहीं विश्राम कर रहे हैं।' अजामिलने कांधेपर के हिरनको पृथ्वीपर रखते हुए कहा—'मेरी समझमें नहीं आया, तुम क्या कह रही हो?'

वेश्याने कहा—'पहले तुम स्नान करलो, तब बताऊँगी ।'

अजामिल जब स्नान कर चुका, तो वेश्याने उसके चन्दन लगा कर तुलसीकी माला धारण कराई और कहा—'अब घर चल कर साधुओंका सत्कार करो, नहीं तो हमारी बड़ी हँसी होगी।'

अजामिलने कहा—'कहाँ सात्त्विकी वृति के साधु-महात्मा लोग और कहाँ कुमार्गगामी मैं ! भला उनसे मिलकर मुझे क्या कहना होगा, यह तो बता दो ?'

वेश्याने कहा—'कहना कि आपने बड़ी कृपाकी जो घर पधारे। आप हमारे स्वामी हैं, मैं आपका दास हूँ ।'

वेश्याको मालूम था कि अजामिल नशेमें है, अतः परीक्षा लेनेके लिए उसने पूछा—"अच्छा, बताओ तो क्या कहोगे ?"

अजामिल—"कहूँगा कि—मैं आपका स्वामी हूँ, आप लोग दास हैं । ठीक है न ?"

वेश्या—"नहीं ! नहीं ! ऐसे नहीं कहते !…अच्छा, तुम केवल उन्हें प्रणामकर हाथ जोड़कर चुप-चाप बैठ जाना, बाकी मैं सब देख-भाल लूँगी ।" अजामिलने ऐसा ही किया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

आइ गयो काल मोहजाल में लपटि रह्यौ, महाविकराल यमदूत ही दिखाइये ।
वोही सुत 'नारायण' नाम जो कृपा कै दियो, लियो सो पुकारि सुर आरत सुनाइये ।।
सुनत ही पारषद आये वाही ठौर दौरि, तोरि डारे पास कह्यौ धर्म समुझाइये ।
हरि लै विडारे जाय पति पै पुकारे कहि 'सुनो वजमारे !' मत जावो हरि गाइये ।।२४।।

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानके जालमें पड़े हुए अजामिलका सारा जन्म बीत गया और मृत्यु-समय आ पहूँचा । उसने देखा कि महाभयंकर यमराजके दूत उसे लेनेके लिए आगए है । उसने अपने उसी पुत्रको जिसका कि सन्तोंने 'नारायण' नाम रखा था, बड़े आर्त और दीनता-भरे स्वरसे पुकारा । 'नारायण' नामके सुनते ही विष्णु भगवान्के पार्षद दौड़ कर उसी जगह आये (जहाँ अजामिल अन्तिम श्वास ले रहा था) आते ही उन्होंने (यमदूतों द्वारा बाँधे गए) पाशों को तोड़ डाला । (यमदूतोंने ऐसा करनेका कारण पूछा तो) पार्षदोंने उन्हें धर्मका मर्म समझाया । (इतना ही नहीं,) उन्होंने यमदूतोंको डाँट-डपट कर वहाँसे भगा दिया । जब यमदूतोंने यह सब वृत्तान्त धर्मराज को सुनाया, तब वह बोले—'अरे तुम लोगोंपर गाज गिरे ! जहाँ हरिका नामोच्चारण होता हो वहाँ कभी मत जाना ।'

इस प्रसंगमें धर्मराजने अपने दूतोंको समझाते हुए जो कहा है, उसका श्रीमद्भागवत में बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है । लिखा है :—

ते देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा, ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान् नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्, नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्ड ।।

—'जो समदर्शी साधु भगवान्को ही अपना साध्य और साधन समझकर उनपर निर्भर हैं, बड़े-बड़े देवता और सिद्ध उनके पवित्र चरित्रोंका प्रेमसे गान करते रहते हैं । हे मेरे दूतों ! भगवान्की गदा उनकी सदा रक्षा करती रहती है । उनके पास तुम कभी भूलकर भी मत फटकना । उन्हें दण्ड-देने की सामर्थ्य न हममें है और न साक्षत् कालमें ही ।

सन्तवाणियोंमें अनेकों स्थानोंपर श्रीहरि के नामोच्चारणके अपरिमित उदाहरण भरे पड़े हैं।

हरि जस गावत सब सुधरे ।
नीच अधम, अकुलीन, विमुख, खल, केतिक गनों बुरे ।।
नाऊ, छीपा, जाट, जुलाहो सम्मुख जाय जुरे ।
तिन-तिन कौं सुख दियौ साँवरे नाहिंन विरद दुरे ।।
विवस असावधान सुत के हित द्वै अखरा उचरे ।
बिहारिदास प्रभु कोटि अजामिल पतित पवित्र करें ।।(स्वामी श्रीविहारिनदेवजी)

मूल (छप्पय)

बिष्वकसेन जय, विजय, प्रबल बल, मंगलकारी ।
नन्द, सुनन्द, सुभद्र, भद्र जग आमयहारी ।।
चंड, प्रचंड, बिनीत, कुमुद, कुमुदाच्छ करुणालय ।
सील, सुसील, सुषेन भाव भक्तन प्रतिपालय ।।
लक्ष्मीपति प्रीणन❀ प्रवीन भजनानन्द भक्तन सुहृदय ।
मो चितबृति नित तहँ रहौ जहँ नारायण पारषद ।।८।।

अर्थ—ग्रन्थकार इस छप्पयमें अपनी यह अभिलाषा प्रकट करते हैं कि मेरी चित्त-वृत्ति वहाँ रहे, जहाँ नारायणके विष्वक्सेन आदि सोलह पार्षद रहते हैं । ये मंगल करनेवाले, संसारके (दुःख, शोक, अविद्या-रूपी) रोगको नाश करनेवाले, दयालु और भावपूर्ण भक्तोंकी रक्षा करने वाले हैं । ये लक्ष्मीपतिको सेवा द्वारा प्रसन्न करनेकी कला में अत्यन्त निपुण हैं और भजनानन्द भक्तोंकी सीमा तक पहुँच गए हैं ।

भक्ति-रस-बोधिनी

पारषद मुख्य कहे सोरह सुभाव सिद्ध, सेवा ही की सिद्धि हिये राखी बहु जोरि कैं ।
श्रीपति नारायण के प्रीणन प्रवीन महा, ध्यान करैं जन पालैं भाव दृग कोरि कैं ।।
सनकादि दियो शाप प्रेरिकैं दिवायो आप, प्रगट ह्वै कह्यौ पीयो सुधा जिमि घोरि कैं ।
गही प्रतिकूलताई जो पै यही मन भाई, याते रीति हद गाई धरी रंग बोरि कैं ।।२५।।

अर्थ—ये सोलह पार्षद श्रीवैकुण्ठनाथ नारायणके नित्यसिद्ध पार्षदोंमें प्रधान हैं । इन्होंने प्रभुकी सेवा-रूपी सम्पत्तिको ही अपने हृदयमें संचित करके रखा है । ये लक्ष्मीपति नारायणको (सेवा द्वारा) प्रसन्न करनेमें अत्यन्त निपुण हैं । भगवद्धाम-निवासी ये पार्षद श्रीहरिका ध्यान करते हैं तथा अपने भक्त के भावके अनुसार कृपाकटाक्षसे अर्थात् दृष्टिकोरसे भक्तजनोंका पालन करते हैं । जब भगवान्की प्रेरणासे सनकादि ऋषियोंने जय-विजयको शाप दिया (कि तुम तीन योनि तक राक्षस-कुलमें जन्म लोगे) तब

❀ प्रालन, प्रीनन = प्रसन्न करना ।

श्रीनारायणने प्रत्यक्ष दर्शन देकर-कहा कि इस शापको (मेरी ही इच्छा समझकर) अमृत के समान घोलकर पी जाओ—अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक इसे स्वीकार करो। इसपर जय-विजयने असुर-योनिमें जन्म लेकर भगवान्‌के प्रतिकूल आचरण अंगीकार किया और कहा कि यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो हमें (आपकी और आपके भक्तों की) प्रतिकूलता (विरुद्ध आचरण) भी स्वीकार है। इसीलिए उपासनाकी इस रंगीली रीतिको हद (सीमा) कहा गया है।

मूल (छप्पय)

कमला, गरुड़, सुनन्द आदि षोड़स प्रभु-पद रति।
हनुमंत, जामवंत, सुग्रीव, विभीषण, सिबरी खगपति॥
ध्रुव, उद्धव, अंबरीष, विदुर, अक्रूर, सुदामा।
चन्द्रहास, चित्रकेतु, ग्राह, गज, पांडव नामा॥
कौषारव, कुन्ती, वधू, पट ऐंचत लज्जा हरी।
हरिवल्लभ सब प्रारथौ जिन चरन-रेनु आसा धरी॥९॥

अर्थ—(नाभाजी कहते हैं कि) मैं कमला, गरुड़ आदि भक्त, सुनन्द आदि सोलह पार्षद, हनुमानसे लेकर कुन्ती-पर्यन्त अन्य भक्त तथा पाण्डव-बधू द्रौपदी, जिसकी लज्जा को (दुश्शासन द्वारा भरी सभामें) वस्त्र खींचे जानेपर भगवान्‌ने रक्खा था—इन हरिके प्रिय भक्तोंकी प्रार्थना करता हूँ। इन्हीं भक्तोंकी चरण-रेणुकी अभिलाषा मैंने अपने हृदय में धारण की है।

भक्ति-रस-बोधिनी

हरि के जे बल्लभ हैं दुर्लभ भुवन माँझ, तिनहीं की पदरेणु आसा जिय करी है।
योगी, यती, तपी तासौं मेरौ कछु काज नाहिं, प्रीति परतीति रीति मेरी मति हरी है॥
कमला, गरुड़, जाम्बवान, सुग्रीव आदि, सबै स्वादरूप कथा पोथिन में धरी है।
प्रभु सौं सचाई जग कीरति चलाई अति, मेरे मन भाई सुखदाई रसभरी है॥२६॥

अर्थ—हरिके जो प्यारे भक्त हैं, वे संसारमें दुर्लभ हैं, उन्हींकी चरण-धूलिकों प्राप्त करने की आशा मैंने हृदयमें लगा रक्खी है। (कोरे) योगी, यती, तपस्वी तो यहाँ बहुत हैं, पर मेरा उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरी बुद्धि (मन) को तो (भगवान् के भक्तोंके) प्रेम, निष्ठा तथा भजन-रीतिने आकृष्ट कर लिया है। लक्ष्मी, गरुड़, जाम्बवान्, सुग्रीव आदि की भक्तिरसके माधुर्य्यसे परिपूर्ण कथाएँ पुराणादि धर्म-ग्रन्थोंमें लिखी हैं। (भक्तोंने) भगवान्‌से सच्ची प्रीति करके संसारमें जो अपनी कीर्तिका विस्तार

किया है, वह मुझे बहुत अच्छा लगा है, क्योंकि इन भक्तोंकी मधुर गाथा सुनने-सुनानेसे हृदयको सुख मिलता है।

भक्तोंकी प्रीति अहैतुकी और तत्सुखी होती है। उनकी स्वयं की कोई इच्छा नहीं होती। उनको तो प्रेमी-पात्रके सुखमें सुख होता है और उनके दुःखमें दुःखकी अनुभूति होती है। इसीलिए वे तीनों लोकों के राज्य, ब्रह्मत्व यहाँ तक कि मुक्तिकी भी कामना नहीं करते हैं। अतः नाभाजीने ऐसे भक्तोंकी चरण-रजको मस्तकपर धारण करनेकी अभिलाषा की है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥

—भगवान्‌के चरणारविन्दकी जो शरण हैं, उन्हें न तो स्वर्गकी कामना है, न ब्रह्मत्वकी चाह, न सारे संसारपर राज्य करनेकी इच्छा, न पातालपर अधिकार जमानेकी अभिलाषा, न योगाभ्याससे प्राप्त होने वाली सिद्धियोंसे प्रयोजन और न मुक्तिकी कामना। श्रीमद्भागवतमें जड़भरत द्वारा राजा रहूगणको उपदेश देते समय भी भक्तोंकी चरण-रजका महत्व स्पष्ट किया गया है—

रहूगणैतत् तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

—महापुरुषोंकी चरणरजसे स्नान किए बिना उस परमात्माको यज्ञ, तपस्या, वैदिक कर्मानुष्ठान, गृहस्थधर्मका पालन, वेदाध्ययन तथा जल, सूर्य अग्निकी उपासना आदि किसी भी साधन से प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

प्रीति, परतीति, रीति—'प्रीति' से तात्पर्य आनन्दपूर्ण अनुराग (प्रेम) से है। प्रेम यदि झूठा हैं तो उसमें आनन्द कहाँ ? सच्चे प्रेममें ही आनन्द अनुस्यूत रहता है और वह स्वयं अपना फल है—साध्य है। इस एक प्रेमके अभावमें समस्त लौकिक उपलब्धियाँ नीरस प्रतीत होती हैं।

कविवर नन्ददासजी कहते हैं—

पाप, पुन्य अरु कर्म लोह सोने की बेरी,
पायन बन्धन दोऊ कोऊ मानो बहुतेरी।
ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग,
प्रेम बिना सब पचि मरे विषय वासना रोग—
सखा सुन श्याम के॥

जब भगवान्‌को किसी भी लौकिक सिद्धिकी अपेक्षा नहीं है तो फिर उनके लाड़ले भक्तोंको भला क्यों होने लगी। उन्हें तो वही अच्छा लगता है, जो उनके आराध्यको रुचता है। अतः प्रभुकी प्राप्तिका साधन केवल प्रेम ही है। जैसा श्रीध्रुवदासजीने कहा है—

संजम, व्रत, सतमख करत, वेद, पाठ, तप नेम।
इन कर हरि पइयत नहीं, विन आए उर प्रेम॥

यह तो हुई प्रीतितत्वकी बात। अब हम आते हैं 'प्रतीति' पर। 'प्रतीति' से मतलब है—अविचल विश्वास। विश्वास किसमें ? प्रभुकी दयालुतामें उनकी कृपापरवशतामें और शरणागत-पालकतामें। यह विश्वास भक्ति भावनाका प्राण है। परन्तु इस विश्वासका लक्ष्य किसी प्रकारकी फल कामना न हो। प्रीति और प्रतीति स्वयं फल हैं। इनसे प्राप्त होनेवाला आनन्द अन्यत्र दुर्लभ है।

अतः इसके अधिकारी भक्तजन भी विरले ही मिलते हैं । यही सोचकर ग्रन्थकारने इन दुर्लभ भक्तोंकी चरण-रजमें अवगाहन करने की अभिलाषा प्रकट की है ।

'रीति'—तीसरा तत्त्व है । रीतिसे मतलब उपासना की परिपाटीसे है । विभिन्न उपासकोंने उपासनाकी भिन्न-भिन्न रीतियोंका अनुसरण किया है । उनकी इस रीतिको जाननेके लिए उन भक्तोंकी चरणरजकी कृपाके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है । समस्त रसिकों और भक्तोंका यही मत है—

रसिक अनन्य उपासक जिते दास हरिदास ।
तिन-तिनकी लै चरण-रज सिर धरी विहारीदास ।। (स्वामी श्रीविहारिनदेवजी)
जिनके जाने जानिए जुगलचन्द सुकुमार ।
तिनकी पद रज सीस धरि ध्रुवके यहै अधार ।। (श्रीध्रुवदासजी)

भक्ति-रस-बोधिनी

रतन अपार-सार सागर उधार किये, लिये हित चायकै बनाइ माला करी है ।
सब सुख-साज रघुनाथ महाराज जू कौं, भक्ति सौं विभीषण जू आनि भेंट धरी है ।।
सभा ही की चाह अवगाह हनुमान गरे डारि दई, सुधि भई, मति अरबरी है ।
राम बिन काम कौन ? फोरि मणि दीन्हे डारि, खोलि त्वचा नाम ही दिखायो, बुद्धि हरी है ।।२७।।

अर्थ—देवता और दैत्योंने समुद्रका मन्थन कर बहुत-से अमूल्य रत्नोंको उसमेंसे निकाला था । (सब देवताओंको जीत लेनेके कारण ये रत्न रावणके हाथ लगे और रावण का वध हो जाने पर लंकाके राज्यपर अभिषिक्त विभीषणको उत्तराधिकारमें प्राप्त हुए ।) विभीषणने अत्यन्त उत्सुकतासे इनकी एक माला बनाई और उसे संसार की समस्त सुख-समृद्धिसे विभूषित श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें भक्तिपूर्वक समर्पित कर दिया । (उपस्थित लोगोंने मालाको देखा तों उनका हृदय उसे लेनेके लिये लालायित हो उठा ।) श्रीरामचन्द्रजीने यह देखकर कि सारी सभाका झुकाव मालाकी तरफ है, हनुमानके गलेमें उसे डाल दिया । मालाका स्पर्श होते ही हनुमानजी को (जोकि अब तक भगवान्‌के रूप-सुधा-पानमें तन्मय हो रहे थे) होश हुआ । उनकी बुद्धि अस्तव्यस्त हो गई । (मालाको उन्होंने उलट-फेर कर देखा तो उसे रामनाम रहित पाया । (उनके मुँहसे निकल पड़ा)—'राम-नामके विना यह अपने किस मतलबकी है ?' तब उन्होंने मालाकी एक-एक मणिको तोड़ डाला । (विभीषणने पूछा—'आपके शरीरपर भी तो कहीं राम-नाम अंकित नहीं है, फिर इसे क्यों धारण किए हुए हैं' ? इसपर) हनुमानजी ने अपने शरीरकी त्वचाको चीरकर दिखाया (तो लोगोंको पता लगा कि उनके रोम-रोमपर राम-नाम अङ्कित है) यह देखकर । उपस्थित जन समस्त आश्चर्यचकित होगए ।

हनुमानजीकी भक्ति-भावनाके प्रसंगमें टीकाकारने इस कवित्तमें रामके नामको अधिक महत्व दिया है । नाम-जाप भक्ति-सिद्धान्तका एक प्रमुख तत्त्व माना जाता है । कहा भी है---

राम त्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चिता मतिः ।
त्वयैका तारितायोध्या नाम्ना च भुवनत्रयम् ।।

--हे राम ! आपका नाम आपसे बड़ा है, क्योंकि आपने तो केवल एक अयोध्याका ही उद्धार किया, लेकिन आपके नामने तो तीनों लोकोंको तार दिया।

हनुमानजीकी भाव-प्रवलताको समझनेके लिए लैला-मजनू से सम्बन्धित एक लौकिक घटनाका विवरण नीचे दिया जाता है--

एक बार एक साहूकार बलख-बुखारासे दिल्लीको आ रहा था। रास्तेमें उसे मजनू मिला। मजनू ने पूछा—"कहाँ जाओगे ?" साहूकारने उत्तर दिया—"दिल्ली।" मजनूने कहा—"तो लैलासे हमारा एक सन्देश कह देना।" साहूकारने रथ रोक लिया और बोला--"बताओ, क्या सन्देश देना है ?" मजनूने कहा—"रथको रोकनेकी जरूरत नहीं है, मैं साथ-साथ चल रहा हूँ।" उसे अपना प्रेम-सन्देश कहते-कहते कई दिन, कई रातें बीत गईं, लेकिन वह पूरा नहीं हुआ। साहूकारने एक दिन भड़क कर कहा—"तुम्हारा सन्देश सुनते-सुनते मेरी नींद हराम होगई। आखिर यह कभी पूरा होगा कि नहीं ?"

× × × ×

दिल्ली पहुँचकर साहूकारने लैलाको मजनूका सन्देश देनेके साथ-साथ उसकी दुर्दशाका भी वर्णन किया और अन्तमें बोला--"मजनू तो तुम्हारे विरहमें सूखकर ठठरी होगया है, लेकिन तुम इतनी प्रसन्न रहती हो, इसका क्या कारण है ?"

लैला बोली—"प्रसन्न क्यों न रहूँ ? मेरे रोम-रोममें मजनू जो बसा हुआ है ! विश्वास न हो तो देख लो ना।"

यह कह कर लैलाने अपने हाथकी एक अँगुली चीर डाली। साहूकारने देखा कि कागज पर जितनी खूनकी बूँदें पड़ीं, उतनी ही मजनूकी तस्वीरें बन गई हैं।

श्रीविभीषण

भक्ति-रस-बोधिनी

भक्ति जो विभीषण की कहै ऐसो कौन जन, ऐ पै कछु कही जाति सुनो चित लाइकैं।
चलत जहाज परी अटकि बिचार कियो, कोऊ अंगहीन नर दियो ले बहाइ कैं॥
जाइ लग्यौ टापू ताहि राक्षसनि गोद लियो, मोद भरि राजा पास गये किलकाइ कैं।
देखत सिंहासन ते कूदि परे नैन भरे, याही के आकार राम देखे भाग पाइ कैं॥२८॥

अर्थ—ऐसा कौन व्यक्ति है, जो विभीषणजीकी भक्तिका वर्णन कर सके ? तो भी यहाँ उस सम्बन्धमें कुछ कहनेका साहस किया जाता है, सो उसे ध्यानसे सुनिये। (किसी समय एक व्यापारीका जहाज समुद्रमें चलते-चलते किसी कारणवश अटक गया।) तब सेठने सोचा कि समुद्रके देवता वरुणको बलि देनी चाहिए, यह निश्चय कर किसी अङ्गहीन मनुष्यको समुद्रमें फेंक दिया। दैवयोगसे वह लंकाके टापूपर जालगा और लंकानिवासी राक्षसोंने उसे गोदमें उठा लिया। इसके पश्चात् वे प्रसन्न होते हुए और किलकिलाते हुए उसे राजा विभीषणके पास लेगए। विभीषणजी उसे देखते ही सिंहासनसे कूद पड़े और आँखोंमें आँसू भरकर बोले—'मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीकी भी आकृति ऐसी ही है। 'मेरे अहोभाग्य ! जो मुझे ऐसे दर्शन हुए।'

भक्ति-रस-बोधिनी

रचि सो सिंहासन पै लै बैठाए ताही छिन, राक्षसनि रीझि देत मानि शुभ घरी है।
चाहत मुखारविन्द अति ही अनन्द भरि, ढरकत नैन नीर टेकि ठाड़ो छरी है॥
तऊ न प्रसन्न होत छिन-छिन छीन ज्योति, हूजिये कृपाल कहो मेरी मति हरी है।
करो सिन्धु पार मेरे यही सुख सार, दये रतन अपार ल्याये वाही ठौर फेरी है॥२९॥

अर्थ—विभीषणने उस पुरुषको बहुमूल्य वस्त्र, चन्दन, आभूषण आदि से अलंकृत कर आदर सहित सिंहासनपर बिठाया और उस अवसरको अपने जीवनका बहुमूल्य समय समझकर उन्होंने अपने अनुचर राक्षसोंको विविध प्रकारके पुरस्कार दिये। इसके अनन्तर विभीषण छड़ी लेकर प्रतीहार (द्वारपाल) की भाँति उसके सामने खड़े होगए। वह अत्यन्त आनन्दमें मग्न होकर उस व्यक्तिके मुखारविन्दके दर्शन करने लगे। उस समय विभीषणके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बरस रहे थे। इतना करने पर भी विभीषणने देखा कि वह प्रसन्न नहीं हुआ, वरन् उसके मुखकी कान्ति धीरे-धीरे मलिन होती जा रही थी। इसपर विभीषणने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'भगवन् मेरे ऊपर अनुग्रह करके मुझे कुछ सेवा करनेका आदेश दीजिए; मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि आप इतने उदास क्यों हैं?' यह सुनकर वह बोला—'मुझे तो परम आनन्द इसमें मिलेगा कि आप मुझे समुद्र पार करा दें।' विभीषणजीने विशाल धन-राशि भेंटके रूपमें उसे समर्पित की और तब उसी जगहपर उसे पहुँचा दिया जहाँसे कि राक्षस उसे पकड़कर ले गए थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

राम-नाम लिख सीस मध्य धरि दियो या कैं, यही जल पार करे भाव साँचो पायो है।
ताही ठौर बैठ्यौ मानो नयो और रूप भयो, गयो जो जहाज सोई फिरि करि आयो है॥
लियो पहिचान पूछ्यौ सब सों बखान कियो, हियो हुलसायो, सुनि बिनै कै चढ़ायो है।
पर्‍यौ नीर कूदि, नैकु पाय न परस कर्‍यौ हर्‍यौ मन देखि रघुनाथ नाम भायो है॥३०॥

अर्थ—(जब उस मनुष्यने समुद्र पार करानेकी प्रार्थना की तब) विभीषणने राम-नाम लिखकर (एक वस्त्रमें बाँध दिया और) उसके सिरपर रख दिया और कहा—(राम-नाम) तुम्हें समुद्र पार उतारेगा। (जिस नामके प्रतापसे संसारके जीव विशाल भव-सागरसे पार हो जाते हैं, उसके लिए जलका समुद्र पार करा देना भला क्या कठिन था!) उस व्यक्तिने विभीषणके भाव (रामके प्रति दृढ़ निष्ठा) को सर्वथा सत्य पाया; (क्योंकि विभीषणकी भाँति स्वयं भी विश्वास कर वह उसी पहले स्थानपर पहुँच गया।) रामनामके प्रभावमें आकर उसे ऐसा लगा जैसे उसने नवीन देह धारण की हो। जहाज भी (राम-नामके प्रतापसे) फिर वहीं लौटकर आ गया। उसमें बैठे हुए यात्रियोंने उसे पहिचान लिया और सारा वृत्तान्त पूछा (कि तुम बचकर कैसे निकल

आये ?)। उसने सब कह सुनाया। सुनकर सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने अत्यन्त अनुनय-विनय करके उसे जहाजपर चढ़ा लिया। [राम-नामके माहात्म्यका प्रत्यक्ष परिचय देनेके लिए] वह एक बार जहाजसे समुदमें कूद पड़ा और दिखला दिया कि किस प्रकार उसके पैर भीगे तक नहीं। यह देखकर सबका मन राम-नामकी तरफ आकर्षित होगया और उन परम कृपालु भगवान्‌के नाममें उनका अगाध प्रेम होगया।

वास्तवमें राक्षसोंके साथ रहकर भी उनकी हिंसात्मकता, पापाचारिता और निर्दयतासे दूर रह परम भागवत बनकर हमेशा अपने प्रभुका ध्यान करते रहना उन जैसे महाभागके लिए ही सम्भव था।

श्रीशबरी

त्रेतायुगका समय था। दण्डकारण्य वनमें अनेकों ऋषि-मुनि रहकर जप-तप, होम-यज्ञ आदि किया करते थे। आश्रमोंसे निकलकर होम-धूम वनमें चारों ओर फैलकर उसे पवित्र बनाता रहता था। इसी आश्रममें अपनेको सब तरह धन-जन पति पुत्रादिकसे हीन समझकर एक वृद्ध भगवान् की भक्ति और महात्माओंकी सेवामें तल्लीन रहा करती थी।

भक्ति-रस-बोधिनी

बन में रहति नाम 'सबरी' कहत सब, चाहत टहल साधु, तनु न्यूनताई है।
रजनी के शेष, ऋषि आश्रम प्रवेश करि लकरीन बोझ धरि आवै, मन भाई है॥
न्हाइवे को मग झारि, काँकरनि बीनि डारि, बेगि उठ जाय, नैंकु देत न लखाई है।
उठत सवारे कहै 'कौन धौं बुहारि गयौ भयौ हिये सोच' कोऊ बड़ो सुखदाई है॥३१॥

अर्थ—वह उसी वनमें निवास करती थी और सब लोग उसे 'शबरी' के नामसे पुकारते थे। साधु-सन्तोंकी टहल-सेवा करनेकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, लेकिन नीची जाति की होनेके कारण [साधुओंके पास जानेमें] वह झिझकती थी। फिर भी वह इतना अवश्य करती थी कि रात्रिके अन्तिम प्रहरमें ऋषियोंकी कुटियोंमें चुपचाप घुसकर लकड़ीके बोझ डाल आती। यह साधु-सेवा उसे अच्छी लगती थी। जिस रांस्तेसे ऋषि-जन स्नान करने पंपासरपर जाया करते थे, वह उसे झाड़ देती, वहाँसे कंकड़ियोंको बीनकर फैंक देती और जल्दीसे चली जाती थी [ताकि कोई उसे देख न ले]। ऋषि-गण प्रातःकाल उठकर देखते तो एक-दूसरेसे पूछते—'यह झाड़ू कौन दे गया है ?' थोड़ी देरके लिए वे एक विचित्र उलझनमें पड़ जाते, पर अन्तमें उनके मुँहसे यही शब्द निकलते—'यह तो कोई अत्यन्त सज्जन व्यक्ति जान पड़ता है जो हमें इस तरह सुख पहुँचाता है।'

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़ेई असंग वे 'मतंग' रस-रंग-भरे, धरे देखि बोझ कह्यौ कौन चोर आयो है ?
करै नित चोरी, अहो ! गहो वाहि एक दिन, बिना पाए प्रीति बाकी मन भरमायो है॥

बैठे निशि चौकी देत शिष्य सब सावधान, आइ गई, गहि लई, काँपे, तनु नायो है ।
देखत ही ऋषी जलधारा बही नैनन ते, बैनन सौं कह्यौ जात कहा कछु पायो है ?॥३२॥

अर्थ—[आश्रम-वासियोंमें] एक 'मतंग' नामक ऋषि जो बड़े अनासक्त [निर्लिप्त] थे और भगवान्की भक्तिके रसमें सराबोर रहते थे, एक दिन लकड़ियोंके बोझको अपनी कुटियामें रक्खा देखकर बोले—'आश्रममें यह कौन चोर आता है जो चोरीसे सेवा करता है ? उसे किसी दिन पकड़ना चाहिए, क्योंकि उसके ऐसे प्रेमके साक्षात् दर्शन किये बिना मेरा मन व्याकुल रहता है ।' इसपर सब शिष्योंने सावधान रहकर रात-भर पहरा दिया और शबरीके आनेपर उसे पकड़ लिया । वह बेचारी शिष्योंके पकड़े जाने-पर काँपने लगी और पैरोंपर गिर पड़ीं । उसे देखते ही ऋषि मतंगके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु झर-झर कर बह निकले और उन्हें शबरीके दर्शनसे जो अलभ्य आनन्द हुआ, वह क्या कहनेमें आता है ? अर्थात्, मतंग ऋषिने अपनेको इतना बड़भागी माना कि शब्दों द्वारा उनके सौभाग्यका वर्णन करना असम्भव है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

डीठी हू न सोंही होत मानि तन गोत छोत, परी जाय सोच-सोत कैसे के निकारिये ।
भक्ति को प्रताप ऋषि जानत निपट नीकें, कैऊ कोटि विप्रताई या पै वारि डारिये ॥
दियो बास आश्रम में श्रवण में नाम दियो, कियो सुनि रोष सबैं कीनी पाँति न्यारिये ।
सबरी सौं कह्यौ तुम राम-दरसन करो, मैं तो परलोक जात आज्ञा प्रभु पारिये ॥३३॥

अर्थ—(किन्तु) अपने नीचे कुलका ध्यान करके लज्जाके कारण उसकी आँखें जमीनमें झुकी जारही थीं । उधर ऋषिको यह चिन्ता सवार थी कि शबरीके हृदयमें इस भावनाको कि नीची जातिकी होनेके कारण वह अछूत है, कैसे बाहर निकाला जाय । भगवान्की शरणमें आनेपर नीच-ऊँच सब बराबर हो जाते है, यह विचार उन्होंने शिष्योंसे कहाकि यह शबरी इतनी पवित्र है कि इसपर कई करोड़ ब्राह्मणत्व [ब्राह्मण होनेका अभिमान] न्योछावर किये जा सकते हैं । अन्तमें उन्होंने शबरीको आश्रममें रख लिया और उसके कानमें निज-मंत्रका उपदेश दिया । इसपर और ऋषि-गण बड़े नाराज हुए और उन्होंने मतंग ऋषिको समाजसे अलग कर दिया । कुछ समय बीतनेपर वह शबरीसे बोले—'यहाँ रहकर तुम एक दिन श्रीरामचन्द्रजीके प्रत्यक्ष दर्शन का सुख प्राप्त करोगी, किन्तु मैं तो प्रभुकी आज्ञाके अनुसार अब परलोक [भगवद्धाम] को जारहा हूं ।'

भक्ति-रस-बोधिनी

गुरु के वियोग हिये दारुन लै शोक दियो, जियो नहीं जात, ऐपै राम आशा लागी है ।
न्हाइवे की बाट निशि जात ही बुहारि सब, भई यों अबारि ऋषि देख विथा पागी है ॥

छुयो गयो नैंकु कहुँ खीजत अनेक भाँति, करिकै विवेक गयो न्हान यह भागी है ।
जल सों रुधिर भयो नाना कृमि भरि गयो, नयौ पायो सोच तऊ जाने न अभागी है ।।३४।।

अर्थ—गुरु मतंग ऋषिसे वियोग हो जानेके कारण शबरीके हृदयको बड़ी भारी चोट लगी । जीवन दूभर होगया था, पर जीवित इसलिये थी कि श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी आशा मन में लगी थी । जिस मार्गसे मुनि स्नान करने जाया करते थे, उसे वह रातमें ही जाकर झाड़ आती थी । एक दिन कुछ देर होगई तो किसी ऋषिने इसे देख लिया । इसपर शबरीको बड़ा कष्ट हुआ कि आज मैं ऋषिके सामने पड़ गई । संयोगसे वह ऋषि शबरीसे कुछ छूगए और गुस्सेमें भरकर उन्होंने न-जाने क्या-क्या कह डाला । अन्तमें सोच-विचार करनेके बाद ऋषि नहानेके लिए फिर सरोवरको लौट गए । यह देखकर शबरी डरसे भाग खड़ी हुई । ऋषि जब दुबारा सरोवरपर पहुँचे और डुबकी लगाई तो देखा कि तालाबका सारा जल खून हो गया है और उसमें अनेक प्रकारके कीड़े रेंग रहे हैं । अब मुनिको यह नई चिन्ता सबार हुई, लेकिन वह इतने अभागे और विवेक-हीन निकले कि उन्हें वास्तविक भेद अन्त तक नहीं जान पड़ा । (मुनिवर इसी धोखेमें रहे कि शबरीका शरीर छूकर सरोवरमें स्नान करनेके कारण ही जल रुधिर बन गया, जब कि वास्तविक बात यह थी कि शबरीके प्रति दूषित भावना के कारण उनका शरीर इतना पातकी हो गया कि उसके स्पर्शसे जल रुधिरमें बदल गया ।)

भक्ति-रस-बोधिनी

ला।वै वन बेर लागी राम की औसेर भल, चाखे धरि राखे फिर मीठे उन जोग हैं ।
मारग में जाइ, रहे लोचन बिछाय, कभूँ आवैं रघुराय, दृग पावैं निज भोग हैं ।।
ऐसे ही बहुत दिन बीते मग जोहत ही, आइ गए औचक सो, मिटे सब सोग हैं ।
ऐ पै तनु नूनताई आई सुधि, छिपी जाइ, पूछें आप 'सबरी' कहाँ ? ठाड़े सब लोग हैं ।।३५।।

अर्थ—शबरीको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके आनेकी बड़ी लालसा लगी थी; इसलिए वह वनमें-से बेर बीनकर लाती और चाखकर जो मीठे लगते, उन्हें प्रभुके योग्य समझकर रख लेती थी । रास्तेमें खड़ी होकर वह सदा भगवान् रामके आगमनकी प्रतीक्षामें आँखें बिछाए रहती थी कि कब श्रीरामचन्द्रजी आवें और कब मैं उनके दर्शन कर अपने नेत्रोंको सफल करूँ । इसी प्रकार जब वाट देखते-देखते बहुत दिन बीत गए, तब अचानक एक दिन श्रीरघुनाथजी आगए । शबरी सब दुःख भूल गई । (प्रसन्नताकी ऐसी हालतमें भी) उसे अपने शरीरके नीच-कुलमें उत्पन्न होनेकी याद बनी रही, इसी-लिए श्रीरामचन्द्रके आते ही, वह भागकर छिप गई । इसपर श्रीरामचन्द्रजीने उपस्थित सब वन-वासियोंसे पूछा—'शबरी कहाँ गई ?'

भक्ति-रस-बोधिनी

पूछि पूछि आए तहाँ स्योरी कौं अस्थान जहाँ, कहाँ वह भागवती ? देखौं दृग प्यासे हैं ।
आइ गई आश्रम में जानि के पधारे आप, दूर ही ते साष्टांग करी चष भासे हैं ।।
रवकि उठाइ लई, बिथा तनु दूरि गई, नई नीर झरी नैन, परे प्रेम पासे हैं ।
बैठे सुख पाइ कल खाय कै सराहे, बेहू कह्यौ–कहा कहौ मेरे मग दुख नासे हैं ।।३६।।

अर्थ—आश्रमवासी मुनियोंसे पूछते-पूछते भगवान् उस स्थान पर आये, जहाँ शबरी रहती थी और लोगोंसे पूछा–'वह सौभाग्यशालिनी कहाँ है ? हमारी आँखे उसे देखने के लिए आतुर हैं ।' शबरीको जब यह मालूम हुआ कि उसके राम आश्रममें पधारे हैं, तो (उसके मनमें-से नीचताकी भावना मिट गई) जहाँसे प्रभु दिखाई पड़े वहींसे साष्टांग प्रणाम किया । भगवान् श्रीराघवेन्द्रने उसके पास जाकर उसे ललक कर उठा लिया । प्रभुके हाथका स्पर्श होते ही शबरी के सब दुःख दूर होगए और नेत्रोंसे नए प्रकारके आँसू बरसने लगे । (अब तक भगवान्के वियोगमें वह गरम आँसू बहाती रही थी; ये आँसू प्रेम और प्रभु-प्राप्तिके आनन्दके थे ।) शबरीके नेत्र अब भगवान्के प्रेम-पाशमें फँस गए थे, अथवा प्रेमके पासे उसके अनुकूल पड़ गए थे, (अतः आनन्दके आँसुओंका उमड़ना स्वाभाविक था ।) इसके अनन्तर भगवान्ने सुखपूर्वक आसन ग्रहण किया और (शबरी के द्वारा भेंट किए गए) बेरोंको खाकर उनके अपूर्व मिठास की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए बोले–'क्या कहूँ, आज ऐसे मीठे फल खिलाकर तुमने रास्ते की मेरी सब थकान दूर करदी ।'

चाखे धरि राखे—शबरी पके हुए फलोंको चाख-चाखकर प्रभुके लिए रखती थी, इसका उल्लेख पद्म-पुराणमें इस प्रकार है—

फलानि च सुपक्कानि मूलानि मधुराणि च ।
स्वयमास्वाद्य माधुर्यं परीक्ष्य परिभक्ष्य च ।।
पश्चान्निवेदयामास राघवाभ्यां दृढव्रता ।

× × ×

—शबरीने पके हुए फलोंको और मीठे कन्दोंको स्वयं चख-चखकर और परीक्षा करके बादमें भगवान् श्रीरामके लिए निवेदन किया ।

शबरीके द्वारा दिए गए इन बेरोंकी सराहनाका वर्णन विभिन्न कवियोंने अनेक प्रकारसे किया है । एक कविकी उद्भावनाएँ देखिए—

बेर बेर बेर लै सराहैं बेर बेर बहु, 'रसिक बिहारी' देत बन्धु कहँ फेर फेर ।
चाखि-चाखि भाखें यह वाहू तें महान मीठौ, लेहु तो लखन यों बखानत हैं हेर हेर ।।
बेर बेर दैवे को सबरी सुबेर बेर, तऊ रघुवीर बेर बेर ताहि टेर टेर ।
बेर जनि लाओ बेर बेर जनि लाओ बेर, बेर जनि लाओ बेर लाओ जनि बेर बेर ।।

इतना ही नहीं, भक्ति-सुधा-रससे पूर्ण शबरीके बेर इतने मधुर थे कि भगवान् श्रीराम उनकी सराहना करना कहीं भी नहीं भूले—

घर, गुरु–गृह, प्रिय–सदन, सासुरे, भई जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँ कहि सबरी के फलनि की, रुचि माधुरी न पाई ।।

तथा—

तत्ववेत्ता तिहु लोकमें, भोजन किए अपार ।
कै सबरी कै विदुर घर, रुचि मानी द्वै बार ।।

भक्ति-रस-बोधिनी

करत हैं सोच सब ऋषि बैठे आश्रम में, जल को बिगार सो सुधार कैसे कीजिये ।
आवत सुने हैं वन पथ रघुनाथ कहूँ आवैं जब, कहैं याको भेद कहि दीजिये ।।
इतने ही मांझ सुनी, सबरी के विराजे आन, गयो अभिमान, चलो पग गहि लीजिये ।
आप, खुनसाय कही 'नीर कौ उपाय कहौ', गहौ पग भीलिनी के छुए स्वच्छ भीजिये ।।३७।।

अर्थ—उधर आश्रममें बैठे ऋषि इस चिन्तामें थे कि सरोवरका जल जो खराब हो गया है, वह किस तरह ठीक हो । इतनेमें ही उन्होंने सुना कि कहीं वनके मार्गसे श्रीरामचन्द्रजी चले आ रहे हैं । (ऋषियोंने सोचा) जब प्रभु आयेंगे, तब उन्हींसे इसका कारण पूछेंगे (कि सरोवर का जल रुधिरमय और कीड़ोंसे भरा हुआ कैसे होगया और इसे कैसे शुद्ध किया जाय ।) इसी बीच ऋषियोंको समाचार मिला कि श्रीरामचन्द्रजी आ पहुँचे हैं और शबरीके यहाँ ठहरे हैं । यह संवाद सुनते ही उनके ऋषित्वका अभिमान चूर-चूर होगया और एक-दूसरेसे कहने लगे—'आओ, चलकर उनके चरणोंमें प्रणाम करें ।' कुछ अनिच्छासें, कुछ झिझकते हुए तब वे आये और प्रभुसें कहा—'कोई ऐसा उपाय बताइए, जिससें तालाबका पानी शुद्ध हो जाय ।' प्रभुने उत्तर दिया—'इस भीलिनीके पैरोंको छूकर अपने अपराधका प्रायश्चित्त करो और तब इन्हें ले जाकर इनके चरणोंका स्पर्श सरोवरके जल से कराओ । तभी जल निर्मल हो सकेगा और तुम लोग पहलेकी तरह स्नान कर सकोगे ।'

भगवान्‌की आज्ञासें शबरीको जलाशयमें प्रवेश कराया गया और उसका स्पर्श पाते ही जल पूर्ववत् निर्मल हो गया । ऋषियोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा । वे भक्तिमती शबरीके महत्त्वको समझ गये । उनके सामने ही शबरीने भगवान्‌की आज्ञा पाकर उस पार्थिव शरीरको त्याग दिया और उनके परमधामको सिधार गई ।

टीकाकार श्रीप्रियादासजीने सात कवित्तों द्वारा शबरीकी भक्ति-भावना और उसके चमत्कारपूर्ण प्रभावका वर्णन किया है । सेवाकी प्रेरणा शबरीको आश्रम के पवित्र वातावरणसे मिली थी। साधु-सन्तों की परिचर्य्या-द्वारा ही वह आश्रमकी चर्याका अंग बन सकती थी । अपनी योग्यताके अनुसार उसने यह भी निर्णय कर लिया कि इस सेवाका स्वरूप क्या होना चाहिए और उसे अपना लिया–लेकिन चोरी-चोरी । नीच जातिमें उत्पन्न होनेका अभिशाप जो उसके जीवनसे लगा हुआ था ! ऋषिवर मतंगको पहले तो आश्चर्य हुआ—आखिर सेवा और चोरीकी संगति क्या ? लेकिन शीघ्र ही सारा रहस्य उनकी समझमें आगया । अवश्य ही यह कोई ऐसा व्यक्ति है जो अपनी आत्माके परितोष

के लिए ही ऐसा करता है। उसे किसीको अनुगृहीत करनेकी जरूरत न थी और न किसी प्रतिदान या पुरस्कारकी ही। शायद सेवा ही उसका साध्य है—एकमात्र लक्ष्य है। शबरीके सामने आते ही उनकी सब शंकाओंका समाधान होगया। अब कुतूहलका स्थान ले लिया आनन्दने और आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग गई। चले थे दूसरेकी भक्तिका परिचय प्राप्त करने और दे गए परिचय अपना-अपनी श्रद्धा का, अपनी भक्तवश्यताका।

श्रद्धा करनेका कारण था। वह उस जातिमें पैदा हुई थी जिसमें मृगया और शिकारी कुत्तों की संगति सामान्य-चर्या है, क्रूरता धर्म है और माँस-भक्षण दैनिक आहार है। इन लोगोंसे ज्यादा निन्दनीय और कौन होगा? उन भीलोंके परिवारका कोई एक व्यक्ति ऐसा हो सकता है, यह किसने सोचा होगा? मतंग मुनिने देखा, उनके सामने शबरी प्रश्नके रूपमें खड़ी थी, लेकिन प्रश्नका उत्तर भी वह स्वयं थी। भगवान् वेदव्यासजीके शब्द उन्हें स्मरण हो आए—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंकायवनाखसादयः।
ये ऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

—किरात (भील), हूण, आन्ध्र आदि निम्न जातिके लोग तथा अन्य सभी पापी जिनके आश्रयमें जाकर शुद्ध हो जाते हैं, वे बड़े समर्थ हैं। नीच-ऊँचका भेद समाजमें देखा जाता है, भगवान्के दरबारमें तो सब एक पंक्तिमें खड़े होते हैं। यदि ऐसा नहीं है तो जिन बड़े-बड़े पापियोंको भगवान्ने तारा है, उनके पास सिवा भक्तिके और था ही क्या?

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का?
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किं तत् सुदाम्नो धनम्?
वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्?
भक्त्या तुष्यति केवलं न हि गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

—भला व्याधका आचरण क्या कोई अच्छा था? ध्रुवकी अवस्था ही कितनी थी? गजेन्द्र को क्या ज्ञान था? कुब्जा कोई असाधारण रूपवती थी क्या? सुदामाके पास क्या दौलत थी? विदुर किस कुलमें पैदा हुए थे और राजा उग्रसेनने क्या कोई पराक्रम दिखाया था? बात यह है कि भगवान् तो केवल भक्तिसे प्रसन्न होते हैं, न कि गुणोंसे, क्योंकि भक्ति उन्हें सबसे प्यारी है।

तो क्या शबरीको उनके ऐश्वर्य और भक्त-प्रेमका कुछ ज्ञान था? क्या उसे पता था कि वे नीच और पतितोंको भी अपनी शरणमें ले लेते हैं? शायद नहीं। वह तो पवित्र जीवनकी कायल थी। पूर्वजन्मके किसी पवित्र संस्कारके फलस्वरूप वह अब तक इतना ही जान पाई थी, कि उसके अपने वर्गके लोगोंका जीवन इन ऋषियों के जीवनकी तुलनामें अत्यन्त हेय है। इस ज्ञानके साथ ही उसमें वैराग्य-भावनाका उदय हुआ और वह वनमें एकान्त जीवन बिताने लगी। मुनि-मतंगकी कृपासे जब शबरीको मन्त्र-दीक्षा मिली, तब हुआ पहले-पहल उसे यह ज्ञान कि जिन सन्तोंकी सेवासे उसे इतना सुख मिलता है, वे भी किसीके कृपा-कटाक्षकी बाट देखते रहते हैं और उसकी सेवाके निमित्त इन ऋषियोंका जीवन समर्पित हो चुका है। कौन है वह? कैसा है? क्या उसके दर्शन हो सकते हैं? यह शबरीको कुछ नहीं पता था।

मुनि-मतंगने शबरीको बताया—'वह भगवान् श्रीरामचन्द्रजी हैं। बड़े कृपालु हैं–इतने कि एक दिन स्वयं इस आश्रममें पधारकर तुम्हें दर्शन देंगे।'

मतंगका यह आश्वासन-मात्र नहीं था, बल्कि दृढ़ विश्वास था—यह विश्वास कि जन्म-जन्मान्तर तक तप करनेवाले ऋषि भले ही पिछड़ जायँ, पर शबरीके लिए भगवान् दौड़े आएँगे। ऐसा

क्यों ? इसलिए कि शबरी जानती ही नहीं थी कि अभिमान कहते किसे हैं। नीची जातिमें उत्पन्न होने का यह एक ऐसा अमूल्य लाभ था, जिससे बड़े-बड़े तपस्वी वंचित रहते हैं। फिर शबरीकी सेवा स्वयं साध्य थी, साधन नहीं। साधुओंकी सेवाकर स्वर्ग जानेकी अभिलाषा उसके पैदा ही नहीं हो सकती थी। स्वर्ग तो भक्ति-विहीन कर्म-धर्म करनेवालोंके लिए सुरक्षित हैं और मोक्ष ब्रह्मज्ञानियोंके लिए। वह तो बेचारी ज्यादासे ज्यादा मुनियोंका मार्ग बुहार सकती थी।

—वास्तवमें भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए इससे सीधा तथा सरल उपाय और कोई है ही नहीं। 'आदिपुराण'में भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

ये मे भक्तजनाः पार्थ न मे भक्ताश्च ते जनाः।
मद्भक्तानां च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मताः॥

—मेरी आराधना करनेवाले भक्त मेरे उतने भक्त नहीं हैं, जितने कि वे लोग जो मेरे भक्तोंकी भक्ति करते हैं।

मतंग-मुनिको यह चिन्ता न थी कि शबरी-जैसी नीच जातिकी स्त्रीको सेविकाके रूपमें अंगीकार कैसे किया जाय। इस सम्बन्धमें उन्हें किसी प्रकारका संशय या संकोच नहीं था; क्योंकि इसका निर्णय भगवान् स्वयं उद्धवको दे चुके हैं—

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्। भक्तिः पुनाति मन्निष्ठान् श्वपाकानपि सम्भवान्॥

—केवल श्रद्धापूर्ण भक्ति द्वारा मुझे प्राप्त किया जा सकता है। मैं साधुओंकी प्रिय आत्मा हूँ। मेरी भक्ति मुझमें श्रद्धा रखनेवाले चांडालोंको भी पवित्र कर देती है।

तो इस सम्बन्धमें मतंगको कोई दुबिधा नहीं थी। उन्हें तो सोच दूसरा ही था—'परो जाय सोच-सोत कैसे कै निकारिए।' इस शबरीको यह दुःख है कि नीच जातिकी होनेके कारण मैं साधु-सेवा की अधिकारिणी नहीं हूँ। सो इसके इस काँटेको कैसे निकाला जाय ? इसका एक ही उपाय था और वह यह कि साहस करके उन रूढ़ियोंको तोड़ फेंका जाय, जो ऋषियोंको पकड़कर बैठ गई हैं। मतंगने यह करके दिखा दिया और संसारके सामने एक आदर्श उपस्थित करके वे सदाके लिए इस लोकसे बिदा हुए।

शबरीके ऊपर यह दूसरी आपत्ति आई। अब तक तो वह भगवान्‌के वियोगमें ही विकल थी; पर इस गुरुके वियोगने तो उसे मानो मथ डाला। सच पूछा जाय तो यह विकलता नहीं थी–व्यथा नहीं थी, बल्कि शबरीकी सद्‌गतिके लिये भूमिका तैयार हो रही थी; क्योंकि भक्तमें जबतक विकलता नहीं पैदा होगी, तब तक भगवान् क्यों मिलने लगे ? आत्म-शुद्धिका यह तो प्रधान साधन है।

कवित्त संख्या ३० में ऋषियोंके उस अज्ञान और आत्माभिमानका वर्णन किया गया है जिससे बड़े-बड़े ऋषियोंको भी अन्त तक छुटकारा नहीं मिलता। देहाभिमान और आत्माभिमान दोनोंने उन्हें बुरी तरह जकड़ रक्खा था—यहाँ तक कि भक्त और अभक्तमें की भेद-दृष्टि भी उनकी लुप्त हो चुकी थी। धर्मके बाह्य आचारोंको ये धर्मकी आत्मा समझ बैठे थे। हृदयमें छुआछूतकी संकीर्णता अभी बाकी थीं। प्रभु श्रीरामचन्द्रजी जब आश्रममें पधारे, तब तक भी इनका क्षोभ शान्त नहीं हुआ था। कैसी विचित्र बात है ! भगवान्‌के सामने जब ये आए, तब इन्होंने न शरणमें लेने की प्रार्थनाकी और न सद्‌गतिकी कोई अभिलाषा प्रकट की। बस, एक ही धुन सवार थी—'नीर को उपाय कहो।' यह अवसर था इनऋषियोंकी आँखें खोलनेका। भगवान्‌ने अपनी व्यवस्था देदी–'गहो पग भीलनी के।' विषको विष मारता है; काँट्रा काँटेसे निकलता है। अभिमानको मारनेका एक ही

उपाय है–अपनेको तृणसे भी तुच्छ समझो, शबरीसे भी हीन। अपराध तुमने किया है तो प्रायश्चित्त कौन करेगा ?

भगवान्ने ऋषियोंसे शबरीके चरण छूनेको जो कहा, वह केवल इसलिये नहीं कि ऐसा करने से उनके अन्त:करणकी शुद्धि होगी। साथ-ही-साथ वह उस आदर्शकी भी स्थापना करना चाहते थे, जिसका वर्णन गो० तुलसीदासजीने नीचे लिखे दोहेमें किया है—

तुलसी राम हि ते अधिक राम-भक्त जिय जान,
साहिब ते सेवक बड़ो जो निज धर्म सुजान।
राम बाँधि उतरे जलधि कूदि गयो हनुमान॥

सन्तोंका जो एक बारका अपराधी है, वह भगवान्की दृष्टिमें लाख बारका दोषी है। देखिए–

जो दोषी है सन्त को हरि-दोषी लख बार।
भजन करत, सेवा करत बूड़हिगो मँझधार॥
कोटि जन्म सेवो हरी, सन्तनि सों करि रोष।
हरि कबहू रीझैं नहीं, दिन-दिन बाढ़ै दोष॥ (स्वा० ललितकिशोरीदेवजी)
अधिक बढ़ावत आपसे जन–महिमा रघुवीर।
शबरी पदरज परसते स्वच्छ भयौ सरनीर॥

इस प्रसंगमें भागीरथीका चरित्र भी उल्लेखनीय है। राजा भगीरथ जब गंगाजीको स्वर्गसे पृथ्वीतल पर लाए, तो गंगाजीने पूछा—'राजन्! यह तो बताइए कि संसारके पापी तो मुझमें स्नान कर शुद्ध हो जायेंगे, पर मैं उनके पापोंका बोझ किस प्रकार सह सकूँगी;' भगीरथने उत्तर दिया–'गंगे! भगवान्के प्रिय भक्त सारे संसारको पवित्र करते हैं, उनके अंग-स्पर्श से ही तुम्हारे वे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे।

अब हम (कवित्त-संख्या ३६ में वर्णन किए) उस अंशपर आते हैं जिसमें कि आश्रममें बैठकर शबरीके दिए फल खानेके वाद प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'कहा कहौं मेरे मग दुख नाशे हैं।' इस समस्त प्रसंगमें भगवान्के मुखारविन्दसे निकले हुए ये शब्द तनिक ध्यान देने योग्य हैं। प्रभुने शबरीकी सेवासे प्रसन्न होकर उससे कोई वर माँगनेको नहीं कहा और न उसे अपनी भक्ति में निरन्तर लीन रहने का उपदेश किया। लगता है, जैसे भगवान् इस सम्बन्धमें काफी सतर्क रहे कि शबरीको उनके ऐश्वर्य या महिमा का ज्ञान न हो जाय। यदि ऐसा हो गया—यदि कहीं शबरीको इस बात की झलक भी मिल गई कि श्रीरामचन्द्रजी परब्रह्म हैं, तो प्रभुके और शबरीके बीचसे उनकी विशाल सत्ता दीवार बनकर खड़ी हो जायगी। शबरीके हाथों बेर खानेमें जो आनन्द था, वह ब्रह्म-ज्ञानके करोड़ों उपदेशोंमें भी नहीं मिल सकता था। प्रभुकी प्रभुताके आतंकके नीचे तो वह बेचारी दबकर रह जाती। भगवान्ने सोचा, 'इस भीलिनीके भोले हृदयके सौन्दर्यको किसी भी मूल्यपर नष्ट नहीं होने देना चाहिए। और तो और. इसे यह भी नहीं मालूम होने देना चाहिए कि मैंने इसे अनुगृहीत किया है।' इसीलिए उन्होंने यह कहा—'क्या बताऊँ, यहाँ आकर तो मेरी रास्ते की सब थकाबट दूर हो गई।' अभिप्राय यह था कि शबरीको निहाल करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। वहाँ जाकर तो, उल्टे वह स्वयं लाभान्वित हुए। भगवान्की इसी विशेषता को ध्यानमें रखकर किसी कविने ठीक ही कहा है—

मीठे-मीठे चाखि-चाखि बेर लाई भीलनी।
कौन-सी आचारवती, नहीं रूप-रंग-रती, जातिहू में कुलहीन बड़ी है कुचीलनी।
झूठे फल खाये, राम सकुचे न भाव जानि, तुम तो प्रभु ऐसी करी रस की रसीलनी॥

कौन-सी तपस्या कीनी वैकुण्ठ-पदवी दीनो, विमान में चढ़ी जात ऐसी है सुशीलनी ।
सांची प्रीति करे कोई 'अमरदास' तरे सोई, प्रीति ही सौं तरि गई गोकुल-अहीरनी ॥

जिन गोपियोंकी बात ऊपरके पदमें कही गई है; उनसे तो श्रीकृष्णने स्पष्ट कहा था कि मैं तुम लोगोका ऋणी हूँ । यह उदारता सिवा प्रभुके और किसमें हो सकती है ?

श्रीजटायुजी

जटायु विनतानन्दन अरुणके पुत्र थे । उनका एक भाई था जिसका नाम था सम्पाती । एक बार दोनों भाई उड़ानकी होड़ लगाकर आकाशमें बहुत ऊँचे उड़ गए, किन्तु जब सूर्यकी गर्मी असह्य होने लगी तो नीचे उतरकर पञ्चवटीपर रहने लगे, पर सम्पाती सूर्यके पास तक पहुँच गया । भला सूर्य की प्रचण्ड गर्मीको वह कैसे सहन कर सकता था ? उसके पंख झुलस गए और वह आकाश से गिरकर सागरके किनारेपर आ पड़ा । उधर पंचवटीवासी जटायुसे वनवासके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी भेंट हुई । श्रीरामचन्द्रजीने, पूज्य पिताजीके साथी होनेके कारण पक्षिराज जटायुका बड़ा सम्मान किया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

जानकी हरण कियो रावण मरण काज, सुनि सीता-वाणी खगराज दौरचौ आयो है ।
बड़ी ये लराई लीन्ही, देह वारि फेरि दीन्ही राखे प्राण, राम-मुखे देखिबौ सुहायो है ॥
आये आप, गोद सीस धारि दृग-धार सींच्यो, दई सुधि, लई गति तनहू जरायो है ।
दशरथवत मान, कियो जल दान, यह अति सनमान, निज रूप धाम पायो है ॥३८॥

अर्थ—जब रावणने प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके हाथसे मरनेके लिये दंडकवनमें से सीता का अपहरण किया, तो सीताजीका विलाप सुनकर पक्षियोंके राजा जटायुजी दौड़कर आये । उन्होंने रावणके साथ भयंकर युद्ध किया और अन्तमें अपने प्रभुके निमित्त अपना शरीर-बलिदान कर दिया । आप अन्तिम समयमें श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दका दर्शन करना चाहते थे, अतः शीघ्र प्राण नहीं त्यागे । इतनेमें (सीताजीको खोजते हुए) श्रीरामचन्द्रजी घटना-स्थल पर आये और जटायुके मस्तकको अपनी गोद में रखकर उसे प्रेमपूर्ण आँसुओंसे भिगो दिया । जटायु इसके बाद श्रीरामजीको सीताजीका समाचार देकर सद्गतिको प्राप्त हुए । श्रीरामचन्द्रजीने ही अपने हाथों जटायुका दाह-संस्कार किया और उन्हें अपने पूज्य पिता दशरथजीके समान मानकर अत्यन्त सम्मानके साथ तर्पण किया । इस प्रकार जटायुको स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने अपने धाम वैकुण्ठ को पहुँचा दिया ।

जटायुको श्रीदशरथके समान जो सम्मान दिया गया, उसका कारण यह था कि जटायुकी श्रीदशरथजीसे परम मित्रता थी । कहते हैं, एक बार श्रीदशरथजीके राज्यमें जलका दुर्भिक्ष पड़ गया इसकी व्यवस्था करनेके लिये श्रीदशरथजी पहले इन्द्रके पास पहुँचे । इन्द्रने उन्हें शनिके पास भेजा शनिने उनके साथ अत्यन्त बुरा वर्ताव किया—यहाँतक कि रथ-सहित उन्हें स्वर्गसे धकेल दिया । स्वर्ग से गिरते हुए श्रीदशरथजीको एक पर्वतकी शिखरपर बैठे हुए जटायुने थाम लिया और इस प्रकार

उनकी प्राण-रक्षा की। तभी से दोनोंके बीच अगाध प्रीति होगई थी। इसी सम्बन्धके कारण श्रीरामचन्द्रजी ने जटायुको अपने पिताके तुल्य माना।

जटायुके प्रति श्रीरामजीके स्नेहके सम्बन्धमें कवियोंने अनेक सुन्दर छन्दोंकी रचना की है। उनमें से कुछ यहाँ दिये जाते हैं—

दीन मलीन अधीन है अंग विहंग परेउ छिति खिन्न दुखारी।
राघव दीन दयालु कृपालु को देखि दुखी करुणा भई भारी॥
गीध को गोद में राखि कृपानिधि नैन-सरोजनि में भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख, जटायु की धूरि जटान सौं झारी॥१॥

श्री रघुनाथ जू लै खग हाथ निहारैं औ नैननि ते जल डारैं।
टूक ह्वै जात हैं सीता बिथा कै सो याकी सनेह-कथा कै बिचारैं॥
तजि मोहिं चले लगि नीको तुम्हैं, हमें सौंह तिहारी है संग तिहारैं।
यों कहि राम गरो भरि फेरि जटायु की धूरि जटान सौं झारैं॥२॥

श्रीअम्बरीषजी

परम भागवत राजा अम्बरीष वैवस्वत मनुके प्रपौत्र तथा राजर्षि नाभाग के पुत्र थे। सप्तदीपवती इस सम्पूर्ण पृथ्वीके स्वामी होनेके कारण वे अतुल ऐश्वर्य तथा अपार भोग-सामग्रीके अधिकारी होकर भी विषयोंमें बिलकुल अनासक्त और वैराग्यवान् थे। वास्तवमें जिसने श्रीहरिकी उस अमर और अपरिमित रूपमाधुरीका पान किया है, उसे मायाकी मोहकता करीलके फूलके समान सार-हीन और असत्य प्रतीत होती है। अतएव वे दिन-रात भगवान्के ध्यानमें तल्लीन रहते थे। उनका मन समस्त सांसारिक वासनाओं से दूर रहकर सदा भगवान्के चरणारविन्दका चंचरीक बना रहता था। उन्हें न अपने राजत्वका अभिमान था, न शरीरका ध्यान। इसीसे अपने इस प्रियभक्तकी रक्षाके लिए भगवान्ने सुदर्शन-चक्रको नियुक्त कर रखा था।

एक बार भक्तवर राजा अम्बरीषके यहाँ द्वादशीके दिन ऋषि दुर्वासा पधारे। राजाने उचित शिष्टाचार के बाद जब उनसे भोजन करनेकी प्रार्थना की तो वे बोले—"हम अभी स्नान करके आते हैं, तब भोजन करेंगे।" संयोग ऐसा हुआ कि द्वादशी उस दिन दो ही दण्ड थी। अतः इस भयसे कि ऋषिके आते-आते परायण-बेला निकल न जाय, राजाने ब्राह्मणोंके परामर्शसे भगवान्का चरणोदक ग्रहण कर लिया। जब दुर्वासाजीको यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने समझा कि राजाने उनकी अवज्ञा की है। राजाकी भक्ति-भावना से समस्त साधु परिचित थे। उन्होंने कहा—

भक्ति-रस-बोधिनी

अम्बरीष भक्त की जो रीस कोऊ करै और, बड़ो मतिबौर किहूँ जान नहीं भाखिये।
दुरवासा रिषि सीख सुनी नहीं काहू साधु, मानि अपराध सिर जटा खैंचि नाखिये॥
लई उपजाइ कालकृत्या विकरालरूप, भूप महाधीर रह्यौ ठाढ़ो अभिलाखिये।
चक्र दुख मानि लै कृशानु तेज खाख करी, परी भीर ब्राह्मण को भागवत साखिये॥३९॥

अर्थ—'महाराज अम्बरीषकी भक्तिकी यदि और कोई समानता करे तो उसे महान् निर्बुद्धि समझना चाहिये; क्योंकि उनकी भक्ति-भावनाका किसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता।'

दुर्वासा ऋषिने किसी साधुकी शिक्षाको नहीं माना और राजाको अपराधी समझ लिया। इसीलिए राजाके ऊपर कुपित होकर उन्होंने अपनी जटाओंको खोलकर पृथ्वीपर पटक दिया। फिर उन्होंने भयंकर कृत्याको उत्पन्न करके उसे राजाको भस्म करनेकी आज्ञा दी। राजा यह सब देखकर भी तनिक विचलित नहीं हुआ, बल्कि ऋषिको प्रसन्न करनेकी अभिलाषा लेकर खड़ा ही रहा। भगवान्‌के सुदर्शन चक्रने (जो कि राजाकी रक्षाके लिए सदा आस-पास ही रहता था) इसपर बड़ा दुःख अनुभव किया और अग्निके समान अपने प्रचण्ड तेजसे कृत्याको जलाकर भस्म कर दिया। (इतना कर चुकनेके बाद) सुदर्शन-चक्र अब ब्राह्मण दुर्वासाकी ओर दौड़ा। दुर्वासा अपनी जानपर बन आई देख वहाँसे भाग खड़े हुए। श्रीमद्‌भागवतमें यह प्रसंग इसी प्रकार वर्णित हुआ है।

भक्ति-रस-बोधिनी

भाज्यो दिशा-दिशा सब लोक लोकपाल पास, गयो नयो तेज चक्र चून किये डारे हैं।
ब्रह्मा शिव कही यह गही तुम टेव बुरी, दासन कौ भेद नहीं जान्यो वेद धारे हैं॥
पहुँचे वैकुण्ठ जाय कह्यौ दुख अकुलाय, हाय! हाय! राखौ प्रभु! खरो तन जारे हैं।
मैं तो हौं अधीन तीन गुन को न मान मेरे, भक्त-वात्सल्य गुन सब ही को टारे हैं॥४०॥

अर्थ—सुदर्शन-चक्रसे डरकर दुर्वासा ऋषि चारों दिशाओं तथा तीनों लोकोंमें भागते फिरे और यम, इन्द्र, वरुण, कुवेर—इन चारों लोकपालोंकी शरणमें गए, लेकिन किसीने भी नहीं बचाया। चक्रका प्रतिक्षण तीव्र होता हुआ तेज (ज्वाला) ऋषिको जलाकर चूर-चूर किये डालता था। अन्तमें जब ब्रह्मा और शिवकी शरणमें गये, तो उन्होंने कहा—'ऋषिवर! यह तुम्हारी बड़ी बुरी आदत हो चली है कि भगवान्‌के जिन भक्तोंका गुण वेद भी गाते हैं, उनका वास्तविक भेद (रहस्य) न समझकर तुम उनसे उलझ जाते हो।' इसके अनन्तर दुर्वासाजी वैकुण्ठमें पहुँचे और दुःखसे घबड़ाकर त्राहि! त्राहि!! करते हुए उन्होंने हरिसे पुकार की—'भगवन्! मेरी रक्षा कीजिए; यह चक्र तो मेरे अंगोंको जलाये डाल रहा है! (हे प्रभो! शास्त्र बतलाते हैं कि आप शरणागत-पालक हैं, भक्तजन-आर्तिनाशक हैं और ब्रह्मण्यदेव हैं। मैं आपके इन तीनों गुणों द्वारा रक्षा किए जानेका पात्र हूँ; क्योंकि इस समय आपकी शरणमें आया हूँ चक्र-द्वारा सताया गया हूँ और ब्राह्मण हूँ।') भगवान्‌ने उत्तर दिया—'ऋषे! आप ठीक कहते हैं; पर क्या करूँ, मैं लाचार हूँ। मैं तो स्वतन्त्र नहीं हूँ—भक्तोंके अधीन हूँ। रही शरणागत-पालकता आदि गुणोंकी, सो उनका महत्त्व मेरे लिए अधिक नहीं है; क्योंकि भक्त-वत्सलता एक ऐसा गुण है जिसके सामने ये तीनों गुण तुच्छ पड़ जाते हैं॥

भक्ति-रस-बोधिनी

मोकों अति प्यारे साधु उनकी अगाध मति, करचौ अपराध तुम सह्यौ कैसे जात है ?
धाम, धन, वाम, सुत, प्राण, तनु त्याग करैं, ढरैं मेरी ओर निसि भोर मोसों बात है ॥
मेरेउ न सन्त बिनु और कछु सांची कहौं, जाओ वाही ठौर जाते मिटै उतपात है ।
बड़ेई दयाल सदा दीन प्रतिपाल करैं, न्यूनता न धरैं कहूँ भक्ति गात गात है ॥४१॥

अर्थ—भगवान्ने कहा—'साधु-जन मुझे अत्यन्त प्रिय हैं; क्योंकि उनकी मुझमें अगाध श्रद्धा है। तुमने मेरे उन्हीं भक्तोंके प्रति अपराध किया, यह भला मैं कैसे सहन कर सकता हूँ ? भक्त-गण मेरे लिए अपना घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, प्राण और शरीर सब कुछ त्याग देते हैं और सब प्रकारसे मेरे हो जाते हैं। रात-दिन मेरे सम्बन्धकी चर्चा करनेके अतिरिक्त उनके और कोई काम नहीं हैं। सच बात तो यह है कि मेरे पास भी इन सन्तोंकी देख-भालके अतिरिक्त और कुछ काम नहीं है। इसलिए अब तुम उन्हीं अम्बरीषकी शरणमें जाओ जिससे कि यह सब उपद्रव शान्त हो। (तुम्हें यह संकोच नहीं करना चाहिए कि अम्बरीष तुम्हें क्षमा नहीं करेंगे) वे बड़े दयावान् और शरणमें आये हुए दीनोंका पालन करनेवाले हैं। उनकी आत्मामें द्रोह, मात्सर्यजैसी किसी बुरी भावनाके लिए स्थान नहीं है, क्योंकि उनका अङ्ग-अङ्ग मेरी भक्तिसे परिपूर्ण है।'

—भगवान्के उक्त कथनका समर्थन शास्त्रोंके वचनसे भी प्रमाणित होता है। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें लिखा है—

लक्ष्मीः प्राणाधिका शश्वन्नास्ति कोऽपि ततोऽधिका ।
भक्तान् द्वेष्टि स्वयं सा चेत् तूर्णं त्यजति तां विभुः ॥

—लक्ष्मीजी भगवान्को प्राणोंसे भी प्यारी हैं—उनसे अधिक प्रिय उन्हें और कोई नहीं है। किन्तु यदि वे भी भक्तोंसे वैर करने लगें, तो भगवान् उनको भी तुरन्त त्याग देंगे।

शिवजीका कथन है—

महति प्रलये ब्रह्मन् ब्रह्माण्डेऽपि जलप्लुते ।
न तत्र नाशो भक्तानां सर्वेषां च भविष्यति ॥

—चाहे सर्वत्र प्रलय हो जाय और समस्त ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाय, किन्तु ऐसी स्थितिमें भी भक्तोंका नाश नहीं हो सकता है।

भक्ति-रस-बोधिनी

ह्वै करि निरास ऋषि आयो नृप पास चल्यो, गर्व सों उदास पग गहैं दीन भाष्यो है ।
राजा लाज मानि मृदु कहि सनमान करचो, ढरचो चक्र ओर कर जोर अभिलाष्यो है ॥
भक्त निसकाम कभूं कामना न चाहत हैं, चाहत हों विप्र दूरि करो दुख चाख्यो है ।
देखि कै विकलताई सदा सन्त सुखदाई, आई मनमाँझ सब तेज ढाँकि राख्यो है ॥४२॥

अर्थ—(ऊपर कहे गए हरिके वचनोंको सुनकर) ऋषि दुर्वासा निराश होकर तथा अभिमानसे उदासीन होकर—अर्थात् अपने अभिमानको तिलांजलि देकर—वहाँसे चल दिये और राजा अम्बरीषके पास आये। आते ही ऋषिने राजाके पैर पकड़ लिए और

दीनता-भरी वाणीसे क्षमा माँगी। इस पर राजाको बड़े संकोचका अनुभव हुआ। उन्होंने कोमल वचनोंसे मुनिका आदर-सम्मान किया और तब सुदर्शन-चक्रकी ओर मुँह करके हाथ जोड़कर इस प्रकार अपनी अभिलाषा प्रकट करते हुए प्रार्थना की—'हे सुदर्शनदेव ! भगवान्‌के भक्तोंको कुछ नहीं चाहिए—उनकी कोई अभिलाषा नहीं होती-तो भी मैं इतनी अवश्य प्रार्थना करूँगा कि इन ब्राह्मणने बहुत दुःख भोग लिया है, अतः अब आप इनका दुःख दूर करिए।' भक्त-जनोंको सुख देनेवाले सुदर्शन-चक्रके मनमें राजाकी प्रार्थना सुनकर तथा उन ब्राह्मण दुर्वासाको अत्यन्त घबड़ाया हुआ देखकर दया आ गई और उन्होंने अपने सब तेजको समेट लिया।

भक्ति-रस-बोधिनी

एक नृप सुता सुनि अंबरीष भक्ति–भाव, भयो हिय भाव ऐसो वर कर लीजियै।
पिता सौं निशंक ह्वै कै कही पति कियो मैं ही, विनयमानि मेरी बेगि चीठी लिख दीजियै॥
पाती लै कें चल्यो विप्र छिप्र वही पुरी गयो, नयो चाव जान्यो ऐपै कैसे तिया धीजियै।
कहो तुम जाय रानी बैठी सत आय, मोको बोल्यो न सुहाय प्रभु सेवा माँझ भीजियै॥४३॥

अर्थ—राजा अम्बरीषकी भगवान्‌में ऐसी भक्ति देखकर किसी राजाकी लड़कीके हृदयमें यह विचार आया कि उन्हें पति-रूपमें वरण करना चाहिए—अर्थात् उनके साथ विवाह कर लेना चाहिये। ऐसा निश्चय करके उसने विना किसी संकोच और लज्जाके अपने पिताजीसे कहा—'मैंने अम्बरीषको अपना पति मान लिया है, अतः मेरी विनय मानकर राजाको इस आशय का एक पत्र लिख दीजिये।' एक ब्राह्मण इस प्रकारका पत्र लेकर चला और शीघ्र ही उस नगरीमें पहुँच गया जहाँ अम्बरीष रहते थे। राजाने पत्र पढ़कर ब्राह्मणसे कहा—'मैंने राजकन्या की इस नूतन अभिलाषा को समझ लिया है, पर इतनेपर भी मैं कैसे उसे पत्नीके रूप में स्वीकार करूँ? तुम उससे जाकर कहना—'मेरी तो पहले ही सौ रानियाँ घरमें बैठी हैं। उनसे मुझे बातें करना तक अच्छा नहीं लगता, क्योंकि मैं तो प्रभुकी सेवामें दिन-रात लगा रहता हूँ और उन्हींके रंगमें सराबोर हूँ।'

भक्ति-रस-बोधिनी

कह्यौ नृपसुता सौं कीजिये यतन कौन, पौन जिमि गयो आयो काम नाहीं बिया को।
फेरिकै पठायो सुख पायो मैं तो जान्यो वह, बड़े धर्मज्ञ वाके लोभ नहीं तिया को॥
बोली अकुलाय मन भक्ति ही रिझाय लियो, कियो पति सुख नहीं देखौं और पिया को॥
जाइ के निशंक यह बात तुम मेरी कहौ, चेरी जौ न करौ तो पै लेवो पाप जिया को॥४४॥

अर्थ—ब्राह्मणने राजाके यहाँसे लौटकर राजपुत्रीसे कहा—'अब क्या उपाय किया जाय ? मैं हवा की तरह गया और आया, पर काम रत्तीभर (वियाभर) भी नहीं हुआ। राजकन्याने ब्राह्मण को फिर वापिस करने हुए कहा—'राजाका उत्तर सुनकर मुझे बड़ा

आनन्द हुआ। मैंने समझ लिया कि वे बड़े धर्मात्मा हैं और उन्हें स्त्रीका कोई लोभ नहीं है।' वह घबड़ाकर फिर कहने लगी—'उनकी भक्तिने ही मुझे उनपर लट्टू कर दिया है और मैं उन्हें अपना पति बना चुकी हूँ। अब मैं और किसी दूसरे पुरुषका मुँह नहीं देखूँगी। तुम साफ-साफ उनसे कह देना—यदि मुझे वे अपनी दासी नहीं बनायेंगे, तो मेरे प्राण लेनेके पापके भागी बनेंगे।'

भक्ति-रस-बोधिनी

कही विप्र जाय सुनि चाय भहराय गयो, दयो लै खड़ग यासों फेरा फेरि लीजियै।
भयो जु विवाह उत्साह कहूँ मात नाहिं, आई पुर अम्बरीष देखि छबि भीजियै॥
कह्यौ 'नव मन्दिर में झारि कै बसेरो देवो, देवो सब भोग विभो नाना सुख कीजियै।
पूरब जनम कोऊ मेरे भक्ति गन्ध हुती, याते सनबंध पायो यहै मानि धीजियै॥४५॥

अर्थ—ब्राह्मणने फिर जाकर राजासे राजकन्याका संकल्प कहा, तो अम्बरीष उसका ऐसा प्रेम देखकर अधीर हो उठे और ब्राह्मणको अपनी तलवार देते हुए कहा—'इसके साथ भाँवर डाल लेना।' विवाह हो जानेपर राज-कन्या आनन्दके कारण फूली नहीं समाई। वह अब अपने पतिके नगरको आई। अम्बरीषने राज-कन्याकी प्रेम-पूर्ण रूप-माधुरीको देखा तो (यह सोचकर कि मेरी तरह यह भी भगवान्‌की भक्त है) आनन्द से विह्वल हो गये। उन्होंने अन्तःपुरकी सेविकाओंको आज्ञा दी—'नये मन्दिरमें इनके रहनेका प्रबन्ध करो और सब प्रकारके भोग-विलास के साधन प्रस्तुत करो, जिससे कि ये विविध प्रकारके सुख भोग सकें। मैं तो ऐसा मानता हूँ कि मेरा और इनका पूर्व जन्मका कोई भक्ति-भावना-प्रधान सम्बन्ध है, इसी कारण मैंने इन्हें इस रूपमें प्राप्त किया है।'

भक्ति-रस-बोधिनी

रजनी के सेस पति-भौन में प्रवेश कियो, लियो प्रेम साथ, ढिग मन्दिर के आइये।
बाहिरी टहल पात्र चौका करि रीझि रही, गही कौन जाय जामें होत न लखाइये॥
आवत ही राजा देखि लगे न निमेष क्यों हू, कौन चोर आयो मेरी सेवा ले चुराइये।
देखी दिन तीनि, फेरि चीन्ह के प्रवीन कही, ऐसो मन जो पै प्रभु माथे पधराइये॥४६॥

अर्थ—एक दिन रातके अन्तिम प्रहरमें रानीने अकेले—केवल पतिके प्रेमको साथ लेकर—पतिके महलमें प्रवेश किया और भगवान्‌के मन्दिरके पास पहुँचकर ऊपरी सेवा—अर्थात् ठाकुरजीके बर्तन माँजना, चौका लगाना आदि करके मनसे प्रसन्न होती हुई अपने महलोंको चली आई, जिससे कि कोई देख न ले। इस प्रकार रातमें चुपचाप सेवा करते हुए रानीको कौन पकड़ता? राजाने यह देखा तो बड़ा चकित हुआ। अब रातको उनके पलक कैसे लगते? वह तो इस सोचमें थे कि यह कौन चोर है, जो इस

प्रकार-चुपकेसे मेरी सेवा-सम्पत्तिको चुरा ले जाता है ? तीन दिन तक राजाने छुपकर देखा और रानीको पहिचानकर कहा—'यदि भगवान् की सेवामें तुम्हारी ऐसी रुचि है तो अपने सिरपर ही सेवाका भार क्यों नहीं ले लेतीं; अर्थात्—अपने महलोंमें ही एक मन्दिर बनवालो और वहीं सेवा किया करो ।'

भक्ति-रस-बोधिनी

लई बात मानि मानो मंत्र लै सुनायो कान, होत ही बिहान सेवा नीकी पधराई है ।
करति सिंगार फिर आपु ही निहारि रहै, लहै नहीं पार दृग झरी-सी लगाई है ।।
भई बढ़वार राग-भोग सों अपार भाव, भक्ति-विस्तार-रीति पुरी सब छाई है ।
नृप हू सुनत अब लागी चोप देखिबे की, आये तत्काल मति अति अकुलाई है ।।४७।।

अर्थ—राजाकी बात रानी इतनी जल्दी मान गई, मानो गुरु-मंत्र कानमें पड़ गया हो । प्रातःकाल होते ही रानीने अपने मन्दिरमें ठाकुरजीकी मूर्तिको विधिपूर्वक विराजमान कर दिया । ठाकुरजीका श्रृङ्गार वह अपने हाथों करती और उनकी सुन्दर शोभाको एकटक निहारा करती । ठाकुरजीकी युगलमूर्ति उसे प्रतिक्षण और भी सुन्दर होती हुई दीख पड़ती और इस प्रकार उनकी अनन्त छविको देखते-देखते उसकी तृप्ति ही नहीं होती थी । आनन्दकी अधिकतासे रानीकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी-सी लग जाती । धीरे-धीरे श्रीकृष्ण-प्रेममें रानीका हृदय डूबता ही चला गया और उनके भोग-रागमें रुचि दिन-दूनी बढ़ती चली गई । परिणाम यह हुआ कि रानीकी बढ़ती हुई भक्तिकी कहानी और भगवान्की उपासना करनेकी उसकी रीतिकी चर्चा सारे नगरमें फैल गई । राजाके कानोंमें जब यह बात पहुँची तो उनकी भी रानीके ठाकुरके दर्शन करनेकी इच्छा इतनी प्रबल हुई कि एकदम अधीर हो उठे ।

भक्ति-रस-बोधिनी

हरे हरे पाँव धरें, पौरियान मने करे, खरे अरबरे, कब देखौं भागभरी कों ।
गये चलि मन्दिर लौं, सुन्दरि न सुधि अंग, रंग भीजि रही, दृग लाइ रहे झरी कों ।।
बीन लै बजावै, गावै, लालन रिझावै, त्यों-त्यों अति मन भावै, कहै धन्य यह घरी कों ।
द्वार पै रह्यौ न जाय, गए ढिग ललचाय, भई उठि ठाढ़ी देखि राजा गुरु हरी कों ।।४८।।

अर्थ—राजा धीरे-धीरे पैर रखते हुए (कि आहट होनेसे रानीको पता न लग जाय) और द्वारपालोंसे (इशारेसे) मना करते हुए (कि मेरे आनेकी सूचना देनेकी जरूरत नहीं है) मन्दिरके पास पहुँचे । उनका मन ऐसी सौभाग्य-शालिनी रानीको देखनेके लिए अत्यन्त आतुर हो रहा था । जाकर क्या देखते हैं कि रानीको अपने शरीरका होश नहीं है, भगवान्के प्रेमानन्दमें वह सरावोर है और आँखोंसे अनवरत आँसू गिर रहे हैं । वीणा बजाती हुई और भगवान्का गुण-गान करती हुई वह अपने लाल (प्यारे) को प्रसन्न कर रही है । राजाने ज्यों-ज्यों इस दृश्यको देखा, त्यों-ही-त्यों

रानी उन्हें अधिकाधिक प्यारी लगने लगी और वह मन में कहने लगे–'अहोभाग्य मेरे जो यह समय देखनेको मिला।' उनसे अब दरबाजे पर खड़ा न रहा गया। भगवद्-दर्शनका और भी निकटसे आनन्द लेनेके लिये वे ललचाकर रानीके पास ही जा खड़े हुए। राजाको देखकर रानी उठकर खड़ी हो गई, क्योंकि वह उसके पति, गुरु और हरि तीनों थे।

यहाँ शंका हो सकती है कि यदि रानी भगवान्के ध्यानमें इतनी मग्न थी कि उन्हें अपने अङ्गोंकी भी सुधि भूल गई थी, तो राजाकी उपस्थितिका पता उन्हें कैसे लग गया ? इसका समाधान करनेके लिए प्रियादासजीने लिखा है—'देखि राजा, गुरु, हरी को।' पहले तो राजा होना कोई साधारण बात नहीं। राजामें ईश्वरीय अंश रहता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इसी लिए कहा है—"नराणां च नराधिपः।" अर्थात्—मैं मनुष्योंमें राजा हूँ। दूसरे, अम्बरीष केवल राजा ही नहीं थे, वे गुरु भी थे,क्योंकि उन्होंने ही रानीको अपना निजी ठाकुर-विग्रह विराजमान कर सेवा करनेका उपदेश दिया था। यह एक प्रकारकी दीक्षा ही थी। भला गुरुके आगमनकी अवहेलना रानी कैसे कर सकती थी ? वह तो एक भारी अपराध होता। तीसरे, पति और गुरु होनेके कारण राजा श्रीकृष्ण-तुल्य थे।

भक्ति-रस-बोधिनी

वैसे ही बजाओ बीन तानिनि नवीन लैकै, झीन सुर कान परै जात मति खोइये।
जैसे रंग भीजि रहीं कही सो न जाति मो पै, ए पै मन नैन चैन कैसे करि गोइये॥
करि कै अलापचारी फेरिकै सँभारि तान, आइ गयो ध्यान रूप ताहि मांझ भोइये।
प्रीति रसरूप भई, राति सब बीत गई, नई कछु रीति अहो ! जा में नहिं सोइये॥४६॥

अर्थ—(अपने आनेसे रानीकी सेवामें जो विघ्न पड़ा, वह राजासे देखा नहीं गया। रानीको खड़े होनेसे रोकते हुए) राजाने कहा–'नई-नई तान लेकर जिस प्रकार वीणा बजा रही थीं, वैसे ही बजाती रहो, ताकि तुम्हारे गाने-बजानेका मधुर और झीना स्वर मेरे कानोंमें पड़ता रहे। मेरा मन तथा बुद्धि इस संगीतमें खो गये हैं–अर्थात् मेरा सारा अस्तित्व संगीतमें डूब गया है। भगवान्के प्रेम-रंगमें तुम जिस प्रकार भीग रही हो, उसका वर्णन मुझसे नहीं हो सकता। ऐसी दशामें मेरे मन तथा नेत्रोंको जो शान्ति, जो सुख मिल रहा है, उसे मैं कैसे छिपा सकता हूँ ? (वाणीसे उस आनन्दका वर्णन भले ही न किया जा सके, पर मेरे हृदय और नेत्र तो उसे स्पष्ट बता रहे हैं)।' इस वार रानीने अलापचार करके और तानको सँभालकर फिरसे जो गाया, तो रानी और राजाके ध्यानमें भगवान्की अनुपम रूप-माधुरीकी छवि ज्यों-की-त्यों उतर आई और वे दोनों उसीमें लीन हो गए। दोनोंकी भगवद्-विषयक प्रीति अब शुद्ध आनन्दस्वरूपा हो गई और इसी प्रकार उस अनुरागके समुद्रमें डूबते-उतराते सारी रात बीत गई और पता भी न लगा। प्रीतिकी रीति कुछ ऐसी ही अनोखी है। उसमें नींद कहाँ ?

भक्ति-रस-बोधिनी

बात सुनी रानी और राजा गए नई ठौर, भई सिरमौर अब कौन बाकी सर है ।
हम हूँ लै सेवा करैं, पति-मति वश करैं, धरैं नित्य ध्यान विषय-बुद्धि राखी धर है ।।
सुनि कै प्रसन्न भये अति अम्बरीष ईस लागी चोप फैल गई भक्ति घर-घर है ।
बढ़ै दिन-दिन चाव, ऐसोई प्रभाव कोई, पलटै सुभाव होत आनँद को भर है ।।५०।।

अर्थ—और रानियोंने जब सुना कि राजा पिछली रात नई रानीके मन्दिरमें गए थे और रात-भर वहीं कीर्तन किया, तो उन्होंने सोचा कि भगवद्-भक्तिके कारण यह नई रानी तो राजा की सिरमौर हो गई—अर्थात् सब रानियों से अधिक कृपापात्र बन गई, अब इसकी समानता (सर) भला कौन कर सकता है ? तब सबने यह निश्चय किया कि हमें भी इसी प्रकार भगवान्‌की सेवा करके पतिके मनको अपने वशमें कर लेना चाहिये । फिर तो सब रानियाँ विषयों की ओर से अपनी प्रवृत्तिको हटाकर भगवान्‌का ध्यान करने लगीं । अम्बरीषको जब यह मालूम हुआ तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई । अब तो प्रजा-जनों को भी भगवान्‌की सेवा करनेकी चाट पड़ गई और घर-घरमें हरि-भक्तिका प्रचार हो गया । यह चाव दिन-दिन बढ़ता ही चला गया । भक्ति का ऐसा ही विलक्षण प्रभाव है । इससे मनुष्यका स्वभाव बिल्कुल बदल जाता है और वह आनन्दमय हो जाता है ।

भगवान्‌की भक्तिके द्वारा मनुष्यका स्वभाव कैसे बदल जाता है, इसका एक दृष्टान्त नीचे दिया जाता है—

एक व्यक्ति किसी धनिक महाजनकी पुत्रीपर आसक्त हो गया और उसे लगा कि उसे वह लड़की नहीं मिली तो प्राण नहीं रहेंगे । लड़कीके विरहमें वह व्याकुल रहने लगा और घर-द्वारका सब काम-काज छोड़कर पड़ गया । अपने पतिकी इस प्रकार दिन-दिन गिरती हुई हालतको देखकर स्त्रीने इसका कारण पूछा तो उसने सच-सच सारा हाल कह सुनाया । उसकी स्त्रीने इसपर, उसे आश्वासन दिया कि आप चिन्ता मत कीजिए; मैं इसका अभी उपाय किये देती हूँ । यह कहकर वह महाजनकी लड़कीके पास स्वयं गई और उससे सब हाल कहकर बोली—"यह मेरे पतिकी प्राण-रक्षाका प्रश्न है यदि वह मर गया, तो यह पाप आपको लगेगा ।" लड़की बड़े धर्म-संकटमें पड़ गई । एक ओर अपने चरित्रकी रक्षा करनी थी और दूसरी ओर एक व्यक्तिके प्राण बचानेका सवाल था । अन्तमें उसे एक उपाय सूझा । उसने उस स्त्रीसे कहा—"अपने पतिसे जाकर यह कह दीजिए कि वह वनमें जाकर एकान्तमें श्रीकृष्णके चरणोंका चिन्तन करें । भगवान्‌का ध्यान करते-करते जब वे तन्मय होने लगेंगे तब मैं एक दिन अवश्य आऊँगी ।" उस व्यक्तिने ऐसा ही किया और गृह-दारा सबका परित्याग कर भगवान्‌की आराधनामें जुट गया । धीरे-धीरे उसकी कीर्ति इतनी फैली कि दूर-दूरसे लोग उसके दर्शनार्थ आने लगे । एक दिन महाजनकी बेटीने भी सोचा कि चलकर देखना चाहिए कि कैसा भजन करता है । वह मिठाई-पकवानके कई थाल सजाकर वहाँ पहुँची और प्रणाम कर निवेदन किया—"कृपाकर आँखें खोलिए; मैं आपके लिए प्रसाद लाई हूँ । इसे ग्रहणकर मुझे कृतार्थ कीजिए ।" इतना कहनेपर भी जब उस व्यक्तिकी समाधि नहीं टूटी तो महाजनकी पुत्रीने सब लोगोंको हटाकर एकान्त

में कहा—"महाराज ! मैं वही हूँ, जिसके लिए आपने इतने दिनों तक भजन किया है। अब मैं आ गई हूँ।" उस व्यक्तिने धीरे-धीरे आँखें खोलीं और मुस्कराकर कहा—"महाजनकी पुत्री ! यह तुमने ठीक कहा कि तुम वही हो, पर मैं तो अब वह नहीं रहा।"

श्रीविदुरजी

श्रीविदुरजी यमराजजीके अवतार थे। माण्डव्य ऋषिके शापके कारण यमराजकी दासीके गर्भसे अवतार लेकर धृतराष्ट्र तथा पाण्डुका भाई होना पड़ा था। विदुरजी महाराजा धृतराष्ट्रके प्रेमी थे। परम धार्मिक होनेके कारण वे महाराज धृतराष्ट्रको सदा सच्ची और हितकारी सलाह दिया करते थे। जब दुर्योधनने पाण्डवोंको लाक्षागृहमें जलानेका प्रयत्न किया तब श्रीविदुरजीने ही उनकी रक्षा की थी। कौरवोंके द्वारा भरी सभामें द्रोपदीको अपमानित किए जानेपर वे उन्हें धिक्कारते हुए सभासे बाहर चले गए थे। पाण्डवोंके वनवासके समय देवी कुन्ती तेरह वर्ष तक इन्हींके पास रही थी। श्रीविदुरजीने कभी भी अन्याय, असत्य और दुराचारका पक्ष नहीं लिया। श्रीप्रियादासजी द्वारा वर्णित इस प्रसंगसे उनकी भक्ति-भावनाका पता चलता है।

यह घटना उस समयकी है जब श्रीकृष्ण पाण्डवोंके दूत बनकर सन्धिका संदेश लेकर कुरुराज दुर्योधनसे मिलने गए थे। दुर्योधन जानता था कि पाण्डवोंपर श्रीकृष्णका प्रभाव है, अतः नीतिके अनुसार उसने श्रीकृष्णका स्वागत करनेके लिए सारे नगरको तरह-तरहसे सजवाया और भाँति-भाँति के व्यन्जन भोजनके लिए उनके सामने प्रस्तुत किये। श्रीकृष्णने उनकी ओर देखा भी नहीं और विदुरजी के यहाँ अतिथ्य ग्रहण किया।

भक्ति-रस-बोधिनी

न्हात ही विदुरनारि अंगनि पखारि करि, आइ गये द्वार कृष्ण बोलि कै सुनायो है।
सुनत ही स्वर सुधि डारि लै निदरि, मानो राख्यो मद भरि, दौरि आनि कै चितायो है॥
डारि दियो पीतपट, कटि लपटाय लियो, हियो सकुचायो, वेष वेगि ही बनायो है।
बैठी ढिग आइ, केरा छीलि छिलका खवाइ, आयो पति खीज्यो, दुख कोटि गुनो पायो है ॥५१॥

अर्थ—जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण विदुरजीके दरवाजेपर पहुँचे उस समय उनकी स्त्री मात्र एक ही वस्त्र होनेसे नग्न होकर नहा रही थी। आते ही श्रीकृष्णने बाहर से आवाज लगाई। बिदुरानीने सुनते ही श्रीकृष्णकी आवाज पहिचान ली और सुध-बुध भूल गई, जैसे उस स्वरमें कोई आकर्षण हो। वस्त्र पहने बिना ही वह ज्यों-की-त्यों दौड़ आई और किवाड़ खोलकर भगवान्‌के दर्शन किये। भगवान्‌ने जब उनका यह हाल देखा तो झटसे कमरसे लिपटा हुआ पीताम्बर उनके शरीरपर डाल दिया। अब विदुरानीको होश आया। वह बड़ी लज्जित हुई और जल्दी ही अन्दर जाकर कपड़े पहिन आई। इसके अनन्तर वह श्रीकृष्णके पास आकर बैठ गई और खिलानेके लिए लाए हुए केलोंको छील-छीलकर (प्रेममें वेसुध होनेके कारण) केलाके बजाय छिलका खिलाने लगीं। इतनेमें पतिदेव श्रीविदुरजी भी आगए। उन्होंने यह दृश्य देखा, तो अपनी पत्नीपर बहुत झल्लाये। विदुरानीको जब अपनी भूल मालूम हुई तो उन्हें बड़ा कष्ट हुआ।

करोड़ों कामदेवोंसे भी अधिक सुन्दर श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीकी पहली झलकपर तन-मनकी सुधि भूल जानेका सुन्दर वर्णन रीतिकालीन बहुतेरे कवियोंने किया है। एक बानगी देखिए—

फूली साँझ के सिंगार, सूही सारी जुही हार, सोने सों लपेटी गौरी गौने की-सी आई है ।
'आलम' न फेरफन्द जाने कछु चन्दमुखी, दीपक बराबन को नन्दभवन लाई है ॥
जोति के जुरत ही में जुरे नैना दुरे जाइ, चातुरी अचेत भई चितयो कन्हाई है ।
बाती रही हाती छबि छाती रसमाती पूर, पाँगुरी भई है मति आँगुरी लगाई है ॥

भक्ति-रस-बोधिनी

प्रेम को बिचार आप लागे फलसार दैन, चैन पायो हिये, नारि बड़ी दुखदाई है ।
बोले रीझि श्याम तुम कीनों बड़ो काम ऐपै स्वाद अभिराम वैसी वस्तु मैं न पाई है ॥
तिया सकुचाय, कर काटि डारौं हाय ! प्रान-प्यारे को खवाये छीलि छिलका न भाई है ।
हित ही की बात दोऊ पार पावैं नाहिं कोऊ, नीके कै लड़ावै सोई जानै, यह गाई है ॥५२॥

अर्थ—अपनी पत्नीके प्रेमके कारण हुई भूलको विचारकर श्रीविदुरजी भगवान्‌को केला के फल खिलाने लगे। अब उनके हृदयको शान्ति मिली। फिर भी बार-बार यही सोचते रहे कि इस स्त्रीने छिलका खिलाकर भगवान्‌को बड़ा कष्ट दिया। इसपर भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा—'विदुरजी ! आपने यह काम ठीक किया कि मुझे केले खिलाये, पर सच बात तो यह है कि इतनेपर भी जैसा स्वाद उन छिलकोंमें मिला था, वैसा इन केलोंकी गिरीमें नहीं मिला।' उधर श्रीविदुरानी अपने मनमें कह रही थी-'हाय ! मैं क्या करूँ इन हाथोंको काटडालूँ, जिन्होंने असली केला तो छीलकर फेंक दिया और छिलका खिला दिया। यह क्या उन्हें अच्छे लगे होंगे ?' टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं, कि छिलका और केलाकी गिरी दोनों प्रेमके ही कारण भगवान्‌को खिलाए गए थे। वास्तवमें प्रेम की थाह पाना कठिन है। प्रेमके तत्त्वको वही पहिचानता है, जो भगवान्‌को लाड़ लड़ाता है—अर्थात् जिसका प्रत्येक सेवाकार्य प्रेमानन्द से प्रेरित होता है। मैं तो उस प्रेमका गायक-मात्र हूँ। प्रेमके रसको भला मैं क्या जानूँ ?

श्रीसुदामाजी

भक्ति-रस-बोधिनी

बड़ो निसकाम सेर चून हू न धाम, ढिग आई निज भाम, प्रीति हरि सों जनाई है ।
सुनि सोच परचौ हियो खरो अरबरचौ, मन गाढ़ो लैकै करचौ बोल्यो हाँ जू सरसाई है ॥
जावो एक बार वह वदन निहार आवो, जो पै कछु पावो, ल्यावो मो को सुखदाई है ।
कही भलो बात सात लोक में कलंक ह्वै है, जानियत याही लिये कीनी मित्रताई है ॥५३॥

अर्थ—श्रीसुदामाजी भगवान् श्रीकृष्णके निष्काम भक्त थे। गरीब होनेके कारण घरमें कभी सेर-भर आटा भी नहीं जुटता था। एक दिन उनकी धर्मपत्नी उनके पास गई और उन्हें याद दिलाई कि आप और श्रीकृष्ण तो परम मित्र हैं। पत्नीकी बात सुन-

कर और उसके मन का अभिप्राय समझकर सुदामाजी बड़े असमंजसमें पड़ गए, लेकिन मनको मजबूत बनाकर बोले 'हाँ, उनका और मेरा बड़ा सरस सम्बन्ध है।' इसपर ब्राह्मणीने कहा—'एक बार श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन तो कर आओ और जो कुछ (थोड़ा-बहुत) वहाँसे मिले, ले आओ; मुझे उतने से ही बड़ा सुख होगा।' सुदामाजी ने कहा—'बात तो ठीक कही तुमने, पर मेरे लिए तो सारे संसारमें मुँह दिखानेको जगह नहीं रह जायगी। लोग कहेंगे कि सुदामाने श्रीकृष्णसे इसलिए मित्रता की थी'

इस प्रसंगको लेकर नरोत्तमदासकी कल्पनाका सुन्दर चमत्कार नीचे दिये गए पदोंमें देखिये—

आवति है लाज भारी जात ब्रजराजजू पै, बसन समाज देखि खरौ मरि जाइये।
एक ही पिछौरी सो तो ठौर-ठौर फाटि रही, ओढ़िये निशा को जासों प्रात उठि न्हाइये।
एक ही पिछौरी सो तो ठौर-ठौर फाटि रही, ओढ़िये निशा को जासों प्रात उठि न्हाइये।।
भेंट ऐसी नाहीं जो ले जाइए भगवंत जू पैं, अंतक भई है नारि कौ लौं समुझाइये।
देह पर मांस जौं लौ नासिका में श्वास तौ लौ, बड़ो उपहास मांगि मीत न सताइये।।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

तैं तो कही नीकी सुनि बात हित ही की, यही रीति मितई की नित प्रीति सरसाइये।
मित्र के मिलैं ते चित्त चाहिये परसपर, मित्र के जो जेंइए तो आपहू जेंवाइये।।
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप, तहाँ यहि रूप जाइ कहा सकुचाइये।
सुख-दुख करि दिन काटे ही बनेंगे भूलि, विपति परे पै द्वार मित्र के न जाइये।।

भक्ति-रस-बोधिनी

तिया सुनि कहै कृष्ण-रूप क्यों न चहै? जाय, दहै दुख आप ही सों, बचन सुनाये हैं।
आई सुधि प्यारे की विचारे, मति टारै अब, धारे पग, मग झूमि द्वारावती आये हैं।।
देखि कै विभूति सुख उपज्यों अभूत कोऊ, चाल्यो मुख-माधुरी के लोचन तिसाये हैं।
डरपत हियो ड्योढ़ी लाँघ मन गाढ़ो कियो, लियो कर गहि चाह तहाँ पहुँचाये हैं।।५४।।

अर्थ—पतिका उत्तर सुनकर ब्राह्मणीने 'कहा—'द्वारका जाकर श्रीकृष्णके सुन्दर रूपका दर्शन क्यों नहीं करना चाहते आप? उनके तो दर्शन करने मात्रसे ही संसारके सब दुःख आप ही आप भस्म हो जाते हैं।' यह सुनकर सुदामाजीको श्रीकृष्णके मनोहर रूपका स्मरण हो आया और इधर-उधरका विचार करनेके बाद उन्होंने हीनताकी भावनाको अपने मस्तिष्कमें से निकाल दिया। चल दिए वे और अपने मित्र से मिलनेके आनन्दमें मार्गमें झूम-झूमकर पैर रखते हुए द्वारका पहुँचे। वहाँ श्रीकृष्णका अतुल वैभव देखकर उनके हृदयको बड़ा अभूतपूर्व सुख और आश्चर्य हुआ। द्वारका को देखते-देखते अब आगे बढ़े वे। उनके नेत्र अपने मित्रके अनुपम रूप-माधुर्य-रूपी अमृतका पान करनेके लिये प्यासे थे। अन्तमें वे डरते हुए ड्यौढ़ियोंपर पहुँचे और उन्हें पारकर मनमें साहस बटोरकर राज-भवनमें पहुँच गए, मानो भगवान्के दर्शनकी उत्कट अभि-लाषाने हाथ पकड़कर उन्हें वहाँ पहुँचा दिया हो।

कवि नरोत्तमदासजीके शब्दोंमें सुदामाकी स्त्रीकी उक्ति इस प्रकार है—

विप्रके भगत हरि जगत विदित बन्धु, लेत सब ही की सुधि ऐसे महा दानि हैं ।
पढ़े एक चटसार कही तुम कैयो बार, लोचन अपार वे तुम्हें न पहिचानि हैं ।।
एक दीनबन्धु, कृपासिन्धु, फेरि गुरु-बन्धु, तुम सम कौन दीन जाकौ जिय जानि हैं ।
नाम लेत चौगुनी, गए तैं द्वार सौगुनी सो, देखत सहसगुनी प्रीति प्रभु मानि हैं ।।

भक्ति-रस-बोधिनी

देख्यो श्याम आयो मित्र चित्रवत रहै नेकु, हित को चरित्र दौरि रोइ गरे लागे हैं ।
मानो एक तन भयो लयो ऐसे लाय छाती, नयो यह प्रेम, छूटै नाहिं अंग पागे हैं ।।
आई दुबराई सुधि, मिलन छुटाई तातें, आने जल रानी, पग धोये भाग जागे हैं ।
सेज पधराय, गुरु-चरचा चलाइ, सुखसागर बुढ़ाय आपु अति अनुरागे हैं ।।५५।।

अर्थ—श्रीश्यामसुन्दर ने देखा कि मेरे मित्र पधारे हैं । इस आकस्मिक आगमनसे चकित होकर कुछ क्षणके लिए वे चित्रकी तरह जहाँके तहाँ खड़े रह गए । फिर प्रेमके आवेशमें जैसा होता है, उसी प्रकार आँखोंसे आँसू बहाते हुए दौड़कर सुदामाको गलेसे लगा लिया । कुछ समयके लिए वे इस प्रकार मिले रहे मानो दोनों का शरीर एक हो गया हो । यह अलौकिक प्रेम ऐसा था कि दोनों के अंग छुड़ाए नहीं छूटते थे । इसी बीच में भगवान्‌को याद हो आया कि सुदामा तो अत्यन्त दुर्बल हैं । इस स्मृतिने उन दोनोंके अंगोंको एक-दूसरेसे अलग कर दिया । इतने ही में श्रीरुक्मिणीजी जल ले आईं । श्रीकृष्णने अपने हाथोंसे सुदामाके चरण धोए और अपने भाग्यको सराहा । बादमें शय्यापर उन्हें विराजमान करके उस समयकी चर्चा छेड़ी, जब दोनों सान्दीपन गुरुके यहाँ विद्याध्ययन करते थे । उन दिनोंका वर्णनकर श्रीकृष्णने अपने मित्रको आनन्द-सागरमें निमग्न कर दिया और स्वयं भी मित्रके प्रेममें सराबोर होगए ।

श्रीनरोत्तमदासजीने भी इस दृश्यका वर्णन बड़ा सुन्दर किया है । उनका एक सवैया देखिए-

ऐसे बेहाल बेवाइन सौं भये, कंटक जाल गुंथे पग जोये ।
हाय सखा दुख पायो महा, तुम आए इतै न कितै दिन खोये ।।
देखि सुदामा की दीन दशा, करुणा करिके करुणा-निधि रोये ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोये ।।

भक्ति-रस-बोधिनी

चिरवा छिपाए काँख, पूछे कहा ल्याए मोकों ! अति सकुचाइ भूमि तके, दृग भीजे हैं ।
खैंचि लई गाँठि, मूठि एक मुख माँझ दई, दूसरी हूँ लेत स्वाद पाय आप रीझे हैं ।।
गह्यौ कर रानी सुखसानी प्यारी वस्तु यह, पावो बाँटि, मानो श्रीसुदामा प्रेम धीजे हैं ।
श्यामजू विचारि दीनी सम्पति अपार बिदा भए, पै न जानी सार बिछुरन छीजे हैं ।।५६।।

अर्थ—श्रीकृष्णने बगलमें चिउड़ा छिपाए सुदामाको देखा, तो पूछने लगे—'मेरे लिये क्या लाये हो ?' संकोचके कारण सुदामासे चिउड़ा देते नहीं बना । वे पृथ्वीकी

ओर देखने लगे और (अपनी गरीबीका स्मरणकर) उनकी आँखोंमें आँसू छलछला आए। (भगवान् का धैर्य टूट गया) उन्होंने चावलोंकी पोटलीको खींच लिया और उसमें से एक मुट्ठी भरकर अपने श्रीमुखमें डाल लिए; फिर दूसरी ली और वह आपको इतनी स्वादिष्ट लगी कि प्रसन्न होकर तीसरी मुट्ठी भी भर ली। इसपर महारानी श्रीरुक्मिणीजीने आपका हाथ पकड़ लिया और कहने लगीं—'ऐसी आनन्ददायक वस्तु को आप अकेले-ही-अकेले न खाइए; हम सबको भी बाँटिए।' श्रीरुक्मिणीजीनें ऐसा इसलिए कहा कि उन्हें चावल सुदामाके प्रेमका मूर्तिमान स्वरूप जान पड़े (अतः उन्हें चाखकर वे भी उस प्रेमका कुछ अनुभव करना चाहती थीं, जिसके कारण उनके स्वामी इतने विह्वल होगए थे।) भगवान्नें सोच-विचारकर, इन चावलोंके बदलेमें सुदामाको अपार सम्पत्ति दे दी और वह द्वारकासे विदा हुए। सुदामाको इस रहस्यका कुछ भी पता न था। वे तो अपने मित्रके वियोगमें दुःखका अनुभव करते हुए घरकी ओर जा रहे थे।

इस सम्बन्धमें एक अन्य कविकी उक्ति देखिए---

हूल हियरामें काम कामिनि परी है रोर, भैंटत सुदामै श्याम बने ना अघात ही।
सिरोमनि रिद्धिनमें सिद्धिनमें शोर परचौ, काहि धौं बकसि ठाढ़ी काँपै कमला तही॥
नरलोक, नागलोक, नभलोक, सुरलोक, थोक-थोक काँपै हरि देख मुसकात ही।
हालो परचो हलनमें, लालो लोकपालनमें चालो परचौ चक्कनिमें चिरवा चबात ही॥

भक्ति-रस-बोधिनी

आये निज ग्राम, वह अति अभिराम भयो नयो पुर द्वारिका सो देखि मति गई है।
त्रिया रंग भीनी संग सतनि सहेली लीनी कीन्हीं मनुहार यों प्रतीति उर भई है॥
वहै हरि ध्यान, रूप-माधुरी को पान, तासौं राखैं निज प्रान, जाके प्रीति रीति नई है।
भोग की न चाह ऐसे तनु निरबाह करैं, ढरैं सोई चाल सुखजाल रसमई है॥५७॥

अर्थ—जब सुदामा द्वारकासे लौटकर अपने गाँव आए तो क्या देखते हैं कि उनका वह गाँव एक सिरेसे नया बननेके कारण अत्यन्त सुन्दर हो गया है और द्वारिका की तरह ही दिखाई पड़ रहा है। नगरकी ऐसी रचना देखकर उनकी बुद्धि भ्रममें पड़ गई। लेकिन जब पतिके अनुरागमें भरी हुई उनकी धर्मपत्नी सैकड़ों नवयुवती सहेलियों के साथ महलसे नीचे उतरकर आईं और अत्यन्त आदर-पूर्वक उनका स्वागत किया, तब उन्हें यह विश्वास हुआ कि वह उन्हीं का घर है। (भगवान्के दिए हुए इस अतुल ऐश्वर्यको पाकर सुदामा उसमें लिप्त नहीं हुए बल्कि) वे पहलेकी ही तरह भगवान्के ध्यानमें डूबे रहकर उनकी रूप-माधुरीका पान किया करते। भगवान्में उनकी अनूठी प्रीति थी और उसका आस्वाद लेनेकी रीति (प्रकार) भी नित्य नवीन थी। वे अपने

शरीरका ऐसे निर्वाह करते थे मानो उन्हें भोगकी कोई अभिलाषा ही नहीं है। वे वही काम किया करते जिससे उन्हें सात्विक सुख मिलता और हृदय भगवत्-प्रेममें मग्न रहकर सदा रससे परिपूर्ण रहता।

श्रीकृष्ण और सुदामाके प्रसंगको लेकर संस्कृत और हिन्दीके कवियोंने बड़ी-बड़ी सुन्दर कल्पनायेंकी हैं। उन्होंने भगवान्‌की दीनबन्धुताके साथ-साथ यह भी बताया है कि सच्चे ब्राह्मणका आदर्श कैसा होना चाहिए। त्यागकी भावनाके साथ चलनेवाली मित्रताका जैसा अनूठा उदाहरण यहाँ मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं।

सुदामा प्रारम्भसे ही निस्पृह थे। सांसारिक वैभवकी ओर उनका तनिक भी खिचाव नहीं था। श्रीमद्‌भागवतमें उनके पवित्र-जीवनकी चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं--

प्रायो गृहेषु ते चित्तमकाम विहतं तथा। नैवाति प्रीयसे विद्वन् धनेषु विदितं हि मे॥

मुझे मालूम है, निष्काम तुम्हारा मन घरमें नहीं लगता और न तुम्हारी धनमें ही आसक्ति है।

यह है सुदामाका चरित्र! द्वारका जानेसे पूर्व वे अपनी स्त्रीसे कहते हैं—'औरन को धन चाहिए बावरि, बाम्हन को धन केवल भिच्छा।'' स्त्रीके कहनेसे वे गए तो केवल इस लोभसे कि वहां भगवान्‌के दर्शनका अपूर्व लाभ होगा—

अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्।

श्रीकृष्णके राजसी ठाटबाटको देखकर भी सुदामाके मनमें ईर्ष्या पैदा नहीं हुई और न उन्होंने क्षणभरके लिए यह सोचा कि ये कितने सौभाग्यशाली हैं और मैं कितना दरिद्र हूँ! वे जानते थे कि भगवान्‌ने जान-बूझकर मुझे दीन-हीन बनाया है; कहीं ऐसा न हो कि यह गरीब धन पाकर मदमत्त हो जाय और मुझे भुला दे। द्वारकासे जब वे खाली हाथ लौटते हैं, तब भी उन्हें किसी प्रकारके दुःखका अनुभव नहीं होता। चिन्ता है तो केवल एक—स्त्रीसे जाकर क्या कहूँगा?' इसकी एक युक्ति सूझ गई उन्हें। कह दूँगा—''मैं निधि पाई सो राहमें छिनाई काहू।''

निराश लौटते हुए सुदामाको यदि खीझ आती है, तो अपने मित्र श्रीकृष्णपर नहीं, बल्कि अपनी स्त्रीपर। सोचते हैं, लेकर मुझे भेज दिया वहाँ! मूर्ख कहीं की! श्रीकृष्णके पैंतरे अभी जानती ही नहीं—

द्रोपदीको चीर दिये गोपिनके छीन लिये, ग्राह ते बचायो गज रंगभूमि भानैं हो।

वह इस हाथसे लेता है, तब दूसरेसे देता है। उधर गोपियों के चीर झपट लिए, तो इधर द्रोपदी को उन्हें देकर वाह-वाह लूट ली। एक गजको ग्राहके मुँहसे बचाया, तो दूसरे (कुबलयापीड़) को कंसके दरबारमें मार दिया। ऐसी हैं उसकी करतूत!

संसारका समस्त वैभव पाकर भी सुदामाने यही चाहा कि मैं भगवान्‌का मित्र अथवा दास बनकर रहूँ—इस जन्ममें ही नहीं, जन्म-जन्मान्तरोंमें। श्रीमद्‌भागवतमें सुदामाकी इस अभिलाषाका वर्णन करते हुए लिखा है—

तस्यैव मे सौहृद सख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनि स्यात्।
महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसंगः॥

सुदामाजी भगवान्‌के दास अथवा सखा बनकर ही संतुष्ट नहीं हैं। महानुभाव श्रीकृष्णसे जिन भक्तोंका आध्यात्मिक संपर्क है, उनकी संगतिमें रहनेकी भी उन्होंने कामना की है। आगे चलकर सुदामा कहते हैं—''जिन भक्तोंपर भगवान्‌की कृपा होती है, उन्हें वे सांसारिक सम्पत्ति अथवा राज्य

नहीं देते, क्योंकि वे जानते हैं कि धन पाकर लोग अभिमान करने लगते हैं, जो उनके अधःपतनका कारण बन जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सुदामाको स्वर्गका वैभव फिर क्यों दिया ? इसका उतर स्वयं सुदामाने दिया है। वे कहते हैं कि भगवान् तो बड़े विचक्षण हैं। वे जानते हैं कि सुदामा अभी अविवेकी है—'अदीर्घबोध' है। संसारके सुखोंके बीच रहते हुए उनसे जो वितृष्णा—वैराग्य पैदा होता है, वही सच्चा विवेक है, इसलिए कुछ दिन इन सुखोंको इसे भोगने दिया जाय।

श्रीचन्द्रहासजी

भक्ति-रस-बोधिनी

हुतो नृप एक ताको सुत 'चन्द्रहास' भयो, परी यों विपति, धाइ ल्याई और पुर है।
राजा को दिवान, ताकै रही घर आन, बाल आपने समान संग खेले रसढुर है॥
भयौ ब्रह्म-भोज, कोई ऐसोई संयोग बन्यो, आये वै कुमार जहाँ विप्रन को सुर है।
बोलि उठे सबै 'तेरो सुताको जो पति यहै, हुवो चाहै, जानी, सुनि गयो लाज घुर है॥५८॥

अर्थ—(केरल देशमें) एक राजा थे। उनके पुत्र 'चन्द्रहास' हुए। दुर्भाग्यसे पिता एक युद्धमें मारे गए, और माता सती होगई। परिवारपर भयानक संकट आया हुआ देखकर बालक चन्द्रहासकी धाय उसकी रक्षा करनेके लिए उसे लेकर कुन्तलपुर पहुँची और राजाके दीवान (धृतबुद्धि) के घरमें शरण ली। (चन्द्रहास जब पाँच वर्षके हुए तब वह धाय भी परलोक सिधार गई और वे अनाथ रह गए।) वे अपने बराबरवाले बालकोंके साथ अब 'रसढुर' नामक खेल खेला करते थे। (यह खेल भगवत्-संबन्धी है। भगवान्के प्रति बालक चन्द्रहासकी रुचि श्रीनारदजी की कृपासे हुई थी। वे एक दिन आकर चन्द्रहासको शालग्रामकी बटिया देकर कह गए थे कि इसको धोकर रोज पिया करना तथा इसे अपने मुँहमें सुरक्षित रखना, ताकि किसीको पता न लगे।)

एक दिन धृष्टबुद्धिके यहाँ ब्राह्मणोंको भोजनके लिये आमंत्रित किया गया। संयोग ऐसा बना कि चन्द्रहास अपनी बाल-मंडलीके साथ खेलते-खेलते वहाँ जा पहुँचे जहाँ ब्राह्मनोंका मुखिया बैठा था। (उसी समय धृष्टबुद्धिने उन मुखियाके पास आकर पूछा—'मेरी कन्याको कैसा वर मिलेगा ?') उत्तरमें ब्राह्मणने चन्द्रहासकी ओर संकेत करते हुए कहा—'यह तेरी पुत्रीका भावी पति है, इस बातको हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं।' यह सुनते ही मंत्री लज्जाके मारे जमीनमें गढ़ गया।

भक्ति-रस-बोधिनी

परचौ सोच भारी 'कहा करौं !' यों विचारी-'अहो ! सुता जो हमारी ताको पति ऐसो चाहिये।
डारो याहि मारि, या को यहै है विचारि' तब बोलि नीच जन कह्यौ-'मारौ, हिय दाहिये॥'
लैकैं गये दूर, देख बाल छबिपूर 'हम जोनि परौ धूर, दुख ऐसो अवगाहिये॥'
बोले अकुलाय 'तोहि मारेंगे, सहाय कौन ! 'माँगौ एक बात 'जब कहौं तब वाहिये' ॥५९॥

अर्थ—धृष्टबुद्धिको बड़ी चिन्ता हुई कि अब क्या करना चाहिये। उसके मनमें बार-बार यह विचार आ रहा था कि कहाँ तो मेरी पुत्री और कहाँ यह दासी-पुत्र चन्द्रहास ! इसका एक ही मात्र उपाय यही है कि इस लड़केको मार डाला जाय। यह निश्चय करके उसने नीच आदमियोंको बुलाकर कहा—'इसको मार डालो, यह मेरा हृदय जलाता है।' मंत्रीकी आज्ञासे घातक लोग चन्द्रहासको दूर जंगलमें ले गये, लेकिन उसकी वाल-सुलभ सुन्दरता और भोलेपनको देखकर अपनेको बार-बार धिक्कारते हुए कहने लगे—'हमारी जातिपर धूल पड़े, जो हमें (अनाथ बालकों की हत्या-रूपी) ऐसे दुःख भोगने पड़ते हैं।' अब वे घबड़ाकर चन्द्रहाससे पूछने लगे—'हम तुझे मारेंगे—बता, तेरा रक्षक कौन है ?'

चन्द्रहासने कहा–'मैं तो केवल एक बात माँगता हूँ। मैं जब कहूँ, तब मुझ पर प्रहार करना।'

भक्ति-रस-बोधिनी

मानि लीन्हों बोल वे, कपोल मधि गोल एक गंडकी को सुत काढ़ि सेवा नीकी कीनी है।
भयो तदाकार यों निहारि, सुख सार भरि, नैनन की कोर ही सों आज्ञा बध दीनी है ॥
गिरे मुरझाय, दया आइ, कछु भाय भरे, ढरे प्रभु ओर, मति आनँद सों भीनी है।
हुती छठी आँगुरी सो काट लई, दूसन ही, भूषन ही भयो, जाइ कही साँच चीन्ही है ॥६०॥

अर्थ–घातकोंने बालककी बात मान ली। इसके बाद चन्द्रहासने अपने गालमें से शालग्राम की मूर्तिको बाहर निकाला और प्रेमपूर्वक विधिवत् उनकी पूजा की। उस सुन्दर प्रतिमाको एकाग्र चित्तसे देखते हुए ऐसे मग्न हो गए कि उन्हें शरीरका ध्यान ही नहीं रहा और अपने-आपको शालग्रामकी मूर्तिमें ही विलीन कर दिया। जब वह आनन्दके सागरमें इस प्रकार हिलोरें ले रहे थे, तभी उन्होंने अपनी आँखोंकी कोरसे संकेत कर अपना बध करने की आज्ञा दे दी। (बालकको मारनेके लिए उद्यत होते ही) घातकगण अचेत होकर गिर पड़े। होश आनेपर उनके मनमें दयाका संचार हुआ और (चन्द्रहासका प्रभाव उनपर ऐसा पड़ा कि) वे भी प्रीति-भावसे परिपूर्ण होकर भगवान् की ओर झुक गए और प्रभुका ध्यान करते-करते प्रेमानन्दमें विभोर हो गए। उन्होंने (अपना कर्त्तव्य पालन करनेके लिए केवल इतना किया कि) चन्द्रहासकी छठवीं अँगुली (जो बायें पैरमें थी) उसे काट डाला। अशुभ अंग होनेके कारण जो एक दोष माना जाता था, उसका काट दिया जाना अब भूषण हो गया। तब उन्होंने मंत्रीसे जाकर कह दिया कि चन्द्रहासको मार दिया गया है और प्रमाण-स्वरूप कटी हुई अँगुली दिखा दी। धृष्टबुद्धिने भी सच मान लिया।

बहै देश भूमिमें रहत लघु भूप और, और सुख सब, एक सुत चाह भारी है ।
निकस्यौ विपिन आनि, देखि याहि मोद मानि, कीन्हीं खग छाँह, घिरी मृगी पाँति सारी है ।।
दौरिकै निसंक लियो, पाइ निधि रंक जियो, कियो मन भायो, सो बधायो, श्रीहु वारी है ।
कोउ दिन बीते, नृप भए चित चीते, दियो राज को तिलक, भाव-भक्ति विसतारी है ।।६१।।

अर्थ—उसी कुन्तलपुरके राजाके राज्यके एक भागमें एक छोटा राजा और रहता था । भगवान्‌की कृपासे उसे सब प्रकारके सुख प्राप्त थे, केवल एक पुत्र नहीं था, जिसकी कि उसे बड़ी कामना थी । एक दिन वह अकस्मात् जंगलमें जा निकला । राजाने वहाँ चन्द्रहासको देखा, बड़ा प्रसन्न हुआ; क्योंकि जहाँ ये बैठे हुए थे, वहाँ एक पक्षीने इनके सिर पर छाया कर रक्खी थी और हिरनियोंका समूह इन्हें चारों ओर से घेरकर खड़ा था । (इससे राजाको यह विश्वास हो गया कि वे इतने शान्त और सद्-भावनापूर्ण थे कि बनके पशु-पक्षी तक उनका विश्वास करते थे और उनका दुःख दूर करनेमें लगे हुए थे ।) राजाने दौड़कर उन्हें अपनी गोदमें उठा लिया और ऐसा प्रसन्न हुआ जैसे खजाना पाकर किसी दरिद्रके प्राण लौट आये हों । तब बालकको घर लाकर राजाने इच्छानुसार मंगल-समारोह किया जिसमें बधाइयाँ गाई गईं, नाच-रंग हुए और बहुत-सा धन गरीबोंको लुटाया गया । कुछ दिन बीत जानेपर अपनी इच्छा-पूर्तिके लिए राजाने चन्द्रहासका राज्य-तिलक कर दिया । चन्द्रहासने भी राजा बनकर राज्य में भगवद्-भक्तिका खूब प्रचार किया ।

भक्ति-रस-बोधिनी

रहै जाके देश सो नरेश कछु पावै नाहीं बाहुबल जोरि दियो सचिव पठाइ कैं ।
आयो घर जानि, कियो अति सनमान, सो पिछान लियो वहै बाल मारो छल छाइकैं ।।
दई लिख चीठी, जाहु मेरे सुत हाथ दीजै, कीजै वही बात जा को आयो लै लिखाइकैं ।
गए पुर पास बाग सेवा मति पागि करी, भरी दृग नींद नैकु, सोयो सुख पाइकैं ।।६२।।

अर्थ—जिस राजाके राज्यमें कलिंग देश था, उसे अब वहाँसे करके रूपमें कुछ नहीं मिलता था; (क्योंकि राजा चन्द्रहास राज्यकी आमदके अधिक अंशको साधु-सेवामें ही खर्च कर डालते थे), इसलिए कुन्तलपुरके राजाने अपने वाहु-बल (पराक्रम) पर भरोसा रखकर मंत्री धृष्टबुद्धि को जोर देकर कलिंग देशके राजाकी नगरी चन्दनावती में भेजा । मंत्रीको घर आया जानकर चन्द्रहासजी तथा राजा कलिन्दने उनका बड़ा सत्कार किया ।

मन्त्रीने चन्द्रहासजीको देखा, तो तुरन्त पहिचान लिया कि यह तो वही लड़का है, जिसे मैंने कपट-जाल बिछा कर मारनेकी योजना बनाई थी । (अब उसने एक दूसरी युक्ति निकाली ।) उसने एक चिट्ठी लिखी और चन्द्रहासजीको उसे देते हुए कहा—'इसे

लेजाकर मेरे पुत्रको देना और कहना कि इसमें जो कुछ लिखा है उसे जल्दी करा दीजिए।' कुन्तलपुर पहुँचकर चन्द्रहासजी वहाँके एक पासके बागमें ठहरे और आनन्दसे पहले श्रीशालग्रामकी सेवा की और फिर (प्रसाद ग्रहण करनेके बाद) वहीं विश्राम किया। वहाँ उन्हें इतना सुख मिला कि नींद आगई।

भक्ति-रस-बोधिनी

खेलति सहेलिन सों आइ वाही बाग मांझ करि अनुराग, भई न्यारी, देखि रीझी है।
पाग मधि पाती छबि माती झुकि खैंच लई, बाँची खोलि, लिख्यो विष दैन, पिता खीझी है॥
'विषया' सुनाम अभिराम, दृग अंजन सों विषया बनाई मन भाई रस भीजी है।
आई मिली आलिन में लालन को ध्यान हिये, पिये मद मानो, गृह आइ तब धीजी है॥६३॥

अर्थ—उसी बागमें (जिसमें कि चन्द्रहास सो रहे थे) 'विषया' नामक मंत्रीकी लड़की अपनी सहेलियों सहित खेलती हुई आ पहुँची। वह चन्द्रहासकी मनोहर मूर्तिको देखकर उसपर लट्टू हो गई और उसके प्रेममें आसक्त होगई। (अपने प्रियतमको मन-भरकर देखनेके उद्देश्यसे) वह अपनी सखियोंसे अलग हो गई और तब रूपके मदसे झूमती हुई वह सुन्दरी ज्योंही चन्द्रहासके पास आई, त्योंही उसे एक पत्र वहाँ पड़ा हुआ दिखाई दिया। जरा-सा झुक कर उसने वह पत्र ले लिया और खोलकर पढ़ा, तो पता लगा कि पिताने चन्द्रहासको विष देकर मार डालने के लिए अपने पुत्र मदनको लिखा है। इस पर अपने पितापर उसे बड़ा क्रोध आया। उस लड़की का सुन्दर नाम 'विषया' था। उसने अपनी आँखोंके काजलसे पत्रमें लिखे हुए 'विष' शब्दके आगे 'या' अक्षर जोड़ कर उसे 'विषया' बना दिया (अब अर्थ यह होगया कि इस पत्रके ले जाने वालेके लिए तुरन्त 'विषया' को दे देना।) पत्रमें यह परिवर्तन करके धृष्टबुद्धिकी पुत्री आनन्द में निमग्न होती हुई फिर अपनी सखियोंके समूहमें आ मिली। वहाँसे वह हृदयमें अपने प्रिय चन्द्रहासका चिन्तन करती हुई बेसुध-सी, जैसे कोई नशीली वस्तु खा ली हो, घर आ गई।

भक्ति-रस-बोधिनी

उठ्यो चन्द्रहास, जिहि पास लिख्यो ल्यायो, आयो देखि मन भायो गाढ़े गरे सों लगायो है।
दई कर पाती, बात लिखी मो सुहाती, बोलि विप्र घरी एक मांझ व्याहउ करायो है॥
करी ऐसी रीति, डारे बड़े नृप जीति, जिय देत गई बीति, चाव पार पै न पायो है।
आयो पिता नीच, सुनि घूमि आई मीच मानो, बानौ लखि दूलह को, शूल सरसायो है॥६४॥

अर्थ—चन्द्रहास उठे और जिसे चिट्ठी देनेको कहा गया था, उसके पास उसे लेकर पहुँचे। उसने जब पत्रमें अपने मनकी-सी बात लिखी देखी तो प्रसन्नतासे चन्द्रहास को गलेसे लगा लिया और बोले 'तुमने मेरे हाथमें जो पत्र दिया है, उसमें मेरी मन-

चीती बात लिखी है।' तब शीघ्र ही ब्राह्मणको बुलाकर एक घड़ीमें ही विवाह-लग्नका निश्चय कर उसने चन्द्रहास के साथ अपनी बहिनका पाणिग्रहण कर दिया। इस उत्सव को उसने इतने धूम-धामसे किया कि बड़े-बड़े राजा भी नीचा देख गए। इस अवसर पर हाथ खोलकर उसने खर्च किया, पर उसका उत्साह पूर्ण नहीं हुआ। इतनेमें ही नीच धृष्टबुद्धि वहाँ ऐसे आ पहुँचा मानो मृत्यु इधर-उधर घूम-घामकर लौट आई हो।

भक्ति-रस-बोधिनी

बैठ्यो लै एकान्त 'सुत ! करी कहा भ्रान्त यह ?' कह्यो सो नितान्त, कर पाती लै दिखाई है।
बाँचि आँच लागी, मै तो बड़ोई अभागो, ऐ पै मारौं मति पागी, बेटी राँड़ ही सुहाई है॥
बोलि नीच-जाती बात कही 'तुम जावो मठ, आवै तहाँ कोऊ, मारि डारौ मोहि भाई है'।
चन्द्रहासजू सों भाष्यो 'देवी पूजि आवो अजू ! मेरी कुलपूज, सदा रीति चली आई है' ॥६५॥

अर्थ—एकान्तमें बैठकर धृष्टबुद्धिने अपने पुत्रसे पूछा—'यह क्या किया ?' मदनसेनने इसके उत्तरमें पत्र लेकर दिखा दिया। पत्रको पढ़ते ही मंत्रीके शरीरमें जैसे आग लग गई। उसने कहा—'हाय ! मैं बड़ा अभागा निकला !' किन्तु फिर उसने सोचा कि इस चन्द्रहासको मारे बिना नहीं रहूँगा; क्योंकि ऐसा नीच पति पानेकी अपेक्षा तो बेटी का विधवा होना अच्छा। अब उसने नीच जातिके पुरुषोंको बुलाकर कहा—'तुम लोग देवीके मठको जाओ और वहाँ जो कोई पहुँचे उसे मार देना।' फिर चन्द्रहासजीसे बोला—'आप देवीका पूजन कर आइए, क्योंकि विवाहके बाद देवीकी पूजा करनेकी हमारी प्राचीन वंश-परम्परा है।'

भक्ति-रस-बोधिनी

चलेई करन पूजा, देशपति राजा कही 'मेरे सुत नाहीं, राज वाही को लै दीजिए।'
सचिव सुवन सों जु कह्यो 'तुम ल्यावो जावो, पावो नहीं फेरि समय, अब काम कीजिए॥'
दौरयौ सुख पाइ चाइ, मग ही में लियो जाइ, दियो सो पठाइ, नृप रंग माँहि भीजिए।
देवी अपमान ते न डरौ, सनमान करौं, जात मार डारयो, यासौं भाख्यो भूप 'लीजिए' ॥६६॥

अर्थ—चन्द्रहासजी जब (मंत्रीके कहने पर) देवीकी पूजा करने चले, तो कुन्तलपुरके राजाने अपने मनमें कहा—'मेरे कोई पुत्र नहीं है, इस लिए (चन्द्रहासजी) को राज्य दे दिया जाय तो अच्छा हो।' ऐसा सोचकर मंत्री-पुत्र मदनसे बोले—'तुम अभी जाओ और चन्द्रहासको ले आओ, फिर समय नहीं मिलेगा, अतः अभी काम कर लेना चाहिये। (यह सुनकर) मदन आनन्दमें भरकर बड़े चावसे दौड़ा और रास्तेमें ही चन्द्रहासजीसे मिलकर उन्हें यह कह राजाके पास भेज दिया कि राजाको इस समय उत्साह हो रहा है, (अतः जल्दी जाकर पहले राज्य प्राप्त कर लो); इसका डर मत करो कि पूजा न करनेसे देवी रुष्ट हो जायगी। उनका सम्मान करनेके लिए मैं जा रहा हूँ।'

मठमें पहुँचते ही मदनको बधिकोंने मार डाला। इधर जब चन्द्रहासजी राजाके पास पहुँचे तो राजाने कहा—'यह लीजिए राज्य।' (और चन्द्रहासजी राजा बना दिये गये।)

भक्ति-रस-बोधिनी

काहू आनि कही 'सुत तेरो मारो नीचनि ने,' सींचन शरीर दृग जल झरी लागी है।
चल्यो तत्काल, देखि गिरचो है बिहाल, सीस पाथरि सौं फोरि मरचो ऐसोई अभागी है॥
सुनि चन्द्रहास चलि वेगि मठ पास आये, ध्याये पग देवता के, काटि अंग रागी है।
कह्यो, तेरो द्वेषी याहि क्रोध करि मारचो मैं ही, 'उठैं दोऊ दीजै दान' जिये बड़भागी है॥६७॥

अर्थ—जब किसीने आकर मंत्रीको समाचार दिया कि तुम्हारे पुत्रको घातकोंने मार डाला है तो आँखोंसे आँसुओंका प्रवाह उमड़कर उसके शरीरको भिगोने लगा। सुनते ही तत्काल वह दौड़कर देवीके मठमें पहुँचा और पृथ्वीपर पछाड़ खाकर गिर पड़ा। उस अभागेकी अन्तमें यह दशा हुई कि पत्थरोंसे सिर पटककर मर गया। चन्द्रहासजी को जब यह मालूम हुआ तो शीघ्रतासे मठमें आये और देवीकी वन्दना करनेके बाद अपना शीश काटनेके लिए उद्यत हो गये। देवीने प्रकट होकर चन्द्रहाससे कहा—'यह तेरा द्वेषी था, इसलिए मैंने इसको पुत्र-सहित मार डाला है।' तब चन्द्रहासजीने उन दोनों पिता-पुत्रोंके जीवन-दानके लिए देवीसे प्रार्थना की और वे दोनों फिर जी पड़े।

भक्ति-रस-बोधिनी

करचो ऐसो राज सब देश भक्तराज करचो, ढिग को समाज जाकी भक्ति कहा भाखिये।
हरि हरि नाम अभिराम धाम-धाम सुनै, और काम कामना न सेवा अभिलाषिये॥
काम, क्रोध, लोभ, मद आदि लै के दूर किये, जिये नृप पाइ ऐसो नैननि में राखिये।
कही जिती बात आदि अन्त लौं सुहात हिये, पढ़ै उठि प्रात फल जैमुनि है साखिये॥६८॥

अर्थ—श्रीचन्द्रहासजीने इस रीतिसे राज्य-शासन चलाया कि देशके सब प्रजाजन हरिभक्त हो गये। जो लोग आठों प्रहर श्रीचन्द्रहासजीके पास ही रहते थे उनकी भक्तिका वर्णन करना तो अत्यन्त कठिन है। राज्यके प्रत्येक घरमें, बालक, वृद्ध, वनिता सबके मुँहसे सुन्दर हरि-नाम सुननेको मिलता था। सिवा भगवान्के भजनके अन्य किसी वस्तुकी किसीको इच्छा ही नहीं थी। हृदयमें निरन्तर भक्तिके वासके कारण क्रोध आदि विकारोंके पनपनेके लिए जगह ही नहीं रह गई थी। श्रीचन्द्रहासजीके समान हरि-भक्ति-परायण राजा पाकर सबका जीवन सफल हो गया था। ऐसे राजा को सब लोग आँखोंमें अंजनकी तरह रखना चाहते थे। श्रीचन्द्रहासजीका यह वृत्तान्त, जैसा आदिसे अन्त तक यहाँ वर्णन किया है, उसे प्रातःकाल उठकर मनन करनेसे सद्गति होती है, ऐसा व्यासजीने लिखा है।

श्रीचन्द्रहासके प्रसंगका मनन करनेसे भक्ति-सिद्धान्तके कुछ अनमोल तत्त्व जाननेको मिलते हैं, जो कि नीचे दिए जाते हैं—

सर्व-प्रथम हमारी दृष्टि श्रीचन्द्रहासके चरित्र पर जाती है। हम देखते हैं कि जीवनके प्रारम्भ से ही वे अपने संस्कारके कारण भगवान्की भक्तिमें लीन रहते थे। बालकपनमें ही 'रसढुर' खेलका खेलना इसका प्रमाण है। भक्तिके लिए यह आवश्यक है कि भक्तके अन्तःकरणकी वृत्तियां तदाकार हो जायँ। श्रीचन्द्रहासजीके लिए यह कार्य शालग्रामकी मूर्तिने किया। जगत्के सब व्यापार करते हुए भी उनके मनका केन्द्र अपने इष्ट-देव ही रहे। फल यह हुआ कि जो सिद्धि बड़े-बड़े कर्म-योगियोंको अनेक प्रकारके अनुष्ठानों द्वारा भी प्राप्त नहीं होती, वह श्रीचन्द्रहासजीको बहुत प्रारम्भमें ही मिल गई। बालक चन्द्रहास को बधिक जब मारनेके लिए जंगलमें लेजाते हैं, तब वे प्राणोंका मोह कर रोते-विलखते नहीं, क्योंकि वे भक्ति की उस अन्तिम अवस्थामें पहुँच चुके थे, जहाँ राग-विराग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व अन्तःकरणको नहीं छू पाते। उनके द्रवीभूत चित्तमें भगवदाकारता इस प्रकार प्रविष्ट हो गई थी कि संसारके सब प्राणियोंमें वे भगवान्के सिवा अन्य किसीको देख ही नहीं सकते थे। उत्तम भागवतका यही लक्षण बतलाया गया है। जो ईश्वर से प्रेम करता है, उनके अधीन जीवोंमें मैत्रीके भाव रखता है, मूर्ख और पामरोंसे दयाका व्यवहार करता है और शत्रुओंको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है, वह तो मध्यम भागवत कहलाता है—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च। प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

(श्री० भा० ११ स्क० २)

श्रीचन्द्रहास-जैसे उत्तम कोटिके भक्तोंमें तो छानबीनकी यह भावना सदाके लिए पहले ही जलकर भस्म हो जाती है। साधारणतया प्रेम-लक्षणा भक्तिके उदय होनेका क्रम इस प्रकार है कि पहले भगवत्-सम्बन्धी धर्मोंका पालन करने एवं पुण्य-गाथाओंका श्रवण-मनन करनेसे भगवत्-चेतना हृदयको प्रकाशित करती है, तब वैराग्य होता है और अन्तमें प्रेम-लक्षणा भक्तिकी प्राप्ति। संस्कारी भक्त इस क्रमका उल्लंघन करते देखे गए हैं। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए उन्हें न तो धर्मानुष्ठानोंकी अपेक्षा रहती है और न अन्य साधनोंकी। प्रह्लाद, बलि, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान तथा व्रजकी गोपियाँ, ये सब साक्षात् भगवत्-सेवा के अधिकारी थे—

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः। येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा।

(श्री भा० ११ स्क० १२)

भगवान्के भक्तों पर आया हुआ संकट केवल अपना कर्तव्य-पालन कर निवृत्त हो जाता है, नहीं तो जो घातक मंत्रीके आदेशसे चन्द्रहासको मारनेके लिए जंगलमें ले गए थे, उनकी बुद्धि ऐसी किस प्रकार बदल गई कि वे केवल उनकी छठी अँगुली काटकर ही संतुष्ट हो गए। इसी प्रकारकी दो घटनाएँ यहाँ और लिखी जाती हैं—

(१) एक राजाने अपनी रानीका आग्रह मानकर भगवान्की आराधना शुरू कर दी। एक दिन ठाकुरजीके भोगके लिए गन्ना छीलते समय राजाकी अँगुली कटकर अलग गिर गई। राजाने मनमें सोचा कि भगवान्की भक्ति करनेका क्या यही फल है? इस शंकाका समाधान रानीने कर दिया। बोली—'राजन्! इस छोटी-सी घटनाके कारण आपको भगवान्की सेवासे विमुख नहीं होना चाहिए, क्योंकि सेवाके प्रभावसे कभी-कभी छुरी भी काँटा हो जाती है। बात राजाकी समझमें भरी नहीं। संयोगसे एक दिन राजा शिकार खेलते-खेलते जंगलमें बहुत दूर निकल गया। उसे अकेला पाकर

कुछ अघोरियोंने पकड़ लिया और बलि देनेके लिए देवीके मन्दिरमें ले गए। वहाँ जब उन्होंने देखा कि व्यक्ति अंग-भंग है, तो उसे बलिके अयोग्य समझ कर छोड़ दिया।

(२) एक ब्राह्मणने अपनी जन्म-पत्रिका दिखाई तो मालूम हुआ कि उसे एक दिन गधेपर बिठा कर और काला मुँह करके सारे नगरमें घुमाया जायगा। ब्राह्मणको चिन्ता सवार हो गई और इसका उपाय पूछनेके लिए वह अपने गुरुके पास पहुँचा। गुरुने कहा—'वह दिन जब आये, तब मुझसे कहना; उपाय हो जायगा। लेकिन आजसे तुम यहाँ आकर कथा-वार्ता श्रवण किया करो।' ब्राह्मणने ऐसा ही किया। जब बहुत दिन बीत गए तब उसने एक दिन अपने गुरुजीसे कहा—'महाराज! गत रात को मैंने स्वप्नमें देखा है कि लोगोंने मुझे गधेपर बिठालकर सारे नगरमें मेरा जलूस निकाला है, सो अब यह स्वप्न सत्य होनेवाला है; कृपया कोई उपाय करिए।' गुरुजीने हँसकर कहा—'जागृत और स्वप्नकी दो अवस्थाएँ हम लोगोंके लिए भिन्न हैं; भगवान्‌के यहाँ इनमें कोई अन्तर नहीं देखा जाता। तुम निश्चिन्त रहो। जो स्वप्नमें हो गया है, वह जागृत अवस्थामें फिर नहीं होगा।'
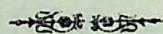
श्रीमैत्रेय ऋषि

भक्ति-रस-बोधिनी

'कौषारव' नाम जो बखान कियो नाभाजूने मैत्रे अभिराम रिषि जान लीजै बात में।
आज्ञा प्रभु दई, जाहु 'विदुर' है भक्त मेरौ, करो उपदेश रूप गुन गात गात में॥
'चित्रकेतु' 'प्रेमकेतु' 'भागवत-ख्यात, ज्यातें पलटचो जनम प्रतिकूल फल घात में।
'अकरूर' आदि 'ध्रुव' भये सब भक्त-भूप 'उद्धव' से प्यारेन की ख्याति पात-पात में॥६६॥

अर्थ—ऋषि मैत्रेयके पिताका नाम 'कुषारु' था, इसलिए श्रीनाभाजीने उन्हें 'कौषारव नामसे पुकारा है। मैत्रेय ऋषिको भगवान्‌ने आज्ञा दी कि जाओ, मेरे भक्त विदुरको आप इस प्रकार ज्ञान और भक्तिका उपदेश करो कि मेरे नाम, रूप गुणकी महिमा उनके रोम-रोममें समा जाय। (यह प्रसंग उस समयका है जब भगवान् अन्तर्धान होनेसे पूर्व अपने प्रिय सखा और परम भक्त उद्धवको उपदेश कर रहे थे। उस समय मैत्रेय ऋषि भी उपस्थित थे। भगवान्‌की आज्ञासे मैत्रेयजीने जो उपदेश विदुरजी को दिया, वह श्रीमद्‌भागवतके तृतीय स्कन्धमें वर्णित है।)

प्रेमकी ध्वजा श्री चित्रकेतुजीकी कथा श्रीमद्‌भागवतमें विख्यात है। उन्होंने कितनी ही योनि पलटनेके बाद अन्तमें प्रतिकूल जन्म (वृत्रासुर-दैत्यका) प्राप्त किया और पूर्व-जन्मके संस्कारके कारण इन्द्रके वज्राघातको फूलके समान सह कर परम पदके अधिकारी बने।

टीकाकार प्रियादासजी कहते हैं कि अक्रूर, ध्रुव, उद्धव आदि भक्त-शिरोमणियों की गाथा विस्तार-पूर्वक श्रीमद्‌भागवत-पुराणके प्रत्येक पृष्ठ पर अंकित है।

चित्रकेतु शूरसेन प्रदेशोंके सार्वभौम राजा थे। उनकी लाखों स्त्रियाँ थीं, लेकिन सन्तान कोई न थी। अङ्गिरा ऋषिके यज्ञ करनेसे उनके एक पुत्र हुआ, जिसे रानियोंने विष देकर मार डाला।

पुत्र-शोक विह्वल हो राजा-रानी बार-बार पछाड़ खाने लगे। उन्हें इस प्रकार शोकाविष्ट देखकर देवर्षि नारद-सहित अङ्गिरा वहाँ आये और राजाको समझानेकी चेष्टा की। इतने पर भी जब राजा का मोह दूर नहीं हुआ, तब श्रीनारदजीने मृतकके जीवात्माको सम्बोधन करते हुए कहा—'तुम्हारे ये माता-पिता, उनके मित्र, बन्धु-बान्धव सब तुम्हारे लिए शोकमें व्याकुल हैं; उठो और अपने कलेवरमें प्रवेश कर राज्यके सुखोंका उपभोग करो।'

इसपर जीवात्माने संसारकी असारता तथा उसके अनित्य सम्बन्धोंका वर्णन करते हुए राजा से कहा—'अपने कर्मानुसार मैं देव, पशु-पक्षी और मानव आदि योनियोंमें सैंकड़ों बार घूमता रहा हूँ; भला तुम मेरे कब-कब माता-पिता हुए ? जीवलोकके सम्बन्ध बाजारमें घूमनेवाली मुद्राकी तरह हैं। जब तक वह जिस व्यक्तिके हाथमें रहती है, तभी तक उसकी रहती है। अतः मेरे लिए शोक मत करो।''

यह कह कर जीव चला गया। राजाने तब मोहको छोड़कर अपने पुत्रका दाहकर्म किया और फिर श्रीनारदजी से ज्ञानोपदेश ग्रहणकर विद्याधरकी पदवीको प्राप्त हो गया। इस रूपमें योगी चित्रकेतु ने लाखों वर्षों तक स्वर्ग-सुलभ भोगोंको भोगा। एक दिन वह विष्णुदत्त नामक विमानमें बैठकर आकाश में उड़ा जा रहा था, तभी उसने देखा कि भगवान् शिव मुनियोंकी सभामें पार्वतीजीके साथ गल-बाँहें डाल कर बैठे हुए हैं। इस कृत्यको अनुचित समझ कर वह वहाँ जा पहुँचा और भगवान् शिवका उपहास करने लगा। शिव तो हँसकर चुप हो गए, लेकिन पार्वतीजी पर यह नहीं सहा गया। उन्होंने उसे शाप दिया—'जा दुष्ट ! तू असुरी योनिमें जन्म ले, ताकि फिर कभी महात्माओंमें इस प्रकार दोष देखनेका तुझे साहस न हो।''

वही चित्रकेतु गिरिजाके शापके प्रभावसे 'वृत्र' नामक दैत्य हुआ और पूर्वजन्मके पवित्र संस्कारों के कारण इन्द्रके द्वारा मारा जाकर सद्गतिको प्राप्त हुआ। यह कथा भागवत के छठे स्कन्ध के चौदहवें अध्यायमें वर्णित है।

श्रीकुन्तीजी

भक्ति-रस-बोधिनी

कुन्ती करतूति कै-सी करै कौन भूतप्रानी, माँगति विपति, जासों भाजैं सब जन हैं।
देख्यो मुख चाहों लाल ! देखे बिन हिये साल, हूजिये कृपाल, नहीं दीजै बास बन हैं॥
देखि बिकलाई प्रभु आँखैं भरि आईं, फेरि घर ही को ल्याई, कृष्ण प्रान तन धन हैं।
श्रवन वियोग सुनि तनक न रह्यो गयो, भयो वपु न्यारो अहो ! यही साँचे पन हैं॥७०॥

अर्थ—संसारमें ऐसा कौन व्यक्ति है, जो कुन्ती-जैसे करतब करके दिखलावे ? जिससे सब लोग दूर भागते हैं, उसी विपत्तिको कुन्तीने भगवान्से माँगा। द्वारकाको प्रस्थान करते हुए श्रीकृष्णसे उन्होंने कहा—'मैं सदैव आपके मुखारविन्दके दर्शन करना चाहती हूँ, क्योंकि उसे देखे बिना मेरे हृदयमें शूल चुभने-जैसी पीड़ा होती है। यदि आप इतनी कृपा करनेको तैयार नहीं हैं, तो हमें वनवास दे दीजिए, (क्योंकि वहाँ आपके दर्शनोंका लाभ मिलता रहता था।') कुन्तीजीको इस प्रकार वियोगके भयसे व्याकुल देखकर प्रभुकी आँखोंमें आँसू आ गये और परिणाम यह हुआ कि कुन्तीजी

आग्रह करके श्रीकृष्णको फिर वापिस ले आईं। श्रीकृष्ण आपके तन-मन-धन थे—सर्वस्व थे। जब भगवान् भूमिका भार हलका करके वैकुण्ठ-धाम चले गए, तो इस दुःखदायी समाचारको सुनकर कुन्तीसे न रहा गया और वह भी शरीरको त्यागकर परम धामको चली गईं। सच्चा प्रण ऐसा ही होता है।

कुन्तीकी भक्ति-भावनाका मर्म पहिचाननेके लिए नीचे दिया हुआ श्लोक देखिए—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ! भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ।।

—हे जगत् के गुरु, हमारी अभिलाषा है कि हमपर बार-बार विपत्तियाँ आकर पड़ें, ताकि आपके दर्शन करनेका सौभाग्य हमें प्राप्त हो और उस दर्शनके द्वारा हमारा आवागमन छूट जाय।

श्रीद्रौपदीजी

भक्ति-रस-बोधिनी

द्रौपदी सती की बात कहे ऐसो कौन पटु, खैंचत ही पट, पट कोटि गुने भए हैं।
'द्वारिका के नाथ !' कहि बोली जब साथ हुते, द्वारिका सौं फेरि आए भक्तवानी नए हैं।।
गये दुरवासा रिषि वन में पठाए नीच धर्मपुत्र बोले विनय आवै पन लए हैं।
भोजन निवारि तिय आइ कही सोच परयो, चाहै तनु त्याग कह्यो 'कृष्ण कहुँ गए हैं' ।।७१।।

अर्थ—पतिव्रता द्रौपदीकी महिमाका वर्णन करनेकी सामर्थ्य भला किसमें है? दुष्ट दुश्शासनके भरी सभामें उनके शरीर परसे वस्त्र खींचनेकी चेष्टा करते ही एक वस्त्रके करोड़ वस्त्र हो गए। अपनी लज्जाकी रक्षा करनेके लिए जब द्रौपदीने पुकार लगाई—'हे द्वारकाके नाथ !' तब द्रौपदीके हृदयमें प्रतिक्षण निवास करते हुए भी भगवान् अपने भक्तके वचनको पूरा करने के लिए द्वारकासे दौड़े आए।

एक बार नीच दुर्योधनके द्वारा भेजे हुए दुर्वासा ऋषि वनमें युधिष्ठिरजीके पास पहुँचे और बोले—'हम नित्य-क्रिया करके अभी आते हैं' (इतनेमें तुम भोजन बना रक्खो।) दुर्वासाजी के जाते ही द्रौपदीने सूचना दी कि भोजन आदि तो सबका-सब समाप्त होगया और अब कुछ भी नहीं बचा है, तो धर्म पुत्रको बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने शरीर-त्याग करनेका विचार प्रकट किया। इस पर द्रौपदीने कहा—'(आप इतनी चिन्ता क्यों करते हैं?) भगवान् क्या कहीं चले गए हैं? (वह हमारी सहायता अवश्य करेंगे।)'

पुराणमें लिखा है कि सूर्यनारायणने प्रसन्न हो पाण्डवों को एक टोकनी दी थी जिसका चमत्कार यह था कि जब तक द्रौपदीजी सबको भोजन करा कर उसे धो नहीं डालती थीं, तब तक वह सब प्रकारके भोजन देती थी। दुर्भाग्यसे उस दिन ऐसा हुआ कि दुर्वासा-ऋषि जब पाण्डवोंके यहाँ पहुँचे तो द्रौपदी सबको खिला-पिलाकर टोकनी धो चुकी थीं। इसलिए धर्मराजको चिन्ता हुई कि दुर्वासा तथा उनके साथ आए हुए दस हजार शिष्योंके भोजनका प्रबन्ध कहाँ से होगा।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुन्यो भागवती को बचन भक्ति भाव भरचो, करचो मन, आये श्याम, पूज्यो हिये काम है ।
आवत ही कही 'मोहि भूख लागी देवो कछु' महा सकुचाये, माँगैं प्यारो नहीं धाम है ।।
'विश्व के भरनहार धरे हैं अहार अजू हम सों दुराओ' कही बानी अभिराम है ।
लग्यो शाक-पत्र पात्र, जल संग पाय गये पूरन त्रिलोकी विप्र गिनै कौन नाम है ।।७२।।

अर्थ—सौभाग्यशालिनी द्रौपदीकी यह बात कि—'भगवान् क्या कहीं चले गए हैं ?' कान में पड़ते ही भगवान् बैठे न रह सके । उनका मन अपने भक्तके पास जल्दी-से-जल्दी पहुँच जानेके लिए आतुर हो उठा । श्यामसुन्दर तत्काल आ पहुँचे और इस प्रकार भक्तके हृदयकी अभिलाषा को पूर्ण किया ।

आनेके साथ ही भगवान् द्रौपदीसे बोले—'भाई ! मुझे भूख लगी है, कुछ खाने को दीजिये ।' द्रौपदीको यह सोच कर बड़ा संकोच हुआ कि प्राणोंसे भी अधिक प्यारे श्रीकृष्ण खानेको माँग रहे हैं, पर घरमें कुछ नहीं है । द्रौपदीको असमंजसमें पड़ा देखकर भगवान्‌ने मधुर वाणीसे कहा—'अनेक प्रकारके व्यंजनों द्वारा जो सारे संसारका पेट भर सकती है, वह टोकनी तो घरमें रक्खी हैं, भला उसे हमसे क्यों छुपा रही हो ?'

द्रौपदीने भगवान्‌को विश्वास दिलानेके लिए धुली हुई टोकनीको लाकर सामने रख दिया । उसमें शाकका एक पत्ता कहीं चिपका रह गया था । उसे निकालकर भगवान् खा गए और ऊपरसे जल पी लिया । भगवान्‌के ऐसा करते ही तीनों लोकोंका पेट भर गया; बेचारे ब्राह्मण दुर्वासा और उनके शिष्योंका तो कहना ही क्या !

द्रौपदीकी लाज बचानेके प्रसंगको लेकर अनेक कवियोंने बड़ी सुन्दर और अनूठी उक्तियाँ कहीं हैं । इनमें से कुछ नीचे दी जाती हैं—

दुर्जन दुशासन दुकूल गह्यो 'दीन बन्धु !' दीन ह्वै कै द्रुपद-दुलारी यो पुकारी है ।
आपनों सबल छाँड़ि ठाड़े पति पारथ से भीम महाभीम ग्रीवा नीचे करि डारी है ।।
अंबर लौं अंबर पहाड़ कीन्हों, शेष कवि, भीषम, करण, द्रोण सभी यों विचारी है ।
नारी मध्य सारी है,कि सारी मध्य नारी है, कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है ।।

इस कवित्तमें श्लेष और सन्देह अलंकारोंकी छटा तो देखने योग्य है ही, परन्तु साथमें वह चित्र भी आँखोंके सामने उपस्थित हो जाता है, जिसमें साड़ीके लगातार खींचने और लपेटोंके खुलनेके कारण श्रीकृष्ण की दुहाई देती हुई द्रौपदीका शरीर बराबर घूमता रहा होगा । इस समस्त क्रियाओंको कविने 'नारी मध्य सारी है, कि सारी मध्य नारी है'—इत्यादि शब्दों द्वारा बड़े अनूठे ढंगसे व्यंजित किया है ।

कहा करै बैरी प्रबल जो सहाय रघुबीर । दस हजार गज बल घटचो, घटचो न दस गज चीर ।।

विरोधाभास अलंकारका यह भी एक सुन्दर उदाहरण है । 'सूर' की वाणीमें भी इस घटना का वर्णन सुनिए—

द्रोपदी हरि सों टेर कही ।
भीषम, करन, द्रोन दुस्सासन देखत बाँह गही ।।

लेत उसास निरास सभा में नैनन नदी बही ।
पाँचों बन्धु पीठ दे ठाड़े, ह्याँ मैं सकुचि रही ।।
तुम सुध लेउ द्वारिकावासी, फाटत नाँहि मही ।
मो पति पाँच,पाँच के तुम पति,ह्याँ पति कछु न रही ।।
तुम मति ईस श्याम सुन्दर जू जितनी मैं जु सही ।
दीनानाथ ! कहावत हो प्रभु साँचो विरद सही ।।
हो जगदीस राख इहि औसर प्रगट पुकार कही ।
'सूरदास' प्रभु तुम सब लायक सो पति राख लही ।।

ऐसा लगता है मानो द्रौपदीकी लाज बचानेके बाद भी भगवान् उस करुण पुकार को कभी नहीं भूल सके, जो द्रौपदीने लगाई थी—

हा कृष्ण ! द्वारकावासिन् ! क्वासि यादवनन्दन ! इमामवस्थां संप्राप्तामनाथां किन्न रक्षसि ?

—हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण ! हे यादवनन्दन ! तुम कहाँ हो ? देखो, मैं किस हालतमें हूँ। ऐसेमें भी क्या मेरी रक्षा नहीं करोगे ?

यह पुकार न-जाने कब तक भगवान्के हृदयको कचोटती रही होगी । तभी तो वे कहते हैं—

यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा ! मां दूरवासिनम् । ऋणमेतत् प्रवृद्ध मे हृदयान्नापसर्पति ।

—मैं दूर द्वारकामें था । द्रौपदीने आवाज लगाई--"गोविन्द !!! यह पुकार ऋण (कर्ज) बन कर मेरी छातीपर रक्खी है और दुःख इस बातका है कि यह ऋण बढ़ता ही जारहा है, घटना नहीं ।

श्रीनाभा स्वामीके छप्पय सं० ९ में आये हुए जिन भक्तोंके चरित्र का उल्लेख श्रीप्रियादासजी ने नहीं किया है, उनका संक्षिप्त वर्णन आगे दिया जाता है ।

श्रीकमलाजी

श्रीकमलाजी शेषशायी भगवान् विष्णुकी अन्तरंग-स्वरूपा शक्ति हैं । वे सर्वदा उनके साथ ही निवास करती हैं, किन्तु फिर भी लीला-भेदसे उनकी उत्पत्ति समुद्रसे मानी जाती है । देवताओं और राक्षसोंने जब सागर-मन्थन किया था, तब कामधेनु, उच्चैःश्रवा, चन्द्रमा, ऐरावत, कौस्तुभ-मणि, कल्पवृक्ष और अप्सराओंके उपरान्त श्रीकमलाजी समुद्रसे उत्पन्न हुईं । इनकी बिजली के समान चमकीली छटासे दिशाएं जगमगा उठीं । इनके सौन्दर्य, यौवन, औदार्य और रूप-रंग से सबका मन चलायमान हो गया । देवता, दानव और मानव–सभी उनको प्राप्त करनेकी कामना करने लगे। स्वयं देवराज इन्द्र उनके बैठनेको बड़ा सुन्दर सिंहासन ले आए । नदियोंने परम रूपवती युवतियोंका रूप धारण कर स्वर्ण-कलशोंमें अभिषेकके लिए पवित्र जल उपस्थित किया। पृथ्वीने अभिषेकके योग्य औषधियाँ, गायोंने पञ्चगव्य और बसन्तने सुन्दर सुस्वादु फल-फूल लाकर श्रीलक्ष्मीजीकी सेवामें अर्पित किए । श्रीकमलाजीका अभिषेक किया जाने लगा । गन्धर्वोंने मङ्गल-संगीतकी तान छेड़ दी, नर्तकियाँ नाच-नाच कर गाने

लगीं। भगवती लक्ष्मी तब सिंहासन पर विराजमान हुईं। दिग्गजोंने जलसे भरे कलशों से उनको स्नान कराया। वेद ब्राह्मणोंके रूपमें मन्त्रोंका उच्चारण करने लगे। समुद्रने पीला रेशमी वस्त्र भेंट किया। वरुणने सौरभमयी वैजयन्ती-माला समर्पित की। प्रजापति विश्वकर्माने भाँति-भाँतिके गहने, सरस्वतीने मोतियोंका हार, ब्रह्माजीने कमल और नागोंने दो सुन्दर कुण्डल श्रीकमलाजीको प्रदान किये।

इसके बाद ब्राह्मणोंके स्वस्त्ययन पाठ कर चुकने पर श्रीलक्ष्मीजी अपने हाथमें सुन्दर कमलोंकी माला लेकर सर्वगुण-सम्पन्न पुरुषका वरण करने चलीं, परन्तु गन्धर्व, यक्ष, असुर, सिद्ध, चारण, देवता आदिमें कोई भी ऐसा न मिला जो निर्दोष और समस्त उत्तम गुणोंसे युक्त हो। अन्तमें उन्होंने अपने चिदाश्रय सच्चिदानन्दको पहिचान लिया और वह माला उनके ही गलेमें डाल दी। वास्तवमें श्रीलक्ष्मीजीके एकमात्र आश्रय श्रीभगवान् विष्णु ही हैं। उन्होंने परम-प्रेममयी इन कमलाजीको अपने हृदयस्थलमें स्थान दिया है।

*

श्रीगरुड़जी

श्रीगरुड़जी भगवान्के ज्ञानसम्पन्न नित्यमुक्त परिकर हैं। वेदोंके अधिष्ठातृ देवता एवं वेदात्मा होनेके कारण इनको शास्त्रोंमें सर्वज्ञ कहा गया है। श्रुतियोंमें भी इनका वर्णन 'सर्ववेदमय विग्रह' के रूपमें आया है। श्रीमद्भागवत्से भी स्पष्ट हो जाता है कि वेदके बृहद्रथ एवं रथन्तर नामक दो भेद ही इनके पंख हैं। जब गरुड़जी उड़ते हैं तो इन्हीं पंखोंसे साम-गानकी ध्वनि निकलती है। भगवान्के नित्यमुक्त परिकर होनेपर भी इनका जन्म कश्यप और विनता से माना गया है, इसीलिए इनका नाम 'वैनतेय' भी है।

श्रीगरुड़जी भगवान्के नित्य–सङ्गी एवं सदा उनकी सेवामें रहनेवाले प्रिय दास हैं। ये भगवान् विष्णुके वाहन हैं, अतः इनकी पीठपर श्रीहरिके चरण-चिह्न अंकित हो गए हैं। वह जीव ही धन्यातिधन्य है, जिसे भगवान्के चरणोंका स्पर्श मिल गया हो, फिर उसका तो कहना ही क्या जिसकी पीठको भगवान्के वे चरणारविन्द सदा-सर्वदा स्पर्श करते रहते हों।

श्रीगरुड़जीका भगवान्के दास, सखा, वाहन, आसन, ध्वजा, वितान एवं व्यजन के रूप में वर्णन आता है। असुरादिकोंके साथ संग्राम करते समय भगवान् श्रीगरुड़को अपने प्रधान सेनापतिका पद देकर समस्त भार इनके ऊपर छोड़ देते हैं, क्योंकि उनको इनपर पूर्ण विश्वास है।

भगवान्की कृपा एवं प्रेरणासे इन्होंने एक पुराणका कथन श्रीकश्यपजीको किया

था। यही पुराण श्रीवेदव्यासके द्वारा सङ्कलित होकर अष्टादश पुराणोंमें गरुड़-पुराणके नामसे प्रसिद्ध हुआ। श्रीगरुड़जी सदा भगवान्के साथ रहनेवाले उनके परम प्रिय सेवक हैं, अतः प्रभुके भक्तों को भी वे प्राणोंके समान प्रिय हैं। भक्त-जन श्रीगरुड़जीके कृपा-कांक्षी होकर अपने आपको भगवान्के दरबारमें उपस्थित कर सकनेमें समर्थ होते हैं। वास्तवमें सदा प्रभु-चरणोपासक श्रीगरुड़जी भक्तिके साक्षात् स्वरूप और भक्तोंके सर्वस्व हैं।

*

श्रीजाम्बवान्‌जी

श्रीजाम्बवान् सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्माके अवतार थे। जब रात-दिन संसारके सृजनमें लगे ब्रह्माने देखा कि इस प्रकार भगवान्का भजन तो बनता नहीं है और बिना प्रभुके भजनके संसारमें की गई समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं, तो उन्होंने अपने एक रूपसे ऋक्ष-राज जाम्बवान्के रूपमें इस धरतीपर जन्म लिया और रात-दिन अपने जीवनको भगवान्के मङ्गलमय स्वरूपके ध्यानमें, उनके भजन एवं गुणानुवादमें तथा उनकी सेवामें बिताने लगे।

जब सत्ययुगमें भगवान्ने वामनावतारमें विराट्रूप धारण कर बलिको बाँध लिया, तो जाम्बवान् भी उनके दर्शन करनेके लिए आए। इस समय भगवान्के उस विराट् स्वरूपको देखकर ऋक्षराजके मनमें बड़ा आनन्द हुआ। उन्होंनें अपने हाथमें भेरी ली और उसे बजाते हुए समस्त दिशाओंमें भगवान्की कीर्ति-पताका फहरा आए और उन विराट् भगवान्की सात प्रदक्षिणा केवल दो घड़ीमें ही समाप्त कर ली।

जब त्रेतायुग आया तो जाम्बवन्त कपिराज सुग्रीवके मन्त्री बने; क्योंकि आयु, विद्या, बल, बुद्धि और विवेकमें सबसे अधिक बढ़े-चढ़े होनेके कारण वे ही सभीको उचित सलाह दे सकते थे। वानर जिस समय माता सीताकी खोजमें निकले और हताश होकर समुद्रके किनारे आकर बैठ गए तो जाम्बवन्तने ही यह सम्मति प्रकट की कि पवनके समान बलवाले पवन-पुत्र ही लङ्का जा सकते है। उन्होंने हनुमान्जीको उनके बलका स्मरण कराया और उन्हें लङ्का भेजा। राम-रावण-युद्धमें जाम्बवान् मानो प्रधान मंत्री ही थे। सभी कार्योंमें श्रीराम इनकी सम्मति लिया करते थे। लङ्का-युद्धमें जब मेघनाथकी मायाने सबको व्याकुल कर दिया था, उस समय भी श्रीजाम्बवान्को वह माया स्पर्श न कर सकी। यह सब प्रभुके भजनका प्रताप ही तो था। सेनामें सबसे वृद्ध जाम्बवान्के मुष्टि-प्रहारसे राक्षस-राज मेघनाद और रावण-सरीखे वीरवर भी मूर्छित हो जाते थे। लङ्का-विजयके बाद राज्याभिषेक हो जानेपर सुग्रीव, अङ्गद आदि

के बिदा करते समय जब श्रीरामचन्द्रजीने इनसे भी जाने को कहा तो इन्होंने तब तक श्रीराम-दरबारको नहीं त्यागा जब तक प्रभुने उन्हें द्वापरमें दर्शन देनेका आश्वासन नहीं दे दिया।

जाम्बवान्की इच्छा हमेशा यह रहती थी कि कोई मुझे द्वन्द्व-युद्धमें संतुष्ट करे। लंका युद्धमें रावण भी उनके सामने नहीं टिक सका था। अतः जाम्बवान्की यह अभिलाषा बढ़ती ही रही। भगवान् तो भक्त-वांच्छा-कल्पतरु ठहरे। भक्तोंकी अभिलाषाको पूरा करना तो उनका व्रत है, अतः अपने भक्त जाम्बवान्की इस अभिलाषाको उन्होंने द्वापरमें पूरा किया।

द्वापरमें सत्राजित् नामक एक श्रेष्ठ यादवने सूर्यकी अर्चना करके स्यमन्तक-मणि प्राप्त कर ली थी। मणिकी सुन्दरताको देखकर श्रीकृष्णने उससे कहा कि इस मणिको महाराज उग्रसेन को दे दो। लोभवश सत्राजित्ने ऐसा करनेसे मना कर दिया। संयोग-वश उस मणिको गलेमें डालकर सत्राजित्का छोटा भाई प्रसेनजित् जङ्गलमें शिकारके लिए गया। वहाँ उसे एक सिंहने मार डाला। अब मणि सिंहके हाथ लगी और वह उसे लेकर ऋक्षराज जाम्बवान्की गुफा में गया। जाम्बवान्ने उसे मारकर मणि ले ली एवं उसे अपने बच्चेको खेलनेके लिए दे दिया।

उधर जब प्रसेनजित् शिकारके पश्चात् वापस नहीं पहुँचा तो सत्राजित्को शंका हुई कि श्रीकृष्णने मेरे भाईको मारकर उससे मणि छीन ली है। धीरे-धीरे यह प्रवाद चारों ओर फैल गया। श्रीकृष्ण इस अकीर्तिको दूर करनेके लिए मणिका पता लगानेको चल दिए और प्रसेनजित्के मरे घोड़ेसे सिंहका मार्ग खोजते हुए जाम्बवान्की गुफामें जा पहुँचे। जब श्रीकृष्ण गुफाके अन्दर गए तो इनको देखकर गुफामें कोलाहल मच गया। हल्ला-गुल्ला सुनकर जाम्बवान् बाहर आए और दोनोंमें द्वन्द्व-युद्ध होने लगा। सत्ताईस दिन तक दोनों एक-दूसरे पर मुष्टि-प्रहार करते रहे। अन्तमें केशवके वज्रके समान लगनेवाले घूँसोंसे जब जाम्बवान्का शरीर चूर-चूर हो गया तो वे सोचने लगे—'निश्चय ही ये मेरे प्रभु राम हैं, क्योंकि इस त्रिलोकीमें ऐसा दूसरा कोई भी दानव-दैत्य या देवता नहीं जो मुझे परास्त कर सके।' जब श्रीकृष्णने देखा कि भक्तकी द्वन्द्व-युद्धकी अभिलाषा पूरी हो गई है, तो उन्होंने जाम्बवान्को धनुर्धारी रामके रूपमें दर्शन दिए। अपने प्रभुको पहिचान कर ऋक्षराज उनके चरणोंपर गिर पड़े। भगवान्ने प्रसन्न होकर अपना वरद हस्त उनके शरीरसे लगाया तो युद्धसे उत्पन्न हुई पीड़ा, श्रान्ति और क्लेश सब दूर हो गए। ऋक्षराजने उस मणिको प्रभुके चरणोंमें समर्पित कर अपनी कन्या जाम्बवतीको भी उनके पदारविन्दकी सेवा करनेके लिए दे दिया। इस प्रकार ऋक्षराज

ने चारों युगोंमें भगवान्‌का गुण-गान करते हुए अन्तमें अपना सर्वस्व अपने प्रभुके चरणों में अर्पित कर दिया।

*

श्रीसुग्रीवजी

श्रीसुग्रीवजी भगवान् राघवेन्द्रके परम भक्त थे। इनका एक बड़ा भाई था, जिसका नाम था—वाली। वाली किष्किन्धापुरीका राजा था। दोनों भाइयोंमें आपसमें बड़ा प्रेम था। एक दिन मय का पुत्र मायावी नामक राक्षस मध्य-रात्रिमें महलके द्वार पर आया और वालीको युद्धके लिए ललकारने लगा। महाबलशाली वाली भला यह कैसे सह सकते थे? वे दौड़ पड़े राक्षसके पीछे। वह राक्षस जाकर एक गुफामें घुस गया। सुग्रीव भी बड़े भाईके साथ पीछे-पीछे दौड़े आए। उनसे पन्द्रह दिन तक द्वारपर प्रतीक्षा करनेकी कह कर वाली राक्षसका पीछा करते हुए गुहामें प्रवेश कर गए। श्रीसुग्रीवजी वहाँ पूरे एक माह तक भाईके आनेकी प्रतीक्षा करते रहे। अन्तमें रक्तकी एक छोटीसी धारा गुफाके द्वारसे बाहर आई। श्रीसुग्रीवने समझा कि राक्षसने भाईको मार दिया है और अब आकर मुझको भी मारेगा। इसलिए वे गुफाके द्वारको एक भारी शिलासे बन्द कर घर वापस आ गए। मंत्रियोंने जब राज्यको राजा-रहित देखा तो श्रीसुग्रीवका आग्रहपूर्वक राज्याभिषेक कर दिया।

कुछ समय बाद राक्षसको मार कर वाली लौटे। जब उन्होंने गुफाके दरवाजे को बन्द देखा तो उन्हें क्रोध आया। शिला हटाकर नगरमें आनेपर जब उन्होंने राज्य-सिंहासनपर सुग्रीव को देखा तो वे आपेसे बाहर हो गए। उन्होंने सुग्रीवको पिटा और उसका राज्य-धन-धान्य सब कुछ अपहरण कर उन्हें नगरसे निकाल दिया।

सुग्रीवजी प्राण-रक्षाके लिए मतंग ऋषिके आश्रम ऋष्यमूक-पर्वतपर चले गये और वहाँ भगवान्‌का भजन कर अपना जीवन बिताने लगे। हनुमान आदि चार मंत्रियोंने भी उनका साथ दिया।

सीता-हरणके उपरान्त जब रामचन्द्रजी उन्हें खोजते हुए ऋष्यमूक-पर्वतके पास आए तो सुग्रीवजी डर गए। उन्होंने समझा कि वालीने मेरा प्राणान्त करनेके लिए ही इन शूर-वीरोंको भेजा है। उन्होंने हनुमानजी को इस सम्बन्धमें पता लगानेके लिए भेजा। हनुमानजी आए श्रीरामचन्द्रजीके पास और जब वे पहिचान गए कि ये तो अखिल लोक-नायक भगवान् श्रीराम हैं तो उन्हें सुग्रीवके पास ले गए। भगवान् रामने दुखी सुग्रीवको अपना मित्र बनाया और सात ताड़के वृक्षोंको गिराकर वालीके बधका आश्वासन दिया। श्रीरामचन्द्रजी सुग्रीवको लेकर वालीका संहार करनेके लिए गए।

कितने ही दिनों तक दोनों भाइयोंमें भयंकर संग्राम होता रहा । अन्तमें भगवान्ने एक बाण ऐसा तक कर मारा कि वालीका प्राणान्त हो गया ।

श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे श्रीसुग्रीवजीको राजा बनाया गया और वाली-पुत्र अङ्गद युवराज बने । राज्याभिषेकके उपरान्त सुग्रीवने अपनी सारी सेनाको सीताजीके खोज निकालनेकी आज्ञा दी । श्रीहनुमान्जी लंका जाकर माता जानकीका समाचार लाए । रावणसे सीताको लौटा देनेका आग्रह किया । जब वह राजी नहीं हुआ तो संग्राम छिड़ गया । श्रीसुग्रीवजीने अपने प्रभु रामके लिए अपना तन, मन, धन—सब लगा दिया । अन्तमें श्रीरामकी विजय हुई । लंका विजयके उपरान्त जब अयोध्या वापस आये तो श्रीसुग्रीवजी भी प्रेमके कारण उनका साथ नहीं छोड़ सके और दीर्घ काल तक अयोध्यामें अपने प्रभुकी आराधना करके उनके विशेष आग्रहसे किष्किन्धा-पुरीमें वापस आ गये ।

श्रीसुग्रीवजी भगवान् रामके प्रिय सखा थे । उन्होंने स्थान-स्थानपर यही कहा हैं कि तुम्हारे समान मित्रता निभानेवाला इस संसारमें दूसरा और कोई भी नहीं है । वास्तवमें श्रीसुग्रीवजीके समान आदर्श निस्वार्थ सखा संसारमें विरले ही होते हैं । उनका समस्त जीवन राम-काज, राम-भजन और राम-स्मरणमें ही बीता । वस्तुतः राम-सखा सुग्रीवजीने ही जीवनका सच्चा फल प्राप्त किया है । भगवान्ने स्वयं भी उन्हें 'सुग्रीवः पञ्चमो भ्राता'—श्रीसुग्रीवजी मेरे पाँचवे भाई हैं—कहकर सम्बोधित किया है ।

*

श्रीध्रुवजी

स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादके दो रानियाँ थीं—सुनीति एवं सुरुचि । राजा अपनी छोटी रानी सुरुचिको बहुत चाहते थे । समय आनेपर दोनों रानियोंके एक-एक पुत्र पैदा हुआ । बड़ी रानी के पुत्रका नाम ध्रुव था और छोटी रानी के पुत्रका उत्तम । छोटी रानीको अधिक चाहनेके कारण राजा उत्तमपर ही अधिक प्यार करते थे ।

एक दिन राजा उत्तानपाद उत्तमको गोदीमें लेकर खिला रहे थे । उसी समय ध्रुव भी वहाँ आगये और पिताकी गोदमें चढ़नेके लिए मचलने लगे । रानीने जब सौतेले पुत्रको इस प्रकार राजाकी गोदके लिए मचलते हुए देखा तो ईर्ष्या और गर्वसे बोली—'बेटा ! राजाकी गोदमें बैठनेका अधिकारी तो वही हो सकता है, जिसने मेरे पेटसे जन्म लिया है । तू इस कामके लिए चेष्टा क्यों करता है ? अगर तेरी भी इच्छा राजाकी गोदमें बैठनेकी है, तो पहले जाकर तपस्या कर और फिर मेरे पेटसे जन्म

लेकर महाराजाकी गोदका अधिकारी बन, अन्यथा यह सौभाग्य तुझे प्राप्त नहीं हो सकता।' रानीकी बात ध्रुवके घर कर गई। वह एक साथ रो उठा और भागकर अपनी माँके पास गया। बालकको इस प्रकार रोता देख माँने उसे गोदमें उठा लिया और जब उससे रोने का कारण पूछा, तो उसने छोटी माँकी बातोंको दुहरा दिया। सुनीतिको बड़ा कष्ट हुआ। उसने रोते हुए ध्रुवसे कहा—'बेटा! संसारमें सभी लोग अपने कर्मोंके कारण दुःख-सुख भोगते हैं। छोटी रानी ठीक कहती है। तूने जन्म तो लिया है मुझ अभागिनीके उदरसे और चाहता है राजाकी गोदमें बैठना। यह कैसे हो सकता है? इसलिए छोटी माँने जो शिक्षा दी है, उसका तुम्हें अक्षरशः पालन करना चाहिए। वास्तवमें सब कुछ भगवान् के भजनके ही आधीन हैं। जिन कमल-नयन भगवान्का भजन करके ब्रह्माजी पितामह और सृष्टिकर्त्ता बन गए, तुम्हें भी उन्हीं भगवान्का ध्यान करना चाहिये। उन परम दयालु भगवान्के अलावा तुम्हारा दुःख दूर करनेवाला दूसरा इस त्रिलोकी में कोई नहीं है। वे भगवान् समस्त ऐश्वर्यके स्वामी हैं और सब कुछ करने में समर्थ हैं। तुम उन दयामय नारायणकी ही शरण जाओ, तभी तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।'

मा ताकी बातको ध्रुवने सुना और सुनकर हृदयमें उतार लिया। वे पिताका राज्य, वैभव और माताकी ममता सब कुछ छोड़ कर भगवान्को पानेके लिए जंगल की ओर चल दिए। न तो उन्हें अपने खानेकी चिन्ता थी, न पीनेकी। उन्हें यह भी पता नहीं था कि जंगलमें किस प्रकार के हिन्सक जन्तु रहते हैं; क्योंकि वे बिलकुल अबोध थे, उनकी अवस्था अभी पाँच वर्षकी ही तो थी। ध्रुव जब सब कुछ छोड़कर चल पड़े तो मार्गमें उन्हें नारदजी मिले। पहले तो नारदजीने ध्रुव को अनेक प्रकारके भय और प्रलोभन देकर बापिस लौटाना चाहा, किन्तु जब बालक ध्रुवकी दृढ़ताके सामने उनके सब प्रयत्न असफल हो गए, तो बालक को द्वादशाक्षर मन्त्रकी दीक्षा देकर यमुना-किनारे मधुवनमें भजन करनेका आदेश दिया और स्वयं राजा उत्तानपादके पास गये। देवर्षिने देखा कि ध्रुवके वनमें चले जानेके बाद राजा पश्चात्तापकी ज्वालामें जले जा रहे हैं। नारद ने उन्हें समझाया और आश्वासन देकर शान्त किया।

जब तक भगवान्के अस्तित्व, दयामयता और सर्व-शक्तिमत्तामें जीवका अटल विश्वास नहीं होता, तब तक भगवान्के भजनमें मन लगाना असंभव है। ध्रुवका भगवान्में अटल विश्वास था, उन्हें भगवान्की भक्तवत्सलतामें तनिक भी संशय नहीं था। उन्होंने एक बार भी यह नहीं सोचा कि भगवान् मुझे नहीं मिलेंगे। वे नारदजीके

आदेशानुसार कालिन्दीके किनारे रम्य मधुवनमें पहुँचे, यमुनाके पवित्र-निर्मल जलमें स्नान किया और फूल-फलोंसे भगवान्‌की पूजा करके द्वादशाक्षर-मंत्रका जाप करने लगे। पहले महीने तीन दिन उपवास करके चौथे दिन कैथ और बेर खा लिया करते थे। दूसरे महीने केवल एक दिन वृक्षसे स्वयं गिरे हुए पत्ते या सूखी घास खाकर भगवान्‌के भजनमें मग्न रहने लगे। तीसरे महीने नौ दिन बीत जाने पर केवल एक बार वे जल पीते थे। चौथे महीने उन्होंने बारह दिनमें केवल एक बार वायु-भोजन करना प्रारम्भ कर दिया और पाँचवे महीने तो उन्होंने श्वास लेना भी छोड़ दिया। इस प्रकार कठोरतम तपस्यासे प्राणोंको अपने बशमें करके पाँच वर्षके बालक ध्रुव एक पैरसे खड़े होकर भगवानका ध्यान करने लगे।

पाँच वर्षके ध्रुवने समस्त लोकोंके आधार भगवानको अपने अखण्ड ध्यानसे हृदय-स्थलमें बन्द कर लिया। उनके श्वास न लेनेसे त्रिलोकीका निश्वास बन्द होने लगा। देवता घबड़ाए और वे भागे शेषशायी भगवान विष्णुके पास, अपनी तथा संसार के जीवोंकी रक्षाके लिए। भगवानने आश्वासन दिया—'बालक ध्रुव मेरे ध्यानमें प्राणायाम साध रहा है, इसी कारण संसारका वायु-प्रवाह रुका हुआ है। मैं अभी जाकर उसको इस कठोर तप से निवृत्त करता हूँ।'

भगवान गरुड़ पर चढ़ कर भक्तराज ध्रुवके पास आए, किन्तु ध्रुव हृदयस्थ तदीय स्वरूप के ध्यानमें इतने तल्लीन थे कि उन्हें श्रीनारायणके आगमनका पता भी नहीं चला। भगवानने जब अपना स्वरूप उनके हृदयमें अन्तर्निहित किया तो वे व्याकुल हो उठे, किन्तु आँखें खोल कर जब सामने देखा तो अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-मूर्ति भगवान सामने खड़े-खड़े मुस्करा रहे थे। ध्रुव का बाल-हृदय आनन्दके महासागरमें डूब गया। वे एक टक देखते रहे भगवानकी उस रूपमाधुरीको और हाथ जोड़कर भगवानकी प्रार्थना करनेको तैयार हुए, पर क्या प्रार्थना करते? वे कुछ समझ न सके। भगवानने मुस्कराती आँखोंसे भोले ध्रुवकी ओर देखा और उनके मनकी भावनाओंको समझ कर अपने अखिल-श्रुति-स्वरूप शंखको उनके कपोलसे स्पर्श करा दिया। उसी समय ध्रुवके हृदयमें समस्त विद्याओंका आविर्भाव हो गया; ज्ञानके आकाशसे उनका हृदय जगमगा उठा। उन्होंने फिर प्रेमसे भगवान् नारायणकी स्तुति की।

जब ध्रुव शान्त होगये तो भगवान उनको वर देते हुए बोले—'बेटा ध्रुव! यद्यपि तुमने मुझसे किसी प्रकारका वरदान नहीं मांगा है, परन्तु मैं स्वयं तुम्हें वह पद देता हूँ जो बड़े-बड़े ज्ञानी, योगी और तपस्वियोंको दुष्प्राप्य है और समस्त तारे तथा

नक्षत्र जिसकी प्रदक्षिणा किया करते हैं। वह पद ऐसा है, जहाँ जाकर फिर इस संसार में आनेकी आवश्यकता नहीं। तुम अपने पिताके अनन्तर दीर्घ-काल तक इस धरतीका राज्य भोगो और फिर उस अक्षय-लोकमें आकर निवास करो।' वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गए।

भगवान्‌को अपने सामने न पाकर ध्रुवको बड़ा दुःख हुआ। वे विकल होकर पश्चात्ताप करने लगे—'मैंने संसार-चक्रसे मुक्त कर देने वाले भगवानको पाकर भी भोगों को ही माँगा। वह ध्रुव-पद, जिसकी मैंने चाह की थी, कल्पान्त में जाकर कभी न कभी नष्ट अवश्य ही होगा। यह मैंने क्या किया?' इस प्रकार अपनेको धिक्कारते हुए वे घर लौट गये।

इधर जब राजा उत्तानपादने देखा कि ध्रुव वनमें चले गये हैं, तभीसे उनका स्वभाव पलट गया। वे ध्रुवकी माता सुनीतिका सच्चे हृदयसे सम्मान करने लगे। और जब उन्होंने यह सुना कि ध्रुव पधार रहे हैं तो उनके आनन्दका ठिकाना न रहा। चारों ओरसे नगरकी सजावट की गई। राज-मार्ग और वीथिकाओंको सुगन्धित द्रव्योंसे अभिषिंचित किया गया तथा महाराज समस्त नगर-निवासियोंके साथ अपने प्रिय पुत्र का स्वागत करनेके लिए नगर-द्वार पर आकर प्रतीक्षा करने लगे। इतने ही में प्रवेश करते हुए ध्रुवजी दिखलाई दिए। महाराज उत्तानपादने जब देखा कि उनका प्रिय पुत्र सामने पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम कर रहा है तो वे हाथी से नीचे उतर पड़े और ध्रुवको उठा कर गलेसे लगा लिया। आनन्दके कारण उनके शरीरमें रोमाञ्च होगया, आँसुओं की धारा आँखोंसे फूट पड़ी और कण्ठ गद्‌गद् हो गया। पिताके चरण-स्पर्शके उपरान्त श्रीध्रुवजी विमाताके चरणोंमें लेट गए। सुरुचि को अपने किए का स्मरण हो आया, पर आनन्दके कारण उसने सर्व-प्रिय पुत्र ध्रुवजीको गोदमें उठा लिया और प्रेमाधिक्यसे कण्ठ रुक जानेके कारण केवल उन्हें आशीर्वाद देकर ही वह मौन हो गई। माता सुनीतिके तो मानो प्राण ही लौट आए थे। नागरिकोंके हृदयका आनन्द जय-जयकार के रूपमें चारों ओर सहस्त्रों उत्सवोंमें फूट पड़ा। नगरमें चारों ओर आनन्द छागया। इसी आनन्दके वातावरणमें महाराज श्रीध्रुवजीको राजमहलमें लिवा लाए।

कुछ समयके पश्चात् महाराज उत्तानपादको वैराग्य होगया और वे राज्य-भार श्रीध्रुवके ऊपर त्याग कर तपोवनमें भगवानका भजन करने चले गए। इसी समय एक बार सुरुचिका पुत्र उत्तम आखेट करते-करते कुबेरकी अलकापुरीके पास हिमालयपर पहुँच गया। वहाँ यक्षोंसे विवाद होगया और उन्होंने उसे मार डाला। अपने भाईके

मरनेका समाचार सुनकर श्रीध्रुवजीको बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने कुबेरकी नगरीपर आक्रमण कर दिया । बड़ा घमासान युद्ध हुआ । अन्तमें ब्रह्मलोकसे महाराज मनु आए और उन्होंने ध्रुवको समझाकर कहा–'बेटा ! ये यक्ष उपदेव हैं । इनके स्वामी श्रीकुबेरजी हैं । वे भगवान शंकरके सखा हैं, उनका सम्मान तुमको करना चाहिए ।' ध्रुवजीने मनु की आज्ञा मान ली और युद्ध बन्द कर दिया । श्रीध्रुवजीकी यह शिष्टता देख कर कुबेरजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने ध्रुवके पास आकर उनसे वरदान माँगनेको कहा । ध्रुवजीने प्रसन्नतापूर्वक वरदान माँगा–'भगवानके चरणोंमें मेरा अविचल प्रेम हो, मुझे यही वरदान चाहिए ।' श्रीकुबेरजी वरदान देकर अदृश्य होगये और ध्रुव अपनी राजधानीको वापस चले आये ।

भोगोंसे अनासक्त रहकर भगवानका भजन करते हुए ध्रुवने दीर्घ-काल तक राज्य किया । अन्तमें तप करनेके लिए बदरिकाश्रम चले गये । वहाँ अविचल चित्तसे भगवानका ध्यान करते रहनेके बाद भगवत्-पार्षदों द्वारा उनके लिए एक दिव्य विमान लाया गया । श्रीध्रुवजी विमानपर चढ़े तो उनका शरीर दिव्य होगया और वे भगवान के आदेशसे उनके पार्षदों के साथ चल दिए । मार्गमें उन्हें अपनी माताका स्मरण हो आया । उसी समय भगवानके पार्षदोंने आगे-आगे विमानसे जाती हुई देवी सुनीतिको दिखा दिया । भगवानके भक्त अपने सम्पूर्ण वंशका उद्धार कर देते हैं । आज भी श्रीध्रुवजी अपने अविचल धाममें रहकर भगवानका भजन करते हैं । रात्रिमें चमकने वाला ध्रुवतारा उन्हींका ज्योतिर्मय धाम है ।

***

श्रीउद्धवजी

श्रीउद्धवजी भगवान् श्रीकृष्णके सबसे प्रिय-सखा थे । उनका शरीर श्रीनन्दनन्दन के समान ही मनोहर और श्याम-वर्णका था । वे श्रीवृहस्पतिजीके शिष्य तथा नीति और तत्त्वज्ञानके प्रकाण्ड पण्डित थे । एक बार भगवान श्रीकृष्णने व्रज-गोपियोंको सान्त्वना देनेके बहाने इन्हें व्रज-प्रदेशमें भेजा ताकि शुष्क-ज्ञानके उपासक उद्धवजी प्रेम की माधुरीका कुछ अनुभव कर अपने जीवनको सफल बना सकें । उद्धवजी श्रीश्याम-सुन्दरका सन्देश लेकर व्रजराज श्रीनन्दके यहाँ पहुँचे तो जिस स्नेह और प्रेमसे उनका स्वागत-सत्कार किया गया, उसे देखकर उनके तत्त्वज्ञान की पिटारी जर्जरित होने लगी । एकान्त पाकर श्रीकृष्ण-प्रेमामृत-पालिता व्रज-बालायें उनके चारों ओर आकर एकत्रित हो गईं और नाना प्रकारके प्रश्न उद्धवजीसे करने लगीं । श्रीउद्धवजीने उन्हें

बतलाया—'आप जिन श्रीकृष्णके विरहमें इतनी व्याकुल हो रही हैं वे तो हम, तुम क्या, जीव-मात्र और समस्त जड़-चेतनमें व्याप्त हैं। उन सर्वव्यापी निर्गुण ब्रह्मसे संयोग-वियोग कैसा ? वे तो अब भी तुम्हारे सामनेके समस्त पदार्थोंमें व्याप्त हैं; फिर उनके लिए विरह कैसा ?' गोपियोंने उद्धवकी इन तत्त्वज्ञानकी बातोंको सामान्य-रीतिसे ठुकरा दिया और बोलीं—'उद्धव ! पता नहीं, तुम जाने किस कृष्णकी बात कह रहे हो ? हम तो उन कृष्णको चाहने वाली हैं, जिनके माथेपर मोर-मुकुट है, हाथमें वंशी है, कमरमें पीताम्बर धारण करनेवाले हैं, जो हमारे घर आ-आकर माखन खाते हैं, नाचते हैं, गाते हैं और अनन्त कामदेवकी छविसे हमारे लोचनोंको परमानन्द प्रदान करते हैं। उद्धव ! तुम एक वार यह कह दो कि वे ही प्राण-प्यारे श्रीकृष्णचन्द्र हमें मिल जाएँगे, फिर हम तुम्हारी सभी बात माननेको तैयार हैं।'

इस प्रकार गोपियोंके प्रेम-रसमें पगे वचनोंको सुनकर ज्ञानके धनी उद्धवकी बुद्धि विथकित होगई और प्रेमके स्वरूपकी उस एक झलकसे ही उनकी ज्ञान-चक्षुओंके सामने चकाचौंध छा गया। वे सोचने लगे—'वास्तवमें संसारमें जन्म लेना तो इन गोपियोंका ही सार्थक है; क्योंकि भवभयसे भीत ऋषि-मुनि-ज्ञानी और तपस्वी तथा हम जिस चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मकी केवल अनुकम्पाके चाहनेवाले हैं, उसके साथ इनका ऐसा मधुर सम्बन्ध और इतनी प्रगाढ़ प्रीति है।' आनन्दमें उद्धव झूम उठें और भगवानसे प्रार्थना करते हुए बोले—'हे व्रजेश-नन्दन ! मुझे तो इस वृन्दावनका ही कोई पक्षी बना दो या कोई पशु बना दो या गुल्म-लता बना दो या कोई तृण ही बना दो, जिससे प्रेमकी प्रतिमा इन व्रज-गोपियोंकी चरण-रेणुका स्पर्श पाकर मैं अपने आपको कृतार्थ कर सकूँ।'

उद्धवजी उसी रसमें आप्लुत द्वारका पहुँचे और इन्हीं व्रजाङ्गनाओंके पुनीत प्रेमका स्मरण कर श्रीद्वारकाधीशके साथ रहने लगे। जब श्रीकृष्णका स्वधाम पधारने का समय हुआ तो द्वारकामें चारों ओर अपशकुन होने लगे। श्रीउद्धवजी समझ गए और भगवानके सामने जाकर बोले—'प्रभो ! मैं तो आपका दास हूँ, आपका सीथ-प्रसाद खाकर रहता हूँ और आपके पहने हुए कपड़े पहिन कर अपना शरीर ढकता हूँ।' आप मेरा त्याग न करें, मुझे भी आप अपने साथ ही अपने धाम ले चलें। श्रीकृष्णने उद्धवजी को आश्वासन दिया और तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर उन्हें बदरिकाश्रममें जाकर निवास करनेकी आज्ञा दी।

श्रीकृष्ण चले गये अपने धाम और उद्धव बेचारे देखते रह गये। भगवान्की आज्ञा थी बदरिकाश्रम जानेकी और उनकी अभिलाषा थी श्रीव्रज-प्रदेशमें निवास करने की; अतः श्रीउद्धवजी अपने स्थूल रूपसे तो बदरिकाश्रम चले गये और सूक्ष्म रूपसे

श्रीगोवर्धनके पास लताओंमें छिपकर रहने लगे। जब महर्षि शाण्डिल्यके उपदेशसे वज्रनाभने गोवर्धनके समीप संकीर्त्तन महोत्सव किया, तब लता-कुञ्जोंसे निकल कर श्रीउद्धवजीने वज्रनाभ एवं व्रज-गोपिकाओंको श्रीमद्भागवतकी कथाका श्रवण कराया और एक महीने पश्चात् सबको श्रीनिकुञ्जमें लिवा ले गए।

इन समस्त कार्योंसे प्रतीत होता है कि निर्गुण ब्रह्मके उपासक श्रीउद्धव भगवान् श्रीकृष्णके कितने भक्त थे। तभी तो उनके लिए व्रजेन्द्र-नन्दनने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

—मुझे तुम्हारे जैसे प्रेमी-भक्त जितने प्रिय हैं, उतने ब्रह्मा, शङ्कर, बलराम, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी नहीं है।

***

राजा चित्रकेतु

शूरसेन देशमें प्राचीन समयमें चित्रकेतु नामके एक राजा थे। बुद्धि, विद्या, बल, धन, यश, सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदि सब था उनके पास। उनमें उदारता, दया, क्षमा, प्रजावात्सल्य आदि सद्गुण भी पूरे थे। उनके सेवक नम्र और अनुकूल थे। मन्त्री नीति-निपुण तथा स्वामीभक्त थे। राज्यमें भीतर-बाहर कोई शत्रु नहीं था। राजाके बहुत-सी सुन्दरी रानियाँ थीं। इतना सब होनेपर भी राजा चित्रकेतु सदा दुखी रहते थे। उनकी किसी रानीके कोई सन्तान नहीं थी। वंश नष्ट हो जायेगा, इस चिन्तासे राजाको ठीक निद्रा तक नहीं आती थी। एक बार अङ्गिरा ऋषि सदाचारी भगवद्भक्त राजा चित्रकेतुके यहाँ पधारे। महर्षि राजापर कृपा करके उन्हें तत्त्वज्ञान देने आये थे, किन्तु उन्होंने देखा कि मोहवश राजाको पुत्र पानेकी प्रबल इच्छा है। ऋषिने सोच लिया कि जब यह पुत्र-वियोगसे दुखी होगा, तभी इसमें वैराग्य होगा और तभी कल्याण के सच्चे मार्गपर चलने योग्य होगा। अतः राजाकी प्रार्थनापर ऋषिने त्वष्टा देवताका यज्ञ किया और यज्ञसे बचा अन्न राजाको देकर कह दिया कि 'इसको तुम किसी रानी को दे देना।'

उस अन्नको खाकर राजाकी एक रानी गर्भवती हुई। उसके पुत्र हुआ। राजा तथा प्रजा दोनोंको अपार हर्ष हुआ। अब पुत्र-स्नेहवश राजा उसी रानीसे अनुराग करने लगे। दूसरी रानियोंकी याद ही अब उन्हें नहीं आती थी। राजाकी उपेक्षासे उनकी दूसरी रानियोंके मनमें सौतिया डाह उत्पन्न होगया। सबने मिलकर उस नवजात बालक

को एक दिन विष दे दिया और बच्चा मर गया। बालककी मृत्युके कारण शोकसे राजा पागल-से हो गये। राजाको ऐसी विपत्तिमें देख उसी समय वहाँ देवर्षि नारदके साथ महर्षि अङ्गिरा आये। वे राजाको मृत-बालकके पास पड़े देख समझाने लगे—'राजन्! तुम जिसके लिये इतने दुखी हो रहे हो, वह तुम्हारा कौन है? इस जन्म से पहले वह तुम्हारा कौन था? जैसे रेतके कण जलके प्रवाहसे कभी एकत्र हो जाते हैं और फिर अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही कालके द्वारा विवश हुए प्राणी मिलते और अलग होते रहते हैं। यह पिता-पुत्रका सम्बन्ध कल्पित है। ये शरीर न जन्मके पूर्व थे, न मृत्युके पश्चात् रहेंगे। अतः तुम इनके लिये शोक मत करो।'

राजाको इन वचनोंसे कुछ सान्त्वना मिली। उसने पूछा—'महात्मन्! आप दोनों कौन हैं? मेरे-जैसे विषयोंमें फँसे मूढ़-बुद्धि लोगोंको ज्ञान देनेके लिये आप-जैसे भगवद्भक्त सिद्ध महापुरुष निःस्वार्थ भावसे पृथ्वीमें विचरण करते हैं। आप दोनों मुझ पर कृपा करें। मुझे ज्ञान देकर इस शोकसे बचायें।'

महर्षि अङ्गिराने कहा—'राजन्! मैं तो तुम्हें पुत्र देनेवाला अङ्गिरा हूँ और मेरे साथ ये ब्रह्मपुत्र देवर्षि नारदजी हैं। तुम ब्राह्मणोंके और भगवान्‌के भक्त हो, अतः तुम्हें क्लेश नहीं होना चाहिये। मैं पहले ही तुम्हें ज्ञान देने आया था, पर उस समय तुम्हारा चित्त पुत्र-प्राप्तिमें लगा था। अब तुमने पुत्रके वियोगका क्लेश देख लिया। इसी प्रकार स्त्री, धन, ऐश्वर्य आदि भी नश्वर हैं। उनका वियोग भी चाहे जब सम्भव है और ऐसा ही दुखदायी है। ये राज्य, गृह, भूमि, सेवक, मित्र, परिवार आदि सब शोक, मोह, भय और पीड़ा ही देनेवाले हैं। ये स्वप्नके दृश्योंके समान हैं। इनकी यथार्थ सत्ता नहीं है। अपनी भावनाके अनुसार ही ये सुखदायी प्रतीत होते हैं। द्रव्य, ज्ञान और क्रियासे बना इस शरीरका अभिमान ही जीवको क्लेश देता है। एकाग्र चित्त से विचार करो एकमात्र भगवान्‌को ही सत्य समझकर उन्हींमें चित्त लगाकर शान्त हो जाओ।'

राजाको बोध देनेके लिये देवर्षि नारदने जीवका आवाहन करके बालक को जीवित कर उससे कहा—'जीवात्मन्! देखो। ये तुम्हारे पिता-माता, बन्धु-बान्धव तुम्हारे लिये व्याकुल हो रहे हैं। तुम इनके पास क्यों नहीं रहते?'

जीवात्माने कहा—'ये किस-किस जन्ममें मेरे माता-पिता हुए थे? मैं तो अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें अनन्त कालसे जन्म लेता आ रहा हूँ। सभी जीव परस्पर कभी पिता, कभी पुत्र, कभी मित्र, कभी

शत्रु, कभी सजातीय, कभी रक्षक, कभी आत्मीय और कभी उदासीन बनते हैं। ये लोग मुझे अपना पुत्र मानकर रोते क्यों हैं? शत्रु मानकर प्रसन्न क्यों नहीं होते? जैसे व्यापारियोंके पास वस्तुयें आती और चली जाती हैं, एक पदार्थ आज उनका है, कल उनके शत्रुका है, वैसे ही कर्मवश जीव नाना योनियोंमें जन्म लेता घूमता है। जितने दिन जिस शरीरका साथ है, उतने दिन ही उसके सम्बन्ध अपने हैं। यह स्त्री-पुत्र-घर आदि का सम्बन्ध यथार्थ नहीं है। आत्मा न जन्मता, न मरता है। वह नित्य, अविनाशी, सूक्ष्म, सर्वाधार, स्वयंप्रकाश है। वस्तुतः भगवान् ही अपनी मायासे गुणोंके द्वारा विश्व के नाना-रूपोंमें व्यक्त हो रहे हैं। आत्माके लिये न कोई अपना है, न पराया। वह एक है और हित-अहित करनेवाले शत्रु-मित्र आदि नाना बुद्धियोंका साक्षी है। साक्षी आत्मा किसी भी सम्बन्ध तथा गुण-दोषको ग्रहण नहीं करता। आत्मा तो कभी मरता नहीं। वह नित्य है और शरीर नित्य है नहीं, फिर ये लोग क्यों व्यर्थ रो रहे हैं?'

जीवात्माके इतना कह कर चले जाने पर सबका मोह दूर हो गया। विष देने-वाली रानी को भी बादमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। यह सुनकर महाराज चित्रकेतु महर्षि अंगिरा और देवर्षि नारद के पास आकर उनसे भगवत्प्राप्ति का साधन पूछने लगे। नारदजीने उनको भगवान् शेष का ध्यान तथा स्तुति-मन्त्र बतलाया। उसी स्तुति-रूप विद्याका राजाने केवल जलके सहारे रह कर सात दिन तक अखण्ड जप किया। इसके प्रभावसे वे विद्याधरोंकी योनिमें आ गए और कुछ समय पश्चात् अपनी मनोगतिके अनुसार भगवान् शेषके पास पहुँच गए। वहाँ अनेकों ऋषि, मुनि, योगी और ज्ञानियों से सेवित भगवान् संकर्षणके दर्शन किए और उनसे तत्त्वज्ञान का उपदेश प्राप्त किया। भगवान्‌के उपदेशसे राजाका मोह-जन्य अज्ञान जाता रहा और वे समस्त कामनायें, सम्पूर्ण इच्छायें एवं सब प्रकारके अहंकारको त्यागकर परमात्मामें मन लगाने लगे।

अब इन्हें अपनी तपश्चर्या और योगके बलसे इतनी शक्ति प्राप्त होगई थी कि ये चौदहों लोकोंमें बिना रोक-टोकके जा सकते थे। एक बार वे आकाश मार्गसे होकर जारहे थे कि उनकी दृष्टि शिवलोक पर पड़ी। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् शंकर महर्षियों, देवर्षियों और देवगणोंके समाजके मध्य भी अपनी पार्वतीको अङ्कमें लेकर बैठे हैं। चित्रकेतु उस दृश्यको देखकर भगवान् शंकर और पार्वतीकी आलोचना करने लगे। चन्द्रमौलि तो केवल उस आलोचनाको सुनकर हँस दिए, पर पार्वतीजीको क्रोध आ गया और उन्होंने चित्रकेतुको शाप दिया कि—'तू बड़ा उद्धत और अविनीत है, इस देव-योनिके योग्य नहीं। जा, इस कुकृत्यके कारण तुझे असुर-योनि प्राप्त हो।'

शाप सुनकर चित्रकेतुको न तो दुःख हुआ और न भय ही; किन्तु वे माता

पार्वतीके साथ शिष्ट व्यवहार करनेके लिए विमानसे उतर पड़े और उनके चरण पकड़ कर बोले—'माता ! मुझे आपके द्वारा दिया गया शाप स्वीकार है; पर मेरे अशिष्ट व्यवहारसे उत्पन्न हुई अपने हृदय की विकृतिको दूर कर आप मुझे क्षमा कर दीजिए, जिससे कि शाप देनेके बाद भी आपके हृदयको किसी भी प्रकार कष्ट न हो ।'

इस प्रकार क्षमा माँग कर चित्रकेतु विमानमें बैठकर चल दिए । उनकी इस स्थितिको देखकर पार्वतीको बड़ा आश्चर्य हुआ । शंकरजीने उन्हें बतलाया—'देवि ! भगवान्के आश्रित रहनेवाले भक्त किसीसे डरते नहीं; क्योंकि कोई भी स्थिति उनके अन्तःकरणको विचलित नहीं कर सकती है । वे स्वर्ग, नरक तथा मोक्षमें भी समान दृष्टि रखते हैं । वे जानते हैं कि जीव भगवान्की लीलासे ही सुख-दुःख, जन्म-मरण एवं शाप-अनुग्रहके अधिकारी होते हैं । ये चित्रकेतु भी वैसे ही शान्त, समदर्शी एवं भगवान् के अनन्य भक्त हैं । यदि इनकी क्रिया इस प्रकारकी है तो इसके लिये तुम्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिए ।'

श्रीशंकर भगवान्के इन शब्दोंसे पार्वतीका आश्चर्य दूर होगया और उनके शाप के कारण परम-भक्त श्रीचित्रकेतुजी त्वष्टाके यज्ञमें दक्षिणाग्निसे वृत्रासुरके रूपमें प्रकट हुए और उस योनि में भी भगवान्के परम-भक्त रह कर इन्द्रके द्वारा उस आसुरी शरीरका अन्त कर देनेपर भगवान् की अनन्त ज्योतिमें जा मिले ।
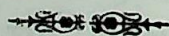
गज-ग्राहजी

श्रीगजराजजी पूर्व-जन्ममें इन्द्रदवन राजा तथा श्रीग्राहजी हाहा-नामके एक गन्धर्व थे । दोनोंको ऋषियोंके शापके कारण यह योनि भोगनी पड़ी थी । ये दोनों कथायें यहाँ संक्षेपमें दी जाती हैं—

गजेन्द्रजी—इन्द्रदवन नामका एक राजा था । वह अपने मंत्रियोंपर राज्यका भार छोड़कर एकान्त पर्वतकी घाटीमें जाकर भजन करने लगा । वह सुबहसे शामतक मौन रहकर भगवान्के ध्यानमें मस्त रहता था ।

एक वार संयोगवश ऋषीश्वर श्रीअगस्त्यजी वहाँ आ निकले । वे घूमते-घामते राजाके पास भी पहुँचे, पर अभिमानके कारण न तो उस राजाने खड़े होकर ऋषिराज का अभिवादन ही किया और न उनको उचित आदर-सत्कारसे ही प्रसन्न किया । महर्षिको उसके इस व्यवहार पर क्रोध आया और उन्होंने शाप दिया कि—'तू मदमस्त हाथी हो जा'—क्योंकि अपने अभिमानके मदमें वह हाथीके समान ही बैठा रहा था । ऋषिराजके इसी शापके कारण वह इन्द्रदवन राजा बड़ा शक्तिशाली गजराज हुआ ।

ग्राहजी—एक बार श्वेतद्वीपके एक सरोवरमें श्रीदेवल-मुनि स्नान कर रहे थे। हाहा नामक गन्धर्व भी वहीं पासमें क्रीड़ा कर रहा था। उसने खेल ही खेलमें पानीके भीतरसे आकर मुनिका पैर इस प्रकारसे पकड़ लिया मानो कोई ग्राह हो। मुनि डर गए। उनको डरा हुआ देख कर गन्धर्व पानीसे बाहर निकल कर हँसने लगा। मुनि सब रहस्य समझ गए और उन्होंने उसकी इस क्रियासे क्रुद्ध होकर उसे ग्राह बन जानेका शाप दे दिया। उसी शापके परिणाम-स्वरूप उस गन्धर्वको ग्राह बनना पड़ा और वह उसी तालाबमें रहने लगा।

संयोगवश एक दिन अगस्त्य ऋषिके शापके कारण हाथी बना इन्द्रदवन नामका राजा भी अपने परिकरके साथ घूमता हुआ उसी सरोवरके किनारे आ पहुँचा। वहाँ उसने अपनी हथनियों और साथियोंके साथ जल पिया। जब वह सरोवरमें विहार करनेके लिये जाना ही चाहता था कि उसी ग्राहने उसका पैर पकड़ लिया और लगा उसे सरोवरके बीचमें खींचने। गजेन्द्र सावधान हुआ। वह अपने पैरको छुड़ाने लगा। दोनों ओरसे खींचा-तानी होने लगी। अपने बलसे जब गजराजका काम नहीं चला तो उसने अपने अन्य साथियोंको भी सहायताके लिए बुलाया, पर वे भी कुछ न कर सके और ग्राह हाथीको अथाह पानीमें खींचता ही ले गया। जब गजराजकी हथनियों और साथियोंने देखा कि यह तो अब मरने वाला है, हम इसके पीछे अपने प्राण क्यों त्यागें, तो वे उसे छोड़कर अपने निवास-स्थानपर चले गए। फिर भी ग्राह अपने बल पर सहस्र वर्ष-पर्यन्त लड़ता रहा। अन्तमें उसकी शक्ति समाप्त हो गई। जब उसकी सूँड़ केवल तिल-भर ऊपर रह गई तो उसे दीन-वत्सल, अशरण-शरण भगवान् विष्णुका स्मरण आया—"वे त्रिलोकके रक्षक क्या मेरी रक्षा नहीं करेंगे?" भगवान्की याद आते ही उसकी आँखें बहने लगीं। उसने सरोवरमें खिले कमलके फूलोंमें से एक फूल अपनी सूँड़से तोड़ा और उसे दीन-रक्षक भगवान् विष्णुकी ओर करके आर्त-स्वरसे स्तुति करने लगा।

भगवान् तो इस प्रकारकी पुकारकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। गजराजके आर्त-नादको सुनकर आर्तिहरण भागे उस गजेन्द्रकी रक्षाके लिए अपने गरुड़को भी त्यागकर और आते ही ग्राहको मारकर गजेन्द्रका उद्धार किया। ग्राह भगवान्के हाथका स्पर्श पाकर पुनः गन्धर्व बन गया और अनेक प्रकारकी स्तुति करके अपने निवास-स्थानको चला गया। श्रीगजराजकी भी भगवान्के दर्शनसे समस्त पापों और शापसे छूटकर चतुर्भुजरूप धारण करके भगवान्के धामको चले गये।

भक्त पाण्डव

महाराज पाण्डुके दो रानियाँ थीं—कुणतीदेवी और माद्री। कुन्ती देवीके धर्मके अंशसे धर्मराज युधिष्ठिर, वायुके अंशसे भीम एवं इन्द्रके अंश से अर्जुन—ये तीन पुत्र पैदा हुए। दूसरी रानी माद्रीके गर्भसे अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल एवं सहदेव—ये दो पुत्र पैदा हुए। पाँचों भाई पाण्डव कहलाए। इनमें आपसमें बड़ा सौहार्द था। सभी भाई बाल्यकाल से ही धार्मिक, सत्यवादी, न्यायी, क्षमावान्, सरल, दयालु और भगवान्‌के परम भक्त थे। धर्मावतार महाराज युधिष्ठिर सबसे बड़े थे, अतः सब भाई बिना विचारे उनकी आज्ञा माननेमें अपने प्राणोंकी भी चिन्ता नहीं करते थे। महाराज पाण्डु अपने पुत्रोंको अल्पायु छोड़कर ही इस संसारसे विदा हो गये। उनके साथ देवी माद्री भी सती हो गई और पाण्डवोंके पालन-पोषणका भार कुन्ती देवीपर आ पड़ा। उन्होंने ही उनका लालन-पालन किया।

महाराज पाण्डुके मरनेपर अन्धे धृतराष्ट्र सिंहासनपर बैठे। उनके प्रायः समस्त पुत्र, अधार्मिक, असत्यवादी, अन्यायी, क्रूर, कुटिल एवं अभिमानी थे। उनका सबसे बड़ा पुत्र दुर्योधन तो पाण्डवोंसे अकारण ही द्वेष रखता था। भीमका तो वह महान् शत्रु था। उसने भीमको मारनेके लिए विष खिलाकर गंगाजीमें फिकवा दिया। भाग्यवश वे बहकर नागलोकमें जा पहुँचे जहाँ नागोंके द्वारा काटे जानेपर कौरवों द्वारा दिए गये विषका असर जाता रहा और वे पुनः स्वस्थ दशामें बापस लौट आये। कुन्ती-सहित पाँचों पाण्डवोंको लाक्षागृहमें आग लगाकर जला डालनेकी योजना भी दुर्योधनने बनाई, परन्तु विदुरजी द्वारा इस कुकृत्यकी सूचना पाण्डवोंको मिल गई, जिससे वे अपने प्राण बचा सके।

पाँचों भाइयोंमें भीमसेन शरीरसे बहुत विशाल थे। उनके समान बलवाला उस समय भी कोई नहीं था। वे बड़े-बड़े योद्धाओं और राक्षसोंको इशारे-मात्रसे मीलों उठाकर फैंक दिया करते थे। विशाल-काय जंगली हाथियोंको भी आसानीसे पछाड़ फैंकना तो उनके बायें हाथ का खेल था। वनमें पाँचों भाइयों और माता कुन्तीको पीठ पर चढ़ाकर मीलों मार्ग तय करना उनकी ही सामर्थ्य थी। धनुर्विद्यामें अर्जुनके जोड़का कोई भी नहीं था। उनका लक्ष्य कभी भी नहीं चूका। वे राजा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदीके स्वयंवरमें गये और वहाँ मत्स्य बेध कर द्रौपदीको प्राप्त किया। वह माता कुन्तीके आदेशसे पाँचों भाइयोंकी पत्नी बनीं। यह समाचार जब धृतराष्ट्र को मिला, तब उन्होंने पाँचों भाइयोंको हस्तिनापुर बुलाया और उन्हें आधा राज्य दे दिया। पाण्डवों

के न्याय, नीति, धर्म और सत्य-शासनमें सुख पनपने लगा और पाण्डवोंका ऐश्वर्य दिन-रात बढ़ने लगा। धर्मराज युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया और दिग्विजय करके राजेश्वर बन गये।

इस प्रकार जब पाण्डवोंका वैभव बढ़ने लगा तो कौरवोंको इनसे आन्तरिक द्वेष हुआ धृतराष्ट्रकी आज्ञासे युधिष्ठिरको न चाहते हुए भी जुआ खेलना पड़ा। जुएमें पाण्डव अपना सारा राज्य हार गये। द्रौपदीका चीर-हरण किया गया और अन्तमें बारह वर्षका बनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास करना पड़ा। इतना कर चुकनेपर भी जब पूर्व निर्णयके अनुसार उन्हें राज्य नहीं दिया गया तो युद्धकी आग भड़क उठी। महाराजाओंके प्राणान्तके बाद कौरवोंका विनाश हुआ। महाराज युधिष्ठिर राजा हुए और छत्तीस वर्ष तक सत्य और न्यायपूर्वक राज्य कर चुकनेपर भगवान् श्रीकृष्णके स्वधाम चले जानेके कारण विकल हो अपने पौत्र परीक्षितको राज्य देकर पाँचों भाई हिमालय पर्वतपर महाप्रयाण के लिए चले गये।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हमेशा पाण्डवोंके साथ रहे। उन्होंने अपनी समस्त भगवत्ताको त्यागकर जो अर्जुनके रथवानका कार्य सँभाला इसका कारण पाण्डवोंकी सत्य, न्याय और सदाचारकी प्रवृत्ति ही थी। इसीके कारण अपने मान-अपमान हानि-लाभ और यश-अयशकी चिन्ता न करके हर स्थितिमें प्रत्येक प्रकारसे पाण्डवोंकी सहायता की। उनके कष्टों और आपत्तियोंको टाला तथा पग-पग पर उनके मङ्गलकी योजना की।

यों तो ये पाँचों भाई आपसमें बड़े प्रेमसे रहा करते थे, परन्तु फिर भी अपने बड़े भाई युधिष्ठरकी आज्ञाका पालन सभी प्राण-पणसे करते थे। युधिष्ठिरने जुआ खेला और उनके दोषसे सभी भाइयोंको वनवासका कष्ट भोगना पड़ा, पर शायद उनमें से किसीने भी इस कष्टका कारण उन्हें सोचा भी नहीं होगा। इधर युधिष्ठिरजी भी अपने छोटे भाइयोंपर पुत्रके समान सच्चा प्रेम किया करते थे। इसी प्रकार सभी भाई श्रीकृष्ण भगवान्‌के भी परम प्रिय थे। उनके प्रत्येक कार्य इनके इशारेपर होते थे। अर्जुनके तो भगवान् श्रीकृष्ण प्राणोंसे भी प्यारे थे। वास्तवमें पाण्डवोंकी कोई क्या प्रशंसा करेगा, जिनके प्रेमके कारण भगवान् श्रीकृष्ण दूत बने, सारथी बने, और सब प्रकारसे उनकी रक्षा करते रहे। वस्तुतः इन पाण्डवोंके भाग्यकी तो कोई सीमा ही नहीं है।

★★★

ऋषियोंका पूजन नहीं किया हो, ऐसी बात नहीं थी। वे तो अपनेको भी भूल गए थे। जब भगवान्‌के याद दिलाने पर उन्हें ध्यान आया तो उन्होंने समस्त साधु-सन्तोंकी सेवा भी उसी श्रद्धा और भक्तिसे की, जिससे श्रीद्वारकाधीशकी की थी। कुछ काल पर्यन्त श्रुतिदेवकी कुटीमें निवासकर भगवान् उनसे बिदा लेकर द्वारका चले गए और श्रुतिदेवजी भी उनका चिन्तन करते हुए कुछ समयके पश्चात् उनके नित्य-धाममें चले गए।
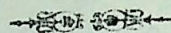
महाराज श्रीअङ्गजी

परम धर्मात्मा भगवद्भक्त महाराज अङ्ग सोमवंशके प्रधान राजा थे। वे बिठूरके रहनेवाले थे। इनके पिताका नाम उल्मुक और माताका नाम पुष्करिणी था। ये जन्मसे ही शील-सम्पन्न, साधु-स्वभाव, ब्राह्मण भक्त और परम महात्मा थे। एक बार राजर्षि अङ्गने अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया। उसमें ब्राह्मणोंके आवाहन करने पर भी देवता अपना भाग लेने नहीं आए। तब ऋत्विजोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे महाराज अङ्ग से बोले—'महाराज! हम आहुतिके रूपमें जो घृत आदि पदार्थ हवन करते हैं, उसे देवता स्वीकार नहीं कर रहे हैं। हमको पता है कि आपकी होम-सामग्री श्रद्धासे इकट्ठी की गई है और परम पवित्र एवं निर्दोष है। यज्ञका प्रारम्भ पूर्ण विधि-विधानसे किया गया है। इस यज्ञमें तो उन देवताओंका किसी प्रकार भी तिरस्कार किया नहीं गया, फिर ये लोग अपना-अपना भाग क्यों नहीं लेते?'

यह सुन महाराज अङ्गको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने याजकोंकी आज्ञासे मौन तोड़कर सदस्योंसे इसका कारण पूछा। सदस्योंने बतलाया—'महाराज! इस जन्ममें तो आपसे किसी प्रकारका अपराध हुआ नहीं है। पहले जन्मका आपका एक अपराध अवश्य है। उसीके कारण आपको सन्तान-प्राप्ति नहीं हुई है, अतः आप पहले सन्तान-प्राप्तिके लिए यत्न कीजिए। उस यज्ञमें साक्षात् यज्ञ-पुरुष श्रीहरिका आवाहन किया जायगा। भगवान् तो भक्त के आधीन ठहरे। वे अपने भक्तका समस्त अपराध भूल जाते हैं और जिस स्थान पर उनका भक्त जैसी कामना करता है वैसा ही फल देते हैं। इसलिए वे अवश्य ही यज्ञमें उपस्थित होंगे और अपना भाग ग्रहण कर आपको सन्तान प्रदान करेंगे। जब साक्षात् श्रीहरि अपना भाग ग्रहण करने लगेंगे, तो देवता भी फिर अपने भागको अस्वीकार नहीं कर सकते।'

पुत्रेष्टि-यज्ञ कराया गया और भगवान् विष्णुकी पूजाके लिए पुरोडाश नामक चरु समर्पित किया गया। अग्निमें आहुति डालते ही सोनेके हार और शुभ्र वस्त्रोंसे

विभूषित भगवान् विष्णु सिद्ध खीर लेकर अग्नि-कुण्डसे प्रकट हुए । राजाने वह खीर ग्रहणकी और अपनी पत्नीको खिला दी । भगवान्की कृपासे उसके यथासमय बेन नाम-का एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह अपने नाना काल (मृत्यु) के से आचरणका था, अतः बाल्य-काल से ही वह दुराचारी और अधार्मिक था । निरीह पशु-पक्षियोंकी हत्या करना, निर्दोष मनुष्योंको सताना, मैदानों और मार्गोंमें आनन्द-पूर्वक खेलनेवाले बालकोंको बिना कारण मारना आदि उसके नित्यके व्यापार थे । उसके इन व्यवहारोंसे अत्यन्त खिन्न होकर महाराज अङ्ग एक दिन विरक्त-चित्त हो सब कुछ त्याग कर घरसे निकल पड़े । जब प्रजाजनों एवं मन्त्रियोंको इसका पता लगा तो वे राजाके लिए अत्यन्त व्याकुल हो उन्हें वन-वन खोजने लगे; परन्तु उनका पता नहीं लगा । महाराज अङ्ग जङ्गलके घने भागमें जाकर शुद्ध मनसे दत्तचित्त होकर भगवान्का भजन करने लगे और अन्तमें इस नश्वर शरीरको त्याग कर परमधामको चले गए । यह प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें सविस्तार वर्णित है । ★

महाराज श्रीमुचुकुन्दजी

श्रीमुचुकुन्दजी इक्ष्वाकु वंशके परमप्रतापी राजा मान्धाताके पुत्र थे । बल-पराक्रम में ये इतने बढ़े-चढ़े थे कि देवता लोग भी इनकी सहायताके लिए लालायित रहते थे ।

एक बार असुरों एवं देवताओंमें बड़ा संग्राम हुआ । जब देवता हारने लगे तो उन्होंने महाराज मुचुकुन्दसे सहायताकी प्रार्थना की । उन्होंने देवराजकी प्रार्थना स्वीकार करली और राक्षसोंसे लड़नेके लिए चले गए । जब दैत्योंसे युद्ध करते-करते उन्हें बहुत समय व्यतीत हो गया तो इन्द्रने उनके पास आकर कहा—'राजन् ! आपको हमारी सहायता करते हुए हजारों वर्ष होगए । यहाँ का एक वर्ष धरतीके तीन सौ सालके बराबर होता है । आप इतने दीर्घकाल से अपने राज्य-वैभव एवं पत्नी-पुत्रादिको त्यागकर हमारी सेवा कर रहे हैं । इतना समय बीत जाने के बाद न तो आपकी राजधानीका ही धरती पर कहीं पता होगा, न आप अपने पारिवारिक जनोंसे ही मिल पायेंगे । हम आपके इस पुनीत कार्यसे परम प्रसन्न हैं । आप इससे मोक्षको छोड़ कर अन्य जो कुछ भी माँगना चाहें, माँग सकते हैं ।'

राजा मुचुकुन्द अपनी मानवीय बुद्धिके कारण कुछ अन्य वस्तु माँगनेकी बात न सोच सके । उस समय उसको नींद बहुत सता रही थी, अतः उन्होंने इन्द्रसे कहा—'मुझे आप ऐसा वरदान दीजिए कि मैं आरामसे सो सकूँ । मेरे सोनेमें जो भी विघ्न उप-
स्थित करे, वह तुरन्त ही भस्म हो जाय ।'

इन्द्रने कहा—'ऐसा ही होगा। आप आरामसे पृथ्वी पर जाकर शयन कीजिए। जो कोई भी आपको जगाएगा वह भस्म हो जायगा।' इन्द्रसे वरदान पाकर महाराज मुचुकुन्द भूतल पर आए और जङ्गलमें जाकर एक एकान्त, शान्त गुहामें सो गए। उन्हें सोते-सोते कितने ही वर्ष बीत गए और द्वापर आगया। उस समय भगवान् कृष्णने पृथ्वी पर अवतार लिया। तभी कालयवन नामक एक राक्षसने आकर मथुराको घेर लिया। भगवान् उसको मरवानेकी इच्छासे तथा मुचुकुन्द पर कृपा करनेके लिए उसे ललकार कर भागने लगे। कालयवन भी क्रोध करके उनके पीछे भागा। श्रीकृष्ण भागते-भागते उसी गुफामें जाकर घुस गए, जिसमें महाराज मुचुकुन्द इन्द्रसे सोनेका वर पाकर शयन कर रहे थे। श्रीकृष्णने अपना पीताम्बर उतार कर धीरेसे उनके ऊपर डाल दिया और आप तमाशा देखनेके लिए पास ही छिप कर बैठ गये। कुछ समय बाद कालयवन भागता हुआ आया और गुफामें झाँका तो पीताम्बर ओढ़े सोते हुए राजा उसे दिखाई पड़े। उसने समझा, श्रीकृष्ण सोनेका बहाना करके यहाँ आ छिपे हैं और विना सोचे समझे उन्हें छेड़ना आरम्भ कर दिया। महाराज मुचुकुन्दकी नींदमें विघ्न पड़ा। वे जागे तो सामने कालयवन पर उनकी दृष्टि पड़ी। फिर क्या था? वह देखते ही देखते भस्म हो गया। अब राजा इधर-उधर देखने लगे। उन्होंने देखा, सम्पूर्ण गुहा एक दिव्य प्रकाशसे जगमगा रही है। जब उन्होंने पीछे मुड़कर देखा तो मन्द-मन्द मुस्कराते सजल-जलदाभ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सामने खड़े दिखाई दिए। उन्होंने उन्हें अपना परिचय दिया, उनका परिचय लिया। जब महाराजको मालूम पड़ा कि ये तो समस्त जड़-जङ्गममें व्याप्त सर्वेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् हैं, तो उन्होंने प्रेमविह्वल हो उनके चरण पकड़ लिए। भगवान्ने अपनी आजानुबाहुओं से उन्हें उठाकर अपनी छाती से लगा लिया। मुचुकुन्द कृतार्थ होगए, उस दिव्य चिदानन्द मूर्तिका स्पर्श पाकर। श्रीकृष्णने उनको वरदान माँगनेका प्रलोभन दिया, पर महाराजको अब संसारके विषैले भोग कब अच्छे लगते? उन्होंने कहा—'स्वामी! यदि आप देना ही चाहते हैं, तो यही दीजिए कि मेरी आपके चरण-कमलोंमें अखण्ड प्रीति हो और मैं संसारके समस्त भोगों से मुक्त रहकर आपकी उपासना कर सकूँ।'

भगवान्के दर्शनके बाद फिर शरीर और उपासनाकी क्या आवश्यकता? पर वे तो ठहरे भक्त-बत्सल! जैसी भक्तकी अभिलाषा हो उन्हें तो वैसा ही करना।

भगवान् वर देकर चले गए। महाराज मुचुकुन्दने समय आने पर अपने इस शरीरको त्याग दिया और भगवान्की उपासना करनेके लिए विशुद्ध ब्राह्मणके घरमें

जन्म लिया । वे शान्तभावसे भगवान्‌के चरणारविन्दमें दत्तचित्त रहकर प्रभुकी उपासना करते और उन्हींके मनोमुग्धकारी स्वरूपके ध्यानमें अपने क्षण-क्षणको सफल बनाते । इस प्रकार बहुत समय तक भगवान्‌की भक्तिमें लीन रह कर वे प्रभुके साथ अनन्य भाव से रहनेके लिए इस संसारसे दिव्यधाममें चले गये ।

***

श्रीप्रियव्रतजी

श्रीप्रियव्रतजी महाराज मनुके पुत्र थे । बाल्यकालसे ही वे भगवान्‌के परम भक्त थे । नारदजी की कृपासे उन्हें तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हो गया था । वे संसारके सच्चे स्वरूप को पहिचान गए थे । वे जानते थे कि यह तो सब स्वप्नके समान ही अस्थायी है । इसमें अनुरक्त होना समझदार आदमी का काम नहीं । संसारमें यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन को सफल बनाना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह भगवान्‌के श्रीचरणोंपर अपने जीवन को चढ़ा दे, बस इसीमें उसका मङ्गल है । यही सोचकर वे गन्धमादन पर्वत पर नारदजी के पास चले गए । वहाँ वे श्रीनारदजीसे भगवान् की मनोहर गाथाओंका श्रवण करते और उनके ध्यानमें सदा ही लगे रहते । जब महाराज मनु ब्रह्मसत्र करने लगे तो उन्होंने राज्यसंचालनका भार अपने पुत्र प्रियव्रत पर छोड़ना चाहा, किन्तु प्रियव्रतने उसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि वे तो संसारके विषयोंको पहले ही विषके समान समझते थे ।

प्रियव्रत के द्वारा राज्य अस्वीकार कर देने पर प्रजापति ब्रह्मा अपने हंस पर विराजमान होकर उन्हें समझानेके लिए आए । जब नारदजी एवं प्रियव्रतने सृष्टिकर्त्ता स्वयम्भूको आते देखा तो वे उठ खड़े हुए और उनके चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गए । श्रीब्रह्माजीने उन्हें समझाया—'बेटा प्रियव्रत ! सर्व-लोक-नियन्ता श्रीसर्वेश्वर प्रभुने जो भी कर्त्तव्य तुम्हारे लिए निर्धारित किया है, उसे करना तुम्हारा पहला धर्म है ।'

'मैं, शङ्करजी या महर्षिगणमेंसे कौन नहीं चाहता कि सब कुछ त्याग कर आनन्द-कन्द भगवान्‌के पवित्र और मनोमुग्धकारी चरित्रोंका गान-श्रवण करते हुए उन्हींके ध्यानमें रात-दिन लगा रहा जाय । परन्तु ऐसा नहीं कर पाते हैं; क्योंकि हमें तो उनके आदेशका पालन पहले करना है, अपनी रुचिका ध्यान पीछे । अतः भगवान् श्रीसर्वेश्वरकी जैसी आज्ञा है, उसीके अनुसार आपको कार्य करना चाहिए । हाँ, यह बात अवश्य है कि संसारिक कार्योंको भगवान्‌की आज्ञा मानकर करो । उनमें आसक्त

मत हो जाओ। जैसे कमल जलके अन्दर रहता है और 'जलज' कहलाता है, परन्तु जलके स्पर्शसे वह सदा दूर रहता है, उसी प्रकार तुम भी अनासक्त रह कर संसारके समस्त कार्योंको करो। जो स्वकर्म-पालनको भगवान्की आज्ञा मानकर करता है और किसी भी शुभाशुभका कर्त्ता स्वयंको नहीं मानता, उसके वे लौकिक-कार्य ही भगवान् की पूजा, उपासना और भजन हैं ! इसलिए भगवदाज्ञाको शिरोधार्य करके अनासक्त-भाव से कर्म करते हुए पिता-दत्त राज्यका पालन करो।'

प्रजापति ब्रह्माकी आज्ञासे प्रियव्रत नगरमें आए। उन्होंने राज्य-भार अपने ऊपर ले लिया और विश्वकर्माकी पुत्री बर्हिष्मतीसे विवाह करके गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश किया। उनके दस पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई।

प्रियव्रत सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके शासक थे। उन्होंने देखा कि सूर्यके प्रकाशसे जब पृथ्वीके एक भागमें अँधेरा हो जाता है तभी दूसरे भागमें प्रकाश होता है। इससे प्रजा को कष्ट होता हैं। यह सोचकर सभी भागोंमें अखण्ड प्रकाश रखनेकी अभिलाषा से वे अपने दिव्य रथ पर सवार होकर सूर्यके पीछे-पीछे अँधेरेवाले भागमें दौड़ लगाने लगे। सात दिन तक पृथ्वीके किसी भी स्थान पर अँधेरा ही नहीं हुआ। अन्तमें ब्रह्माजीने उनको इस कार्यसे रोक दिया। उनके रथके पहियोंके चलनेसे जो धरती खुद गई वे सात समुद्र बन गए और उनके द्वारा विभक्त यह पृथ्वी सप्तद्वीपवती हो गई। उन्होंने अपने सात पुत्रोंको तो सात द्वीपोंका राज्य दे दिया और तीन पुत्र आजन्म ब्रह्मचारी रहकर परमहंस बन गये।

इतना विशाल अखण्ड साम्राज्य, इतनी सम्पत्ति और वैभव, ऐसी तेजस्वी सन्तति और इस प्रकारकी पतिपरायण साध्वी पत्नी—सभी से वे विरक्त थे। फिर भी वे अपनेको उनमें अनुरक्त समझकर धिक्कारा करते थे। पुत्रोंको राज्य देनेके बाद वे समस्त भोग, ऐश्वर्य और लौकिक आनन्दोंको त्याग कर श्रीनारदजीके पास गन्धमादन पर चले गए और वहाँ परमकृपालु चिदानन्द-सिन्धु श्रीसर्वेश्वर भगवान्में दत्तचित्त होकर उनका चिन्तन करने लगे।

महाराज श्रीपृथुजी

राजर्षि अङ्गकी पत्नी सुनीथाका पुत्र बेन अत्यन्त उग्र और अधार्मिक था। वह प्रजाके लोगोंको अकारण ही कष्ट दिया करता था। उसके इन अत्याचारोंसे दुखी हो ऋषि लोगोंने उनके पास जाकर उसे समझाया। जब उसकी समझमें कुछ भी न आया

और ऋषियोंके कहने पर भी उसने अपना रवैया नहीं बदला, तो उन्होंने उनके शरीर-को निर्जीव कर दिया। सुनीथाको अपने पुत्रके प्राणान्त हो जानेका बड़ा दुःख हुआ और उसने उसके निर्जीव शवको ही सुरक्षित रक्खा। राजारहित राज्यमें चोरों डाकुओं, लुटेरों और बदमाशोंकी संख्या बेरोक-टोक बढ़ने लगी। तब ऋषियोंने उसी बेनका शरीर लेकर उसका मन्थन किया। उसके मन्थनसे सर्व-प्रथम एक नाटे, काले पुरुषकी उत्पत्ति हुई। उसके बाद उनके दाहिने अङ्गसे एक आजानुबाहु परमप्रतापी पुरुष एवं वामाङ्गसे एक सुन्दर स्त्री पैदा हुई। वे पुरुष भगवान्‌के अंशसे उत्पन्न पृथु हुए और स्त्री लक्ष्मीजीके अंशसे उत्पन्न होनेवाली उनकी पत्नी अर्चि थीं। उनके हाथके चक्र एवं अन्य चिन्होंके आधार पर ऋषियोंको पता लग गया कि ये तो साक्षात् सर्वेश्वर भगवान्‌के अवतार हैं। उन्होंने उनका विधि-विधानसे अभिषेक किया तथा भविष्य-ज्ञाता ऋषियों के द्वारा संकेत पाकर बन्दियोंने उनकी भविष्यकी लीलाओंका वर्णन कर उनकी कीर्तिका गान किया।

जब अधर्म बढ़ता तो धरती पर भुखमरी, महामारी और अकाल पड़ने लगता है। राजा बेनके समयमें भी अधर्म और अत्याचारके कारण पृथ्वीमें डाला गया बीज उगता नहीं था, वृक्षों पर फल नहीं लगते थे और आकाशसे समय पर पानी नहीं बरसता था। पृथुके समयमें भी यही हाल रहा। महाराज पृथुने देखा कि धरतीने बोए हुए अन्नको अपनेमें छिपा जाती है, उसमेंसे न तो अंकुर ही निकलता है और न अनाज के दाने ही पैदा होते हैं, तो उनके क्रोधका ठिकाना न रहा और वे धरतीको दण्ड देनेके लिए तैयार हुए। धरती तेजस्वी पृथुको धनुष पर वाण चढ़ाए देखकर घबड़ाई और उनसे बचनेके लिए चारों ओर भागने लगी; परन्तु महाराज पृथुका एक-छत्र राज्य होने से वह जाती भी तो कहाँ ? अन्तमें पृथ्वीको रुकना पड़ा। उसने महाराज पृथुकी स्तुति की तथा अनाज न पैदा करनेका कारण बताते हुए कहा—'मैंने बीजोंको पापियोंके द्वारा दुरुपयोगमें आते देख अपनेमें रोक लिया और अधिक समय हो जाने पर वे मुझमें पच गए। अब तो आपको कोई दूसरा उपाय करना चाहिए।'

पृथ्वीकी सलाहसे उन्होंने गो-रूपा इस धरतीको दुहा और अनेक प्रकारकी औषधियाँ एवं अनाजके दाने पैदा हुए। महाराज पृथुने ऊँची-नीची जमीनको बराबर करवाया, जिससे अधिक अन्न पैदा हो सके। उन्होंने प्रजाके हितके लिए नगर एवं गाँव बसा।

महाराज पृथु परम-धर्मात्मा, भगवद्-भक्त, न्याय-नीति पर चलने वाले राजा

थे । उन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किए । जब उन्होंने निन्यानवे अश्वमेध समाप्त कर लिए तो इन्द्र घबड़ाया; क्योंकि उसका नाम शतक्रतु है और सौ यज्ञ पूरे होजाने पर राजा पृथु भी शतक्रतु हो जाते । अतः वह बार-बार यज्ञके घोड़ेको चुराकर ले जाने लगे और बार-बार पृथु-पुत्र उसे छीन कर लाने लगे । अन्तमें जब इन्द्र नहीं माना तो पृथु महाराजको क्रोध आया और वे इन्द्रको सजा देनेको तैयार हुए । ऋषियोंने उन्हें समझाया—'महाराज ! यज्ञमें दीक्षित व्यक्ति किसीको दण्ड दे ऐसी मर्यादा नहीं है । हम आपके द्वेषी इन्द्रको अग्निमें आहुति डाल कर भस्म कर देंगे ।'

जब ऋषिगण आहुति डालने लगे तो प्रजापति ब्रह्माने प्रकट होकर कहा—'महाराज ! सौ अश्वमेध यज्ञ करके आपको इन्द्र तो होना नहीं है । आप तो भगवान्के भक्त हैं, अतः यह यज्ञ समाप्त कर दीजिए । आपको अकारण ही देवराज इन्द्र पर क्रोध नहीं करना चाहिए ।' प्रजापतिकी आज्ञासे यज्ञकी पूर्णाहुति दे दी गई । उनके इस कार्य से प्रसन्न होकर देवराज-सहित भगवान् उनके पास आए । इन्द्र उनके सामने आने पर बड़ा लज्जित हुआ और उनके पैरों पर पड़ कर क्षमा याचना की । महाराज पृथुने उनको उठा कर छातीसे लगा लिया । भगवान्के दर्शन करके पृथु धन्य हो गये । उनका शरीर पुलकायमान होगया और वे हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे । भगवान्ने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहा, तो राजर्षि पृथु बोले—

> न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र युष्मच्चरणाम्बुजासवः ।
> महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुत मेव मे वरः ।।

जहाँ आपके चरण-कमलोंका मधु-मकरन्द नहीं है, ऐसा कोई भी स्थान, कोई भी भोग, कोई भी वस्तु मैं नहीं चाहता । महापुरुषोंके हृदयमें आपके चरणोंका वह अमृत रहता है और वाणी द्वारा आपकी लीला एवं गुण-वर्णनके रूपमें बह निकलता है । उसे पान करनेके लिए मेरे एक सहस्र कान हो जायँ, मुझे यही वरदान दीजिए ।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर अपनी भक्तिका वरदान उनको प्रदान कर भगवान् चले गए ।

एक बार प्रयागराजमें महाराज पृथु एक बड़ा भारी यज्ञ कर रहे थे । उस यज्ञ में देवता, ब्रह्मर्षि, राजा व ब्राह्मण एवं प्रजाजन आदि सभी उपस्थित थे । उसी समय महाराजने प्रजाको उपदेश देते हुए कहा—'जो राजा प्रजासे कर लेता है, उसे दण्ड देता है और उसकी धर्मशिक्षा एवं आध्यात्मिक मार्गकी चिन्ता नहीं करता, वह प्रजाके समस्त पापोंके फलोंको भोगनेवाला होता है; अतः आपसे मेरा करबद्ध यही निवेदन है कि आप दत्तचित्त होकर संसारके विषय-भोगोंसे विरत रह कर धर्म एवं भगवान्में

अपना अमूल्य समय व्यय कीजिएगा।' इस प्रकार जब महाराज धर्म करनेका आदेश देकर उसकी उपयोगिता, आवश्यकता एवं अनिवार्यता बतला चुके तो समस्त उपस्थित जनसमूह उनकी इस धार्मिक वृत्तिकी प्रशंसा करने लगा। उसी समय आकाशसे चार दिव्य-तेजोमय पुरुष धरतीपर उतरते दिखाई दिए। वे सनकादि कुमार थे। राजाने उनका स्वागत-सत्कार किया। उनको उच्च सिंहासन पर विराजमान कराकर अनेक प्रकारकी अर्चन-पूजा एवं स्तुतिके बाद महाराजने उनसे अपनी तृषा-शान्तिके लिए प्रश्न किया—"आप त्रिकालज्ञ, परम ज्ञानवान् और भगवान्के परम-भक्त हैं। कृपा करके यह बतलाइये कि जीवका वास्तविक कल्याण किसमें है?' सनकादि कुमारोंने उनको श्रीसर्वेश्वर भगवान्की परा-भक्तिका उपदेश किया और उनके भजन-स्मरण एवं उनके भक्तोंके समादर-सेवाको ही जीवका सबसे बड़ा मङ्गल बतलाया। सनकादि कुमारोंने भक्त पृथुराजको परा-भक्ति का उपदेश किया और पुनः अन्य लोकोंमें विचरण करनेके लिए चले गए।

उसके उपरान्त भी महाराज पृथु भगवान्की भक्ति और भक्तजनोंकी सेवामें रत रहकर कितने ही वर्षों तक राज्य करते रहे और अन्तमें सनकादि कुमारोंके द्वारा निर्दिष्ट पराभक्तिके द्वारा अपने आपको स्थिर करके शरीरको चेतना-हीन बना दिया। यह देख महाराज पृथुकी पतिव्रता पत्नी अर्चिने चिता बनाई और अपने पतिके साथ सती हो गई। देवताओंने आकाशसे पुष्प-वर्षा की, गन्धर्वोंने वाद्य बजाए और दोनों भक्त सदाके लिए श्रीसर्वेश्वर प्रभुके सान्निध्यमें पहुँच कर परमानन्द लाभ करने लगे।

परीक्षित :—परीक्षितजी का चरित्र आगे कवित्त–संख्या ६७ में देखिए।

श्रीशेषजी

शास्त्रोंमें भगवान्के पाँच प्रकारके स्वरूपोंका वर्णन किया गया है। उनमेंसे संसारका सृजन, पालन, संहार और रक्षा करनेवाला स्वरूप व्यूह कहा गया है। व्यूह चार प्रकारके होते हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इनमेंसे संकर्षण जीव-तत्त्वका अधिष्ठाता माना जाता है। इस व्यूहमें दो गुणों—ज्ञान एवं बलका प्राधान्य है। यही शेष अथवा अनन्तके रूपमें पातालमें रहकर पृथ्वीके भारको धारण करनेमें समर्थ हैं। प्रलयकालमें श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी आज्ञा से ये अपने मुखसे आगकी भयंकर लपट निकालते हैं, जिससे सम्पूर्ण विश्व भस्म हो जाता है। ये क्षीर-सागरमें भगवान् विष्णुके पर्यङ्क-रूपमें रहते हैं, इसीसे भगवान् का नाम 'शेषशायी' है। शेषजीके सहस्र

मुख हैं, वे सहस्रों मुखोंसे सदा भगवान्का गुणानुवाद करते रहते हैं और उनकी लीलाओंका वर्णन करते-करते कभी भी नहीं थकते हैं। भगवान्के दर्शन करनेवाले भक्त-जीवको शेषजीसे बड़ी सहायता मिलती है। ये उनको भगवान्की शरण दिलानेमें सहायक हैं। इनका वर्णन भगवान्के निवास (शय्या), आसन, पादुका, वस्त्र, पाद-पीठ, तकिया तथा छत्रके रूपमें किया गया है। देवता, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, नाग आदि समस्त जन इनका यशोगान एवं गुण वर्णन करते रहने पर भी इनका अन्त नहीं पाते हैं, इसीलिए इनका नाम 'अनन्त' है। त्रिलोकीके प्रत्येक स्थान पर इनकी पूजाकी जाती है; क्योंकि ये विश्वके आधार-भूत भगवान् विष्णुको धारण करते हैं। ये भगवान्का सहयोग करनेके लिए उनके साथ अवतार भी धारण करते हैं; श्रीरामावतार में ये लक्ष्मणके रूपमें एवं श्रीकृष्णावतारमें ये बलरामके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। ये भगवान्के नित्य-मुक्त, अखण्ड ज्ञानमय, अनन्त-शक्ति-सम्पन्न परिकरमें गिने जाते हैं।

श्रीसूतजी तथा शौनकादि

सूतजी तथा शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषीश्वरोंसे कौन परिचित नहीं होगा? महाराज सूतजी शौनकादि ऋषियोंकी प्रार्थनापर समस्त पुराणोंका श्रवण उन्हें कराया करते हैं। ये श्रोता-वक्ता दोनों ही भगवान्के परम भक्त एवं उनकी दिव्य लीलाओंके अमृत-रसका स्वाद पहिचानने वाले ऋषिश्वर हैं। हजारों वर्षों तक लगातार ये अरण्य-वास करते हुए कन्द-मूल एवं जङ्गली फलोंके परिमित आहारसे अपने जीवनकी स्थिति को बनाए रखते हैं और आनन्दकन्द भगवान्की पवित्र गाथाओंके अमृत-रसके सहारे जीवित रहते हैं। सूतजीके समान पुराणवेत्ता कौन होगा, जिनको समस्त पौराणिक गाथाएँ विकल्पोंके ज्ञान-सहित कण्ठस्थ हैं और जो अट्ठासी हजार ऋषियोंकी शङ्काओं का सन्तोष-जनक समाधान कर सकनेमें समर्थ हैं? हमको पुराणोंमें व्रतों का माहात्म्य और तीर्थोंकी महिमा तथा कथा-श्रवणका फल, जो कुछ भी आज दिखाई पड़ता है, वह सब इन्हीं महर्षियोंकी कृपाके कारण है।

ऋषि शौनक नैमिषारण्यके अट्ठासी हजार ऋषियोंमें सबसे प्रधान थे। शुनकके पुत्र होनेके कारण इनको शौनक कहते थे और भृगु-वंशमें उत्पन्न होनेसे इनका नाम भार्गव पड़ा। इनका जैसा कथा-रसिक भक्त अन्यत्र कहीं भी सुलभ नहीं है। भगवान्की कथा किस प्रकार नियमसे सुननी चाहिए, भगवान्का चरित्र सुनकर किस प्रकार अनुमोदन करना चाहिए, कथामें किस प्रकार एकाग्रता रखनी चाहिए और समयका

सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिए आदि सभी बातोंकी शिक्षा हमको श्रीशौनकजी से मिलती है।

भगवान्‌के भजनमें इनकी कितनी निष्ठा थी, यह उनके इन वचनोंसे जाना जा सकता है—

आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ। तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया॥
तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे॥
श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥

—जिसका समय भगवान् श्रीकृष्णके गुणोंके गान अथवा श्रवणमें व्यतीत हो रहा है, उसके अतिरिक्त अन्य सभीकी आयु व्यर्थ जा रही है। ये भगवान् सूर्य प्रति-दिन उदय और अस्तसे उसकी आयु छीनते जारहे हैं। जीनेके लिए तो वृक्ष भी जीते हैं, लुहारकी धौंकनी भी श्वास लेती है, गाँवके पशु भी मनुष्योंके समान खाते-पीते और मल-मूत्र त्यागते हैं, फिर उनमें और मनुष्योंमें क्या अन्तर है? जिसने भगवान् श्रीकृष्णकी लीला एवं कथा-श्रवणमें मन नहीं लगाया, वह तो कुत्ते, ग्राम-सूकर, ऊँट और गधे से भी गया-बीता है।

इन सभी बातोंसे स्पष्ट है कि महर्षि सूत एवं शौनकादि अट्ठासी हजार ऋषीश्वर भगवान् की कथा-वार्ता और गुण-गानमें कितने निमग्न रहने वाले थे।

भक्त-श्रीप्रचेतागण

आदिराज पृथुके वंशमें उत्पन्न बर्हिषद् नामक राजाके उसकी रानी शतद्रुतिसे दस पुत्र पैदा हुए जो प्रचेता कहलाए। इनकी आकृति-प्रकृति एवं शील-स्वभावमें इतना साम्य था कि कोई भी व्यक्ति इनको अलग-अलग नहीं पहिचान सकता था। ये दसों पुत्र विषयोंमें अनासक्त रहकर बाल्यकालसे ही भगवान्‌की भक्तिमें रत रहते थे। इनके पिताने जब पूर्व-पुरुषोंकी मुक्तिके लिए वंशका चलना अनिवार्य बतलाया तो इन्होंने विचार किया कि सदाचारी सन्तानके अतिरिक्त और कौन पूर्व-पुरुषोंको मुक्त करनेमें समर्थ हो सकता है? सदाचारी सन्तान विना भगवान्‌की कृपासे प्राप्त नहीं हो सकती, अतः भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए ये जङ्गलमें तपस्या करने चले गए।

प्रचेताओंने पश्चिम समुद्रके किनारे एक बड़ा सुन्दर सरोवर देखा। संगीतकी ध्वनि वहाँ चारों ओरकी मनोमुग्ध-कारिणी प्रकृतिको मुखरित बना रही थी। मृदङ्ग आदिकी उस ध्वनिको सुनकर प्रचेतागण आश्चर्यसे चारों ओर देखने लगे। उसी समय अपने स्वच्छ वृषभ पर बैठकर सरोवरके निर्मल जलसे निकलते आशुतोष भगवान् शंकर दिखाई दिए। प्रचेतागणके पास जाकर उन्होंने प्रेमसे कहा—"राजपुत्रो! मुझे त्रिलोकी में सबसे ज्यादा प्यारे भगवान् विष्णु हैं; परन्तु उनसे भी अधिक वे प्रिय हैं जो श्रीहरि की शरण हैं। तुम भगवान्‌के परमभक्त हो, अतः मैं तुम्हें एक दिव्य स्तोत्र बतलाता हूँ।

एकाग्र मनसे भगवान्का ध्यान करते हुए स्तोत्रका जाप करनेसे तुमको समस्त मङ्गल प्राप्त होंगे और तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी।" भगवान् शङ्करने उस दिव्य-स्तोत्रको प्रचेताओंको बतलाया और स्वयं अपने वृषभके साथ अन्तर्धान होगए।

प्रचेताओंको बड़ी प्रसन्नता हुई। भगवान् आशुतोषने हमारे ऊपर कृपा की है। हमारे समान सौभाग्यशाली कौन है? वे भगवान् शङ्करके आदेशानुसार स्तोत्रका जाप करते हुए दश सहस्त्र वर्षों तक तप करते रहे। अन्तमें उनके तपसे प्रसन्न होकर भगवान्ने उनपर कृपा की। वे उन्हें दर्शन देनेके लिए तपस्थली पर आविर्भूत हुए और उनके सौभ्रातृत्वकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। भगवान् श्रीसर्वेश्वरको अपनी आँखोंके सामने खड़ा देखकर प्रचेताओंकी बुद्धि विथकित हो गई। उनकी रूप-माधुरीके स्रोतमें प्रचेताओंका समस्त विवेक बह गया। वे विशुद्ध भावसे भगवान्की स्तुति करते हुए दत्तचित्त होकर उनके दर्शन करते रहे। भगवान्ने उनको लोकप्रसिद्ध पुत्र पानेका आशीर्वाद दिया; परन्तु पुत्रके लिए प्रचेताओंकी कामना कब थी? वह तो केवल वंश-रक्षाके लिए आवश्यक समझा गया था, अतः प्रचेताओंने भगवान्से करबद्ध प्रार्थना की—"प्रभो आप स्वयं हम पर प्रसन्न हुए हैं और कृपाकर हमें योगिजन-दुर्लभ इस भव्य स्वरूपके दर्शन कराये हैं। हमारी आपके चरणोंमें यही प्रार्थना है कि हमारा मन सदा आपके पदारविन्दका चञ्चरीक बना रहे। हम आपकी मायासे मोहित होकर नाना प्रकारके कर्म करने के कारण जिस किसी भी योनिमें जन्म लें, वहाँ हमें सज्जनोंका सङ्ग अवश्य मिलता रहे; क्योंकि सत्संगतिके बराबर आनन्ददायी न तो संसारका कोई भी इन्द्रिय-भोग है और न स्वर्गका ही कोई सुख है।"

भगवान्ने प्रचेताओंको मनोनुकूल वरदान दिया और उनको प्रसन्न करके अन्तर्धान हो गए। प्रचेता भगवान्से वरदान पाकर अपने घर लौट आए। वहाँ ब्रह्माजीके आदेशानुसार वृक्षों-द्वारा समर्पित मारिषा नामकी कन्यासे उन्होंने विवाह किया। उससे भगवान् शङ्करका अपराध करके प्राण त्यागनेवाले दक्षने पुत्ररूपमें जन्म ग्रहण किया। जब ब्रह्माजीने उस पुत्रको फिर प्रजापति बना दिया, तब प्रचेता पत्नीको अपने पुत्रके पास त्याग कर फिर भगवान्के भजनके लिए चल दिए। उसी समय देवर्षि नारदजी उनके पास आए। उन्होंने उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। उसे ग्रहण करके कुछ समय तक भगवान्का भजन-ध्यान और स्मरण करके वे भगवान्के परम-धाममें जाकर रहने लगे।

★

श्रीशतरूपाजी—ये महाराज मनुकी पत्नी थीं। इनका चरित्र 'मनु' के प्रसंगमें पृष्ठ ३७ पर देखिए।

सुताश्रय

महाराज मनु और शतरूपासे उत्पन्न तीन पुत्रियाँ—प्रसूति, आकूति और देवहूति परम भगवद्भक्त एवं पतिपरायणा थीं। ये प्रियव्रत एवं उत्तानपादकी बहिनें थीं। इनमें प्रसूतिका विवाह महाराज दक्षसे, आकूतिका विवाह श्रीरुचि ऋषिसे तथा देवहूतिका विवाह मुनि कर्दमसे हुआ था। तीनों बहिनें पातिव्रत्यका आदर्श और सदा भगवान्‌की भक्तिमें लीन रहने वाली देवियाँ थीं। वे अद्वितीय सुन्दरी, सुशीला, धर्म-परायणा और श्रेष्ठ गुणोंवाली थीं।

मुनि कर्दमकी पत्नी देवहूतिके गर्भसे तो साक्षात् भगवान्‌ने कपिलजीके रूपमें अवतार लिया था। उन्होंने अपने पिताको उपदेश किया और माताको सांख्य-शास्त्र तथा भक्ति-योगका ज्ञान कराया। उनका यह उपदेश श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके पच्चीसवें अध्यायसे लेकर बत्तीसवें अध्याय तक में वर्णित है। उनमें से कुछ श्लोक यहाँ दिए जाते हैं—

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥ (३।२५।२४)

—हे पतिव्रते ! साधु वही कहलाते हैं, जो सब संसारके विषयोंको त्याग देते हैं। तुम्हें ऐसे ही साधुओंकी संगतिकी कामना करनी चाहिये, क्योंकि वही आसक्तिसे सभी उत्पन्न दोषोंको हर लेने वाले हैं।

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ (३।२५।३३)

—ज्ञानयोग, कर्मयोग आदिसे प्राप्त होनेवाली सिद्धिसे भगवान्‌में अहैतुकी (बिना कारणके) प्रीति कहीं उत्तम है, क्योंकि वह सब विकारोंको उसी प्रकार नष्ट कर देती है, जैसे अग्नि काठके समूहको।

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च, सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ (३।२५।३८)

—मुझमें प्रीति रखनेवाले लोग, जो मुझसे पुत्रकी तरह स्नेह करते हैं, मित्रकी भाँति मुझमें विश्वास रखते हैं, गुरु के समान मुझसे उपदेश ग्रहण करते हैं, सुहृदकी तरह हितकर मानते हैं और इष्टके समान पूज्य समझते हैं, वे शुद्ध सत्त्वस्वरूप वैकुण्ठमें सभी भोगोंसे वञ्चित नहीं रहते और न मेरा सदा चलनेवाला कालचक्र ही उनका कुछ बिगाड़ता है।

आत्म-कल्याणकी भावना रखने वाले व्यक्तिको इस ज्ञानका अध्ययन गम्भीरता से करना चाहिए। भगवान् कपिल माता देवहूतिको उपदेश करके वनमें चले गए और देवहूति कुछ समय तक पुत्र द्वारा बतलाए प्रकारसे भगवान्‌की भक्तिमें लीन रहकर अन्तमें समस्त सांसारिक दोषोंसे रहित होकर परमानन्द-स्वरूप भगवान्‌को प्राप्त

होगई। आज भी उनकी तपस्याका स्थान सरस्वती नदीके किनारे पर सिद्धपदके नाम से प्रसिद्ध है।

भक्तिमती श्रीसुनीतिजी

देवी सुनीति महाराज उत्तानपादकी धर्मपत्नी थीं। वे परम रूपवती, गुण-सम्पन्न, साध्वी, और भगवदाश्रयिणी थीं। उनके पति यद्यपि अपनी दूसरी रानी शुरुचि के प्रति विशेष अनुरागयुक्त रहकर इनके प्रति उदासीन रहते थे, किन्तु फिर भी इनके हृदयमें पतिके प्रति किसी प्रकार की दूषित भावना नहीं आई। भगवद्-भक्त बालक ध्रुव इन्हींके पुत्र थे। जब ध्रुवकी विमाताने ध्रुवसे कठोर वाक्य कहते हुए यह कहा— 'कि राज्य सिंहासन एवं राज्यका अधिकारी तो वही हो सकता है, जिसने मेरे उदरसे जन्म लिया हैं, अगर तू भी इस गोदमें बैठना चाहता है तो पहले जाकर भगवान्का भजन कर,'' तो ध्रुवको बड़ा दुःख हुआ। वह अपनी माताके पास आया और रोकर विमाताका व्यवहार सुना दिया। उस समय सुनीतिको भी बड़ा दुःख हुआ। उसके हृदयमें सौतके प्रति विद्वेषकी आग जल उठी, किन्तु जब उसने विवेक-पूर्वक सुरुचि की शिक्षा पर विचार किया तो वह सहम गई—"ठीक ही है भगवद्भक्तिसे श्रेष्ठ और क्या है ?" उसने अपने मनको सन्तोष दिया और अपने प्राण-प्यारे पुत्रसे बोली—"बेटा! तुम्हारी विमाताने जो भी शिक्षा तुम्हें दी है, वह ठीक है। बिना भगवान्की कृपाके संसारमें कुछ भी सम्भव नहीं और जिसपर भगवान्की कृपा होगई, उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।" उन्होंने अपने पुत्र ध्रुव को उन्हींकी शरणमें जानेका आदेश देते हुए कहा—

तमेव वत्साश्रय भृत्यवत्सलं मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम्।
अनन्यभावे निजधर्मभाविते मनस्यवस्थाप्य भजस्व पूरुषम्॥
नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद् दुःखच्छिदं ते मृगयामि कंचन।
यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया॥

(श्रीमद्भागवत—स्क० ४, अ० ८,२२,२३)

—बेटा! तू भी उन भक्त-वत्सल भगवान्का ही आश्रय ले। जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटनेकी इच्छा रखने वाले मुमुक्षु लोग निरंतर उन्हींके चरण-कमलोंके मार्गकी खोज किया करते हैं। तू स्वधर्म पालनसे पवित्र हुए अपने चित्तमें श्रीपुरुषोत्तम भगवान्को बिठा ले तथा अन्य सबका चिन्तन छोड़कर केवल उन्हींका भजन कर। बेटा! उन कमल-लोचन श्रीहरिको छोड़कर मुझे तो तेरे दुःखको दूर करने वाला और कोई दिखाई नहीं देता। देख, जिन्हें प्रसन्न करनेके लिए ब्रह्मा आदि देवता ढूँढ़ते रहते हैं, उन्हीं श्रीहरिकी दीपककी भाँति हाथमें कमल लिए श्रीलक्ष्मीजी भी निरन्तर खोज किया करती हैं। (तू उन्हीं भगवान् की शरण जा)।

इन सब बातोंसे पता लगता है कि भगवान्‌पर रानी सुनीतिका अटूट विश्वास था। उसे उनकी भक्तपालकतामें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं था। तभी तो उसने पाँच वर्षके नादान बालकको सिंह, व्याघ्र और जंगली हाथियोंसे भरे वनमें भगवान्‌की आराधनाके लिए भेज दिया। वास्तवमें देवी सुनीति जैसी भक्तिपरायण नारियाँ इस धरती पर बहुत ही कम पैदा हुई हैं।

श्रीमन्दालसाजी

श्रीमन्दालसाजी गन्धर्वराज विश्वावसुजीकी कन्या थीं। इनका विवाह परम यशस्वी एवं तेजस्वी महाराज शत्रुजित्‌के पुत्र कुवलयाश्वसे हुआ था। मन्दालसा भगवद्-भक्तिमें निमग्न रहनेवाली एक पति-परायणा सुन्दरी थीं। उनकी यह प्रतिज्ञा थी कि जो भी मेरे गर्भसे जन्म लेगा, उसे फिर गर्भमें आनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। विवाहके उपरान्त उनका पहला पुत्र हुआ। राज्यमें चारों ओर आनन्द छा गया। राजाने उसका नामकरण-संस्कार कराया और उस नवजात शिशुका नाम रखा गया 'विक्रान्त'। परिवारके सब लोग बड़े प्रसन्न हुए, पर मन्दालसा उस नामको सुनकर हँसने लगीं। उन्होंने बाल्यकालसे ही बच्चेको समझाना प्रारम्भ किया—"हे तात्! तेरा कुछ भी नाम-धाम नहीं है। तू समस्त बन्धनोंसे नित्य-मुक्त है। यह शरीर पञ्च महा-भूतोंका बना है, पर तेरा इससे कोई सम्बन्ध नहीं। संसारमें सभी सुख मोहजन्य हैं। उनका आकर्षण मिथ्या और सदाचारके मार्गसे डिगा देनेवाला है। इन्द्रियोंके भोग दुःख रूप हैं, ऐसा ज्ञानी लोग समझते हैं; किन्तु जो अविवेकी हैं, उनको तो दुःख-रूप ये सांसारिक भोग भी सुख देनेवाले लगते हैं।"

इस प्रकार माता मन्दालसाने अपने पुत्रको बाल्यकालसे ही ऐसा उपदेश किया, जिससे उसको संसारका सच्चा ज्ञान हो गया और ममताशून्य होकर उसने अपने मनको गार्हस्थ्य-धर्मकी ओर नहीं जाने दिया।

राजाके दूसरा पुत्र पैदा हुआ तो उसका नाम 'सुबाहु' रखा गया। इस बार भी मन्दालसा को बड़ी हँसी आई और उस बालकको भी बाल्य-कालसे ही उपदेश देकर परम बुद्धिमान् और ज्ञानी बना दिया। तीसरा पुत्र उत्पन्न होनेपर उसका नाम राजाने 'शत्रुमर्दन' रखा। यह सुनकर मन्दालसा बहुत देर तक हँसती रही। उसने इस तीसरे बच्चेको भी निष्काम कर्मका उपदेश किया और उसको संसार एवं इसके विषयाकर्षणों

मार्कण्डेय पुराण में इनका नाम मन्दालसा न लिखकर मदालसा लिखा गया है।

से विरक्ति करा दी। यथासमय मन्दालसाके चौथा पुत्र उत्पन्न हुआ। जब राजा उसका नामकरण करनेको चले तो मन्दालसा मन्द-मन्द मुस्कराने लगी। राजा उनको मुस्कराती हुई देखकर बोले—"देवि! जब कभी भी मैं नामकरण करता हूँ तो तुम बहुत हँसती हो, इसका क्या कारण है? क्या मेरे द्वारा रखे गए तुम्हारे पुत्रोंके विक्रान्त, सुबाहु और शत्रुमर्दन नाम अच्छे नहीं हैं? यदि ये नाम अच्छे नहीं हैं तो इस बार तुम अपना मन-चाहा नाम रख लो।"

मन्दालसाने कहा—"महाराज! आपकी आज्ञाका पालन करना मेरा परम कर्त्तव्य है; अतः आपके आदेशानुसार इस चौथे पुत्रका नाम मैं रख दूँगी।" मन्दालसाने उसका नाम 'अलर्क' रखा और कहा—"यह अलर्क अपने कार्य, ज्ञान और बुद्धिसे संसारमें विख्यात होकर बड़ा भगवद्भक्त होगा।"

राजा आश्चर्यमें डूब गये और बोले—"देवि! आप तो मेरे द्वारा दिए गए नामोंपर हँसा करती थीं, पर वास्तवमें तो तुम्हारे द्वारा दिया यह असंगत नाम 'अलर्क' ही हास्यास्पद है। बतलाइये तो, इस नाममें क्या विशेषता है?"

मन्दालसाने समझाया—"महाराज! नाम तो केवल व्यावहारिक कार्योंके निर्वाहके लिए ही रखा जाता है, अन्यथा उसकी संगति होती कब है? आपने भी अपने पुत्रोंके नाम निरर्थक ही रखे हैं। देखिए, आपके पहले पुत्रका नाम 'विक्रान्त' है। विक्रान्तका अर्थ है–गति, और गति एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेको कहते हैं। जब यह पुरुष (आत्मा) सर्वव्यापक, आकारहीन, अमूर्त, अगतिशील, अज, अमर और अचल है तो फिर उसका नाम 'विक्रान्त' कैसे रखा जा सकता है? हे पृथ्वीनाथ! उसी प्रकार दूसरे पुत्रका नाम 'सुबाहु' है। वह भी निरर्थक है; क्योंकि निराकार आत्माकी बाहु कैसे हो सकती हैं? आपके तीसरे पुत्रका नाम है 'अरिमर्दन'। वह नाम भी बिलकुल असंगत है। जब समस्त प्राणियोंके अन्दर एक ही आत्मा है तब कौन किसका शत्रु हो सकता है? मूर्तिमान् शरीरका मूर्तिमान् शरीर मर्दन कर सकता है, पर अमूर्त आत्माका अमूर्त आत्मा किसी भी प्रकारसे मर्दन नहीं कर सकता। जब इतने निरर्थक नाम सङ्गत हो सकते हैं और लोक-व्यवहारके उपयोगके हैं तो 'अलर्क' नाम ही आपको असङ्गत कैसे प्रतीत होता है?"

राजा उसकी बात मान गए। मन्दालसा इस चौथे पुत्रको भी वही ज्ञान प्रदान करने लगी। इसपर राजाने उन्हें रोककर कहा—"तुम यह क्या कर रही हो? पहले पुत्रों की भाँति इसको भी ऐसा उपदेश देकर मेरी वंश-परम्पराका उच्छेद करनेपर क्यों

तुली हो ? यदि तुमको मेरी आज्ञाका पालन करना है तो इस पुत्रको प्रवृत्ति-मार्गमें लगाओ; नहीं तो वंशोच्छेदन के उपरान्त पितरोंका पिण्डदान समाप्त हो जायगा और विभिन्न योनियोंमें पड़े हुए जीव असन्तुष्ट रहकर महान कष्ट उठावेंगे । देवता, मनुष्य, पितर, भूत, प्रेत, गुह्य, पक्षी, कृमि और कीटका जीवन भी तो गृहस्थके अधीन है। अतः इस पुत्रको तो ऐसा उपदेश करो कि यह अपने क्षत्रियोचित कार्योंमें लगकर इह-लोक एवं परलोक–दोनों लोकोंमें उत्तम फल प्राप्त कर सके ।''

पति-परायणा मन्दालसाने पतिकी आज्ञासे ऐसा ही किया । उन्होंने अपने चौथे पुत्र अलर्कको ऐसी शिक्षा दी जिससे वह गृहस्थ-धर्म स्वीकार करे । उसे सद्गृहस्थ बनानेके लिए उन्होंने राजनीति, वर्णाश्रम-धर्म; गृहस्थके कर्त्तव्य, श्राद्ध-कर्म, श्राद्धमें विहित और अविहित वस्तु, गृहस्थोचित सदाचार, त्याज्य-ग्राह्य वस्तु, शौच-अशौच, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य आदिका विस्तार से उपदेश किया ।

मातासे उपदेश ग्रहण करके अलर्कने युवावस्थामें विधि-पूर्वक अपना विवाह किया । उसके अनेक पुत्र हुए । वह यज्ञ-द्वारा भगवान्‌का भजन करने एवं हर प्रकारसे पिताकी आज्ञा का पालन करनेमें लगा रहता था । जब राजा ऋतध्वज वृद्ध होगए तो उन्होंने अपने पुत्रका राज्याभिषेक कर दिया और स्वयं देवी मन्दालसाके साथ वनमें जानेको तैयार हुए । उस समय मन्दालसाने अपने प्रिय पुत्र अलर्कको एक सोनेकी अँगूठी देते हुए कहा—''बेटा ! गृहस्थ-धर्म का अवलम्ब करके राज्य करते समय तुम्हारे ऊपर यदि-बन्धुके वियोगसे, शत्रुओंकी बाधासे अथवा धनके नाश से होने वाला कोई असह्य दुःख आ पड़े तो मेरी दी हुई इस अँगूठीसे यह उपदेश-पत्र निकाल करके तुम अवश्य पढ़ना; क्योंकि ममतामें बँधा रहनेवाला गृहस्थ दुःखों का केन्द्र होता है ।''

यह कह कर महाराज ऋतध्वज एवं महारानी मन्दालसा तपस्या करनेके लिए वनमें चले गए और अलर्क माताके द्वारा बतलाई गई राजनीतिसे राज्य करने लगे ।

बहुत काल बीत जाने पर एक बार मन्दालसाको ध्यान आया कि मेरा पुत्र अलर्क अभी तक विषय-भोगोंमें फँसा हुआ है । वह यदि इसी प्रकार आनन्दसे राज्य करता रहेगा तो उसे किसी प्रकार भी वैराग्य पैदा नहीं होगा । ऐसा विचार कर उन्होंने अपने पुत्र सुबाहुको आदेश दिया कि वह अलर्कको किसी प्रकार इस मोह और मायाके बन्धनसे मुक्त करनेकी कोशिश करे । माताकी आज्ञा से सुबाहु अपने भाईको माया-मोह के बन्धनसे छुड़ानेका विचार करने लगे । अन्तमें उन्होंने यही उचित समझा कि अलर्क के किसी शत्रु राजाका सहारा लेना चाहिए । ऐसा विचार कर वे काशिराजके पास

गए और प्रणाम करके अलर्क पर आक्रमण करने की प्रार्थना की । परम बलशाली एवं शक्ति-सम्पन्न महाराज काशिराजने ऐसा ही किया । थोड़े समय के युद्धके उपरान्त ही अलर्ककी सम्पूर्ण शक्ति नष्ट हो गई । उसके ऊपर आपत्तिका वज्र टूटने वाला था । वह घबड़ाया । उसी समय उसने अपनी माताजी की दी हुई अँगूठीमें से उपदेश-पत्र निकाला और पढ़ा—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते । स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ।
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः । मुमुक्षां प्रति तत्कार्यः सैव तस्यापि भेषजम् ॥

—सङ्गका सब प्रकारसे त्याग करना चाहिए; किन्तु उसका त्याग न किया जा सके तो सत्पुरुषों का सङ्ग करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुषोंका सङ्ग ही उसकी औषधि है । कामनाको सर्वथा छोड़ देना चाहिए, परन्तु जब वह छोड़ी न जा सके तो मुक्तिकी कामना करनी चाहिए; क्योंकि मुक्ति की इच्छा ही उस कामनाको मिटानेकी दवा है ।

इस उपदेशको पढ़कर अलर्कके मनमें भगवत्प्राप्तिकी कामना पैदा हुई और वे सत्सङ्गके लिए व्याकुल हो उठे । वे आसक्ति-हीन, परम सौभाग्यशाली, पापशून्य महात्मा दत्तात्रेयजीके पास गए । कुछ समय तक उनके साथ सत्सङ्ग किया और उनसे तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करके सब विकारोंसे मुक्त बन गए । दत्तात्रेयजीने उन्हें समस्त ज्ञान देकर कहा कि—"अब तुम जाकर पृथ्वी पर मुक्तावस्थामें विचरण करके भगवान् की भक्तिमें अपना मन लगाओ ।"

दत्तात्रेयजीको प्रणाम करके निरासक्त ज्ञानी अलर्क काशिराजके पास आए और अपने भाई सुबाहुके सामने ही उनसे बोले—"काशिराज ! राज्यकी इच्छा रखनेवाले तुम इस बढ़े हुए राज्यको भोगो या इसे चाहो तो सुबाहुको दे दो ।"

काशिराजने कहा—"युद्ध तो क्षत्रियका परम धर्म है, तुम उससे विरत होकर अधर्मका मार्ग स्वीकार कर रहे हो ।" अलर्क बोले—"महाराज ! आपकी बात बिलकुल ठीक है, परन्तु अपनी माताकी कृपा एवं दत्तात्रेयजीकी उपकार-भावनासे मुझे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया है । मैं उस स्थितिपर पहुँच गया हूँ, जहाँ न कोई किसीका शत्रु है, न कोई किसीका मित्र । न कुछ सुख है न दुःख । वहाँ संसारमें व्याप्त द्वन्द्वोंका स्पर्श भी नहीं है ।"

अलर्कके ऐसा कहने पर सुबाहु "धन्य-धन्य" कहते हुए अपने भाई का अभिनन्दन करके काशिराजसे बोले—"महाराज ! मैं जिस कार्यके लिए आपकी शरणमें आया था, वह पूरा हो गया । अब मैं जाता हूँ । आपका कल्याण हो ।"

काशिराज इन बातोंका अर्थ नहीं समझ सके । उनके पूछने पर सुबाहुने सब

समाचार काशिराजको सुना दिया। अन्तमें सुबाहु अपने छोटे भाई अलर्कके साथ जङ्गलमें तपस्या करने एवं भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन रहनेके लिए चले गए। काशि-राज भी अपने ज्येष्ठ-पुत्रको राज्य देकर वनमें भगवान्‌के दर्शनोंके लिए चले गए।

श्रीपार्वतीजी—श्रीपार्वतीजीका चरित्र श्रीशिवजीके प्रसङ्गमें पृष्ठ ३५ पर देखिए।

श्रीयज्ञ-पत्नीजी

एक बार मथुराके कुछ याज्ञिक ब्राह्मण जङ्गलमें यज्ञ कर रहे थे। वहीं गोपाल गायें चरा रहे थे। उन्होंने जब देखा कि ग्वाल-बालोंको भूख लग रही है तो उन्हें यज्ञ करनेवाले ब्राह्मणोंके पास भेज दिया। वहाँ जाकर जब उन्होंने भोजनकी याचना की तो उन्हें बुरी तरहसे फटकार दिया गया। वे लौटकर श्यामसुन्दरके पास आए और उनसे सारा समाचार कहा। श्रीकृष्णने उनको फिर याज्ञिकोंकी पत्नियोंके पास भेजा। ग्वाल-बालोंने जाकर जब याज्ञिकोंकी पत्नियोंको समाचार सुनाया तो वे आनन्दसे झूम उठीं। अनेक प्रकारके मिष्ठान्न तैयार किये गए, थालियाँ सजाई गईं और वे उनको स्वयं लेकर चल दीं उस स्थानपर जहाँ श्रीनन्दनन्दन विराजमान थे।

उसी समय एक याज्ञिक की पत्नी अपने पतिको भोजन खिला रही थी। उसने अपनी सखियोंको प्रसन्नता-पूर्वक सुन्दर-सुन्दर थाल सजाए उस मञ्जुल-मूर्तिका दर्शन करनेको जाते देखा। उसकी आँखोंके सामने श्यामसुन्दरकी दिव्य-माधुरी थिरकने लगी। वह भी उठी और प्रेमसे उन्हीं आनन्द-घनके लिए ले जानेको थाल सजाने लगी। उसी समय भोजन करते पतिने उसे डपटा—"कहाँ जानेको तैयार हो रही है ?"

"उन्हीं मनमोहनके दर्शन करने को", पत्नीने सरल स्वभावसे उत्तर दिया।

पतिदेव एकदम गरज उठे—"मैं जो यहाँ बैठा भोजन कर रहा हूँ! क्या यही है तेरा पातिव्रत धर्म कि पतिकी आज्ञाका उल्लंघन करके स्वेच्छाचारिणी बने ? तू कहीं नहीं जा सकती।"

स्त्रीने नम्रतासे कहा—"महाराज आप भोजन तो कर ही चुके, अब तो वृथा ही मुझे दोष देते हैं। फिर मैं तो आपके भी स्वामी सजल-जलदाभ नीलमणि श्रीश्याम-सुन्दरके दर्शन करने जा रही हूँ। इसमें स्वेच्छाचारिताकी क्या बात है ?"

अब तो पतिदेव और भी बिगड़ गए। बोले—"अपने स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन करके भी जाने का आग्रह करना तेरा धर्म है क्या ? तू मेरी आज्ञाके बिना पैर भी नहीं उठा सकती।"

पत्नीने फीकी हँसी हँसकर कहा—"देव ! वास्तविक और सच्चे स्वामी तो वही आनन्दघन श्रीव्रजेन्द्र-नन्दन हैं । उन्हींकी आज्ञाका उल्लंघन आप करा रहे हैं ।"

"नहीं ! तू मेरी आज्ञाके बिना नहीं जा सकती ।" पतिजी बीचमें ही बौखला उठे ।

"मैं जाकर रहूँगी । मुझे कोई नहीं रोक सकता ! दुनियाँ में किसकी सामर्थ्य है जो मुझे मेरे स्वामीके पास जाने से रोक ले ।"

"अच्छा तो देखता हूँ, तू कैसे जाती है ?" पतिने क्रोधसे काँपते हुए कहा और उसका शरीर रस्सीसे कसकर आँगनमें डाल दिया ।

"बस कि अभी और कुछ करना है ?" पत्नीने बड़े मीठे शब्दोंमें कहा—"अब भी उनके पास जा सकती हूँ ।"

"हूँ, जा क्यों नहीं सकती ? यह नहीं पता है कि मैं यहाँ से तब तक जानेका नाम भी नहीं लूँगा जब तक कि वे कुल-बधुएँ लौट कर नहीं आ जातीं ।"

पत्नी पतिकी बातोंपर धीरे से हँस दी और फिर बोली—"आप शारीरिक-शक्तिसे शरीरको वशमें कर सकते हैं, बाँधकर आँगनमें डाल सकते हैं, टुकड़े-टुकड़े कर सकते हैं; परन्तु आप मन और आत्माके स्वामी नहीं । उनको न तो आप बाँध ही सकते हैं और न मञ्जुल-मूर्ति श्यामसुन्दरके पास जानेसे रोक ही सकते हैं । चाहे आप लाख उपाय कर लें, परन्तु मेरा मन, मेरी आत्मा तो उन प्रियतम प्यारे, नन्ददुलारे श्याम-सुन्दरके पास सबसे पहले जायगी । उसे कोई नहीं रोक सकता ।"

इतना कह कर उसने अपनी दोनों आँखें बन्द कीं और भगवान्की माधुरी-मूर्ति का ध्यान करने लगी । उसे लगा मानो मनमोहन उसके सामने खड़े हैं । उनके माथे पर मोरका मुकुट और अनेकों अमूल्य हीरे-मोतियोंसे जड़ा किरीट है । शरद्-चन्द्रके समान ज्योतिष्मान् उनका मुख चारों ओर सुन्दरता बखेर रहा है । नीलपद्म-से चपल लोचनों की मोहकताको देखकर तो वह ठगी-सी रह गई । कन्धों पर पड़ा रेशमी पीताम्बर, चरण-पर्यन्त झूमती हुई वन-माला, हाथमें सुन्दर वंशी और नख से शिख तक मोती, मरकत मणि, माणिक्यसे जड़े हुए सुन्दर आभूषण, अहा ! कितना मोहक है यह स्वरूप !! कितनी सुन्दर है यह मनोमुग्धकारिणी छटा !!! उसका मन मनमोहनमें जा मिला । उसकी आत्मा उसके सच्चे प्रियतममें समा गई ।

यज्ञ-पत्नियोंकी इसी दशाको लक्ष्य करके परमहंस-शिरोमणि श्रीशुक-मुनी कहते हैं—

....

अभिसस्त्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ।
निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिः सुतैः ।
भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥
(श्रीमद्भागवत १०।२३।१९,२०)

—जिस प्रकारसे नदियाँ अनेकों विघ्नोंके सामने आने पर भी अबाध गतिसे आगे बढ़ती जाती हैं और अपने लक्ष्य स्थान समुद्रमें मिलकर ही शान्तिलाभ करती हैं । उसी प्रकारसे ये यज्ञ-पत्नियाँ भी पति-पुत्रादिके रोकने पर भी अपने वास्तविक प्रियतम भगवान श्रीश्यामसुन्दरसे मिलनेके लिए चल दीं; क्योंकि उन त्रिभुवन-मोहनके ललित-गुण-लीला-सौन्दर्य-माधुर्य आदिका वर्णन सुन-सुन कर वे इसके लिए पहलेसे ही कृत-संकल्प थीं ।

यज्ञ-पत्नियोंका यह सच्चा अनुराग ही उनके लिये फलदायक सिद्ध हुआ । जिन्होंने लोकके बन्धनोंको तृण सम त्यागकर श्रीभगवान्‌की शरण चाही और अपने शरीर तकका मोह छोड़ दिया उस ईश्वरमें, सगुण लीलानायकमें लीन होनेको आतुर होनेवाली इन मुक्तात्मा यज्ञ-पत्नियोंका चरित्र आदर्श रूप विद्यमान है ।

इसी चरित्रको संक्षेपमें एक कविने कितने सुन्दर ढङ्गसे व्यक्त किया है । देखिये—

नाम सुन्यौ प्रथमै सुनिकै हरि देखन की मन लालसा जागी ।
आय प्रत्यक्ष लखी तिनको अपने को गुनी जगमें बड़भागी ॥
श्रीयदुनाथ अनूप स्वरूप हिए धरि मूँदि दृगैं अनुरागी ।
मोहन सौं मिलिके मनमें ब्रजनारि बुझाइ दई बिरहागी ॥

***

सच्चे प्रेमकी प्रतिमा-श्रीव्रजाङ्गनाएँ

अशेष सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन श्रीभगवान्‌की सभी लीलाएँ नित्य हैं; किन्तु रसिकोंके लिए रस-विस्तारार्थ समय-समयपर वे इन लीलाओंका प्रकाशन करते रहते हैं । इसी प्रकार आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व इन भुवनवन्द्या प्रातःस्मरणीया श्रीगोपीजनोंने सच्चे प्रेमका आदर्श स्थापित करनेके लिए प्रकट रूपसे इस व्रज-प्रदेशमें अवतार लेकर उन्हीं लीलाओंका विस्तार किया था । इन व्रज-गोपियोंको जो आह्लाद व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण द्वारा प्राप्त हुआ, वह सुख, वह प्रेम, वह औदार्य और किसी अवतारमें भक्तोंको प्राप्त नहीं हुआ । वहाँ उन्हें वह अनन्यता नहीं दिखाई दी, जो गोपियोंके प्रेममें थी । बृहद् वामन-पुराणकी एक वार्तासे व्रजगोपियोंके इस पुनीत प्रेमके महत्त्वका दिग्दर्शन कराया जाता है ।

एक समय भृगुजी अपने पिताजीके पास गए और प्रणाम करके अत्यन्त विनीत

भावसे बोले—"पिताजी ! मेरे हृदयमें एक शंका दिन-प्रति-दिन बढ़ती जारही है । आप सर्वज्ञ हैं, अतः उसका समाधान आपसे हो सकता है । कृपा करके मुझे बतलाइए कि श्रीशुक-सनकादिक नारदादि ऋषिमुनियोंने अन्य किसी वस्तुकी चाहना न करके व्रजाङ्गनाओंकी चरणरजकी ही याचना क्यों की ?" ब्रह्माजीने उत्तर दिया—"बेटा ! व्रज-गोपिओंको तुम साधारण स्त्री मत समझो । ये तो साक्षात् श्रुति-कन्याएँ हैं । इन व्रजगोपियोंके समान और कौन हो सकता है, जिन्होंने त्रिभुवन-मोहन श्रीश्यामसुन्दर को अपनी प्रेमभरी चितवनोंसे आधीन कर रक्खा है ? मालूम पड़ता है तू अभी तक ब्रह्मज्ञानमें भूला हुआ है, जिसके कारण इस रहस्यको तू नहीं जान सका है । इनकी चरण-रज सभीके लिए दुर्लभ है । मैंने भी इसकी प्राप्तिके लिए बहुत वर्षों तक तपश्चर्याकी थी, किन्तु मैं भी उसे प्राप्त नहीं कर सका । तूने व्रजकी रस-माधुरी समझी नहीं है । जिस व्यक्तिके जितने दिन उस रसके बिना बीते, समझ लो कि उसके उतने दिन बेकार चले गए । जिस भगवान् श्रीकृष्णको ज्ञानी ज्ञानमें ढूँढ़ा करते हैं, भजनानन्दी भजनके सहारे प्राप्त करना चाहते हैं, वे व्रजकी इन गोपियोंके दरवाजे पर खड़े-खड़े उनकी प्रतीक्षा करते रहते हैं । जो भगवान् सब भक्तोंके सिरमाथे हैं, वे ही इन व्रजाङ्गनाओंके प्रेम-पाशमें आबद्ध होकर सेवकके समान उनकी आज्ञा पालनेके लिए तैयार रहते हैं । इसी बात को श्रीध्रुवदासजीने बयालीसलीलामें कहा है—

जोइ-जोइ व्रज बनिता कहैं, सोइ-सोइ लेत हैं मानि ।
नाचत ज्यों कठपूतरी तिनके आगे आनि ।।
ज्ञानी खोजत ज्ञान में भजनी भजन अपार ।
ते हरि ठाढ़े रहत हैं व्रजदेविन के द्वार ।।
सब भक्तन के सिरन पर हरि-ईश्वर नन्दलाल ।
व्रजमें सेवक ह्वै रहे अदभुत प्रेम की चाल ।।

श्रीसूरदासजीने तो इसी बातको और भी विस्तारसे कहा है—

....

देत करताल वे लाल गोपाल सों, पकरि व्रजबाल कपि ज्यों नचावें ।।
कोउ कहै ललन पकराहु मोहि पाँवरी, कोउ कहै लाल बलि लाउ पीढ़ी ।
कोउ कहै ललन गहाव मोहि सोहनी, कोउ कहै लाल चढ़ि जाहु सीढ़ी ।।
कोउ कहै ललन देखौ मोर कैसे नचैं, कोउ कहै भ्रमर कैसे गुंजारें ।
कोउ कहै पौरि लगि दौरि आओ लाल, रीझि मोतिन के हार वारें ।।
जो कछु कहैं व्रज - बधू सोइ - सोइ करत, तोतरे बैन बोलन सुहावें ।
रोय परत वस्तु जब भारी न उठै तबै, चूम मुख जननी उरसों लगावें ।।
बैन कहि लौनी पुनि चाहि रहत बदन, हँस स्वभुज बीच लै-लै कलोलें ।
धामके काम व्रजवाम सब भूलि रहीं, कान्ह बलराम के संग डोलें ।।

'सूर' गिरिधरन मृदु-चरित मधु-पान के, और अमृत कछू आन लागें ।
और सुख रंकको कौन इच्छा करै, मुक्ति हू लौन-सी खारी लागें ।।

कलिन्दनन्दिनी श्रीयमुनाजीके तटपर बृहद्-वन नामका एक अतिशय सुन्दर वन था। इस वनके पार्श्वदेशोंमें अनेकों व्रज बसे हुए थे। इन व्रजोंमें अगणित गोप निवास करते थे। प्रत्येक गोपके पास अपार गो-धन था। गो-पालन ही इनकी एकमात्र जीविका थी। सब घरोंमें दूध-दही की नदियाँ बहा करती थीं। इनका जीवन बड़े सुखसे बीतता था। इन्हीं गोपोंके घर श्रीगोपीजनों का अवतरण विश्वमें श्रीकृष्ण-प्रेमका आदर्श स्थापित करनेके लिए हुआ था। इन गोपियोंके अनन्त यूथ थे, जिनमें कुछ यूथ तो नित्य-सिद्धा गोपिकाओंके थे, जो भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दनके प्रत्येक अवतारके साथ इस धरा-धामपर अवतीर्ण होते रहते हैं। शेष गोपियाँ साधन सिद्धा कही जाती हैं। ये अनेकों प्रकारसे भगवान्‌से उनके मधुर-प्रेमकी याचना करके इस अवतार में अपनी मनोवाञ्छा को पूरा कर पायीं थीं। इन गोपियोंमें ऋषि-कन्याएँ, श्रुतिकन्याएँ आदिके अनेकों भेद हैं—

मुनि-कन्या ऋषि-कन्या जिती। श्रुति-कन्या साधन सिद्धा तिती ।।
नित्यसिद्धा गोपकन्या जानों। श्रीकृष्ण अनादि तैसें ये मानों ।।
(स्वामी श्रीरसिकदेवजी कृत-"रससार)

इन व्रजाङ्गनाओंके प्रेमादर्शकी पराकाष्ठाका वर्णन शुक-सनकादि ऋषियोंने उद्धव आदि भक्तोंने शास्त्र-पुराणकार मुनियोंने एवं आचार्य सन्तोंने विशद रूपसे किया है। इतना ही नहीं, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी इनके प्रेमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजीके शब्दों में उद्धवजी कहते हैं—

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपबध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ।।
(श्रीमद्भागवत १०।४७।५८)

—इस पृथ्वी पर केवल गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ एवं सफल है; क्योंकि ये सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्णके उस परम प्रेममय दिव्य महाभावमें स्थित हो गई हैं, जिसके लिए संसारके भयसे डरे हुए मुमुक्षु-जन, बड़े-बड़े मुनि और हम सदा वाञ्छा करते रहने पर भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। यदि भगवान् की कथाका रस नहीं मिला, उसमें रुचि नहीं हुई तो अनेक महाकल्पों तक बार-बार ब्रह्मा होनेसे भी क्या लाभ ?

गोपियों के इस प्रेमके कारण भगवान् श्रीकृष्णने तो यहाँ तक कह दिया है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ।।
(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

—हे गोपियों ! तुमने घरकी बड़ी कठिन बेड़ियोंको तोड़कर मेरी सेवा की है। तुम्हारे इस

साधु कार्यका मैं देवताओंके समान आयु पाकर भी बदला नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारता से मुझे उऋण करना।

गोपियोंकी प्रशंसा करते समय अपने परम भक्त अर्जुनसे भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥ (आदि-पुराण)

—हे अर्जुन! मेरी महिमा, मेरी सेवा, मेरी इच्छाओं और मेरे मनोगत भावोंको तो एक-मात्र गोपिकाएँ ही ठीक-ठीक जानती हैं, दूसरा कोई नहीं।

स्वामी श्रीविहारिनदेवजीने व्रजाङ्गनाओंके विशुद्ध प्रेमपर प्रकाश डालते हुए कहा है—

साँचे प्रेमकौ गुरु गोपी।
सबै निसंक चलीं हरि सनमुख लै अपने उर ओपी॥
सुत-पति परिहरि मन न कछू धरि वरजत क्रोध न कोपी!
मेटि मिली मरजाद लाज जे लोक-वेद आरोपी॥
मगन भईं सुन्दर स्वरूप-सुख सब बासना अलोपी।
'श्रीविहारीदास' रस रमीं स्याम संग सब बाधिकृन दै धोपी॥

हिन्दी-साहित्यके उद्भट महारथी "श्रीघनआनन्द" ने तो इनके प्रेमका वर्णन बहुत ही विशद रूपसे किया है। कुछ दोहे देखिए—

गोपिनि की पदवी अगम, निगम निहारत जाहि।
पद-रज विधि से जाचहीं, कौन लहै फिर ताहि॥
महाभाग व्रजकी बधू, निज बस किये गुपाल।
रिनी रहे हित मानि कै, सुकृती परम रसाल॥
गोपिन कौ रस गुपत अति, प्रगट करै तिहि कौन।
सुक सनकादिक सुमिरि कें, चकित रहत धरि मौन॥
परम अमल अति ही अमिल, हरि-व्रज-बधू विलास।
जाँचत हैं बिधि सम्भु से, श्रीव्रजमण्डल-बास॥
श्रीपद-अंकित व्रजमही, छबि न कही कछु जाय।
क्यों न रमा हूँ कौ हियो, या सुखकों ललचाय॥

गोपियोंका यह प्रेम अत्यन्त दुर्लभ है। इसमें देवताओंका भी अधिकार नहीं। जो जन श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके रसके रसिक हैं, व्रज-प्रेमके प्रेमी हैं, व्रज-भावके भावुक हैं, वे ही इस अत्यन्त उच्च प्रेम-रसका पान किया करते हैं। यह प्रेम कामगन्ध-हीन, विषयाभिलाष-शून्य स्वसुखकी भावनासे रहित एवं गोपीभावके अवलम्बनसे प्राप्त होने वाला है। गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति अनुराग काम नहीं, प्रेम है; क्योंकि प्रेम और काममें बड़ा ही अन्तर है। काम जहर मिला हुआ मधु है। प्रेम अलौकिक सुधा है। काम

थोड़ी ही देरमें दुःखके रूपमें बदल जाता है, प्रेमकी प्रत्येक कसक सुख - सुधाके स्वादसे परिपूर्ण है। काममें इन्द्रिय-भोग सुख-रूप दिखाई देने पर भी परिणाममें दुःख-रूप है; प्रेम सदा अतृप्त होने पर भी नित्य परम-सुख-रूप है। काम खण्ड है, प्रेम अखण्ड है। काम क्षयशील है; प्रेम नित्य-वर्धनशील है। काममें विषय-तृष्णा है, प्रेममें विषय-विस्मरण है। कामका सम्बन्ध नश्वर शरीरसे है और प्रेमका सम्बन्ध नित्य आत्मा से।

गोपियोंके इसी विशुद्ध प्रेमकी ओर संकेत करते हुए चैतन्य-चरितामृतमें कहा गया है—

निजेन्द्रिय - सुख - हेतु कामेर तात्पर्य। कृष्ण-सुख तात्पर्य गोपी-भाव वर्य ॥
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपीकार। कृष्ण - सुख हेतु करें सङ्गम - विहार ॥
आत्म-सुख-दुख गोपी ना करे विचार। कृष्ण - सुख - हेतु करे सब व्यवहार ॥
कृष्ण विना आर सब करि परित्याग। कृष्ण - सुख - हेतु करे शुद्ध अनुराग ॥

मूल (छप्पय)

प्राचीनबर्हि, सत्यव्रत, रहूगण, सगर, भगीरथ।
बालमीकि, मिथिलेश गए जे - जे गोविन्द-पथ ॥
रुक्मांगद, हरिचन्द, भरत, दधीचि उदारा।
सुरथ, सुधन्वा शिविर, सुमति अतिबलि की दारा ॥
नील, मोरध्वज, ताम्रध्वज, अलरक की कीरति राचिहौं।
अंघ्री अम्बुज पांसु को जनम-जनम हौं जाचिहौं ॥११॥

अर्थ—प्राचीनबर्हीसे लेकर अलर्क तक २१ भक्तोंकी चरण-रजकी कामना मैं जन्म-जन्मान्तरके लिए करता हूँ।

महर्षि-वाल्मीकि

भक्ति-रस-बोधिनी

जन्म पुनि जन्म को न मेरे कछु सोच अहो ! सन्तपद-कंज-रेनु सीस पर धारिये।
प्राचीनबर्हि आदि-कथा परसिद्ध जग, उभै बालमीकि बात चित्त तै न टारिये ॥
भये भील संग भील, रिषि संग रिषि भये, भये राम-दरशन लीला बिसतारिये।
जिन्हें जग गाय किहूँ सके ना अघाय चाय, भाय भरि हियो भरि नैन भरि ढारिये ॥७४॥

अर्थ—प्रियादासजी अपने सम्बन्धमें कहते हैं कि मुझे इस बातकी चिन्ता नहीं है कि (मुक्ति न मिलने पर) मुझे बार-बार जन्म लेकर इस संसारमें आना पड़ेगा; क्योंकि

ऐसी स्थितिमें मुझे सन्तोंकी चरण-रजको अपने मस्तक पर लगानेका सौभाग्य तो प्राप्त होगा। प्राचीनबर्हि आदि भक्तोंकी कथा तो पुराणोंमें लिखी है और संसारके सब लोग उससे परिचित हैं; परन्तु दोनों वाल्मीकि-ऋषियोंके चरित्रको हृदयसे कभी नहीं दूर करना चाहिये। आदिकवि वाल्मीकि अपने जीवनके प्रारम्भमें भीलोंके साथ भील बन-कर रहे और बादमें ज्ञान होने पर ऋषियोंके सत्संगमें रह कर ऋषि हो गये। आपको प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। आपने विस्तार-पूर्वक श्रीरामजीके चरित्र का श्रीवाल्मीकि रामायणमें ऐसा वर्णन किया है कि उसे गाते और श्रवण करते संसार को कभी तृप्ति ही नहीं होती, वलिक रामचरित्रको गाने वालों और सुननेवालोंका हृदय उत्कण्ठा और चाव (उत्साह) से परिपूर्ण हो जाता है और आनन्दके कारण नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है।

ऋषि वाल्मीकिका जन्म ब्राह्मण-कुलमें हुआ था, परन्तु वे पले थे एक व्याधके परिवारमें। वे रास्तेमें आते-जाते पथिकोंको लूटा करते थे। एक दिन कश्यप, अत्रि आदि सप्तर्षि उधर होकर निकले। वाल्मीकिने उसी प्रकार उनका भी पीछा किया और उन्हें भी मारना चाहा, तो ऋषियोंने उनसे पूछा—"अपने जिन स्त्री-पुत्र और बान्धवोंका पालन तुम मनुष्यों और जीव-जन्तुओंका बध करके करते हो, उसके पापमें वे लोग भागीदार होते हैं कि नहीं?" वाल्मीकिने कहा—"मुझे नहीं मालूम।" तब ऋषियोंने कहा—"एक काम करो। हम सब यहीं बैठे हैं; तुम जरा घर पूछ कर आओ।" वाल्मीकिने जब उन लोगोंसे उसी प्रकार पूछा तो सबने एक स्वरसे यही उत्तर दिया कि उनमें-से कोई वाल्मीकिके पापमें साझीदार बननेको तैयार नहीं हैं। यह सुन कर वाल्मीकिको बड़ी निराशा हुई। उन्होंने मनमें कहा—"ये सब लोग केवल अपने स्वार्थके साथी हैं; फिर मैं इनके लिए निरपराध प्राणियोंकी हत्याका पाप अपने सिरपर क्यों लूँ?" वे ऋषियोंके चरणों पर गिर पड़े और अपने उद्धार का उपाय पूछा। इसपर ऋषियोंने उन्हें 'राम-राम' जपनेको कहा, लेकिन उस समय वह इतने बुद्धि-हीन थे कि बार-बारकहने पर भी 'राम-राम' का उच्चारण नहीं कर पाये। ऋषिगण उन्हें उसी नामके रटनेका उपदेश देकर अपने-अपने स्थानको चले गये और वे भी 'राम-राम' के स्थान पर उल्टा नाम जपते हुए वहाँ निवास करने लगे।

हजारों वर्ष बीत जानेपर वही ऋषिगण फिर उधरसे निकले और अपनी अन्तर्दृष्टिसे उन्होंने उस स्थानको खोज निकाला जहाँ श्रीवाल्मीकि तपस्या कर रहे थे। हजारों वर्षोंसे एक स्थानपर समाधि लगाए बैठे रहनेके कारण उनका शरीर वामियों (दीमकोंका भीटा) से ढक गया था, अतः उनका "वाल्मीकि" यह नामकरण किया।

महर्षि वाल्मीकिके सम्बन्धमें श्रीतुलसीदासजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं—

उल्टा नाम जपत जग जाना। वालमीकि भये ब्रह्म समाना ॥१॥

और भी कहा है—

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविता-शाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम् ॥२॥

—कवितारूपी डालीपर बैठ कर 'राम-राम' के मधुर अक्षरोंका उच्चारण करते हुए वाल्मीकिरूपी कोयलको मैं नमस्कार करता हूँ।

श्रीवाल्मीकि ऋषिको संसार के 'आदि कवि' होनेका श्रेय प्राप्त है। कहते हैं, अपने ऋषि-जीवन में एक दिन इन्होंने देखा कि प्रेम-मग्न होकर विहार करते हुए सारस-पक्षीके जोड़ेमें-से एकको किसी व्याधने तीरसे मार दिया। अपने साथीको मारा हुआ देख कर दूसरा सारस बड़े करुण-स्वरसे चीखने लगा। यह दृश्य देखकर ऋषिके हृदयमें करुणाका स्रोत उमड़ आया और उनके मुखसे निम्न-लिखित छन्दोमयी वाणी फूट निकली—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

अरे व्याध! तूने काम-केलिमें मोहित सारसके जोड़ेमें-से एकको जो मार गिराया है, इस अपराधके कारण तू सैकड़ों वर्षों तक किसी प्रकारका गौरव प्राप्त नहीं कर सकेगा।
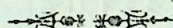
श्वपच वाल्मीकि

भक्ति-रस-बोधिनी

हुतो वाल्मीकि एक सुपच सुनाम, ताको श्याम लै प्रगट कियो भारथ में गाइए॥
पांडवन मध्य मुख्य धर्मपुत्र राजा, आप कीनो यज्ञ भारी रिषि आए भूमि छाइए॥
ताको अनुभाव सुभ शंख सो प्रभाव कहे, जो पै नहीं बाजे तो अपूरनता आइए।
सोई बात भई बहु बाज्यो नाँहि सोच परचो, पूछैं प्रभु पास "याकी न्यूनता बताइए" ॥७५॥

अर्थ—जातिके श्वपच (चांडाल) वाल्मीकि नामक भगवान्के परम-भक्त एक महात्मा थे। श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें कैसे प्रकट किया, यह कथा विस्तार-पूर्वक महाभारतमें वर्णित है।

पाँचों पाण्डवोंमें धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर सबसे बड़े थे। महाभारतका युद्ध समाप्त होने पर आपने अश्वमेध यज्ञ किया, जिसमें इतने ऋषि-मुनियोंने भाग लिया कि तिल-भर जगह भी खाली नहीं रही। यज्ञ सांगोपांग पूर्ण हुआ, इसको सूचित करने के लिए—अर्थात् यज्ञके प्रभावका परिचय देनेके लिए वहाँ एक शंख रख दिया गया था। यज्ञकी समाप्तिपर वह अपने आप बज उठता। यदि नहीं बजे, तो समझिए कि यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ—कोई कहीं त्रुटि रह गई।

ऐसा ही हुआ। वह शंख नहीं बजा और सब लोग यह देखकर चिन्तामें पड़ गए। यज्ञ में श्रीकृष्ण पाण्डवोंके सदा पास रहते थे। उनसे पूछा गया—"प्रभो! यज्ञमें क्या कसर रह गई जो शंख नहीं बजा?"

भक्ति-रस-बोधिनी

बोले कृष्णदेव याको सुनो सब भेव एपै नीके मान लेव बात दुरी समझाइये।
भागवत संत रसवंत कोऊ जैंयो नाँहि ऋषिन समूह भूमि चहूँ दिशि छाइये॥
जो पै कहो 'भक्त नाहीं', नाहीं कैसे कहौं, गहौं गांस एक और कुल जाति सो बहाइये।
दासनि को दास अभिमान को न बास कहूँ, पूरन की आस तो पै ऐसो लै जिंवाइये ॥७६॥

अर्थ—शंख न बजनेका कारण बतानेके उद्देश्यसे भगवान् बोले—"इस भीतरी भेदको सुनिये और सुनकर भली-भाँति उसे मान लीजिए—अर्थात् उसके अनुसार आचरण करिये। यह मैं तुम्हें एक रहस्यकी बात बता रहा हूँ। यज्ञकी पूर्णाहुतिके अवसरपर यद्यपि हजारों ऋषि-मुनियों ने भोजन किया—यहाँ तक कि चारों दिशाओं में वे छा-से गए, लेकिन किसी भी भगवान्के रसिक-भक्तने भोजन नहीं किया। यों तो कैसे कहूँ कि यज्ञमें आए हुए ऋषिगण मेरे भक्त नहीं हैं, पर फिर भी इन लोगों के बारेमें कहनेके लिए मेरे मनमें एक बात रह गई है (और वह यह कि ये सब ज्ञानी कहाने वाले ऋषि अपनेमें-से जाति, कुल तथा अपनी उच्चताका अभिमान नहीं निकाल सके हैं)। मेरा प्रिय भक्त तो मेरे दासों का दास बनकर रहता है और जाति-कुलके अभिमानको भक्ति की निर्मल धारामें बहा देता है। इन चीजों की गन्ध भी उसे नहीं सुहाती। यदि तुम्हें यज्ञको पूर्ण करनेकी अभिलाषा है, तो ऐसे किसी भक्तको भोजन कराओ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

ऐसो हरिदास पुर आस-पास दीसै नांहि, बास बिनु कोऊ लोक लोकनि में पाइये।
"तेरेई नगर माँझ निसि दिन भोर सांझ आवे जाय ऐपै काहू बात न जनाइये॥"
सुनि सब चौंकि परे, भाव अचरज भरे, हरे मन नैन "अजू! बेगि ही बताइये।
कहा नाव? कहाँ ठाव? जहाँ हम जाय देखैं, लेखैं करि भाग, धाय पाय लपटाइये॥" ॥७७॥

अर्थ—श्रीकृष्णका उपर्युक्त उत्तर सुनकर श्रीयुधिष्ठिर बोले—"इस प्रकारका हरि-भक्त हमारे नगरके आस-पास कोई नहीं दिखाई देता। (सच बात तो यह है कि) वासना (इच्छा) से रहित (अथवा अभिमानकी गन्धसे शून्य) भक्त तो इस लोक का तो कहना ही क्या, किसी लोकमें कदाचित् ही मिले।" तब श्रीकृष्णने कहा—"तुम्हारे ही नगरमें इस प्रकारके एक भक्त रहते हैं और दिन-रात, सुबह-शाम उनका यहाँ आना-जाना रहता है। फिर भी (आश्चर्य यह है कि)कोई उन्हें पहिचानता नहीं और न वेही अपने यथार्थ स्वरूपको दूसरोंके सम्मुख प्रकट करते हैं।" यह सुनते ही सब आश्चर्यमें पड़ गए और उनके हृदय तथा नेत्र उस सन्तके दर्शन करनेके लिये अधीर हो उठे। वे कहने लगे—"भगवन्! शीघ्र बताइए कि उनका नाम-धाम क्या है? ताकि हम लोग उनका दर्शनकर अपने भाग्यको सराहें और दौड़कर उनके चरणों में लिपट जायँ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

जिते मेरे दास कभूं चाहैं न प्रकास भयो, करौं जो प्रकास, मानैं महा दुखदाइये।
मोको परचो सोच यज्ञपूरन की लोच हिये लिये वाको नाम जिनि गाम तज जाइये॥
"ऐसौ तुम कहौ जामें रहो न्यारे प्यारे! सदा, हमहीं लिवाइ ल्याइ नीके कै जिवाइये॥"
"जावो 'बालमीक' घर बड़ो अवलोक साधु, कियो अपराध हम दियो जो बताइये" ॥७८॥

अर्थ—श्रीकृष्णचन्द्रने तब पाण्डवोंसे कहा—"इस संसारमें जितने मेरे दास हैं, वे

कभी अपने आपको प्रकट करना नहीं चाहते और यदि मैं उन्हें प्रकाशमें लाता हूँ, तो उन्हें अत्यन्त कष्ट होता है। अब मैं बड़े धर्म-संकटमें पड़ गया हूँ; क्योंकि एक ओर तुम्हारे यज्ञको पूर्ण हुआ देखना चाहता हूँ और उधर मुझे इसका डर है कि मेरे बतानेसे कहीं वे नगर छोड़कर बाहर न चले जायँ।"

इसपर श्रीयुधिष्ठिरने कहा—"आप ऐसी तरह से बताइये कि आप तो अलग ही रहें और हम उन्हें जाकर अपने साथ ले आवें और अच्छी तरह भोजन करादें।" भगवान् बोले—"वाल्मीकिके घर चले जाओ; वे बड़े सच्चे साधु हैं। लेकिन हमने किया यह भी अपराध ही कि उनका परिचय आपको दे दिया।"

भक्ति-रस-बोधिनी

अर्जुन औ भीमसेन चलेई निमंत्रन को, अन्तर उघारि कही भक्तिभाव दूर है।
पहुँचे भवन जाय, चहुँ दिशि फिरि आइ, परे भूमि झूमि, घर देख्यो छबिपूर है॥
आए नृपराजनि को देखि, तजे काजनि को, लाजन सौं काँपि-काँपि भयो मन चूर है।
पायन को धारिये जू, जूठन ले डारिये जू, पापग्रह टारिये जू कीजे भाग भूर है॥७९॥

अर्थ—अर्जुन और भीमसेन जब वाल्मीकिके घर जानेको उद्यत हो गए, तब भगवान्ने उन्हें सावधान करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा—"देखो जा तो रहे हो, पर भक्तिकी भावना बड़ी टेढ़ी खीर है; (ऐसा न हो कि कोई विकार मनमें आ जाय, नहीं तो इतनेसे ही भक्ति दूषित हो जायगी।)

श्रीकृष्णके बताये हुए पतेपर दोनों चारों ओर घूम-घामकर वाल्मीकिके घरके सामने आए और उन्हें देखते ही प्रेमसे झूमते हुए भूमिकी ओर झुककर प्रणाम किया। अन्दर जाकर देखा, तो घरको बड़ा सुन्दर और स्वच्छ पाया। वाल्मीकिजीने जब राजाधिराजके भाइयोंको अपने घर पर आया हुआ देखा, तो सब काम छोड़ दिये और लज्जा एवं संकोचसे काँपते हुए एकदम शिथिल होगये। अर्जुनने तब प्रार्थना की—भगवन्! हमारे घर पधारिये और अपना उच्छिष्ट अन्न वहाँकी भूमिपर पटक कर हमारे अनर्थोंको दूर कीजिए, जिससे हम सब अपनेको भाग्यशाली मानें।"

भक्ति-रस-बोधिनी

"जूठनि लैं डारौं, सदा द्वार को बुहारौं, नहीं और को निहारौं अजू! यही साँचो पन है।"
"कहो कहा?" जैंवो कछु पाछे लै जिवावो हमें जानी गई रीति भक्तिभाव तुम तन है॥
तब तो लजानौ, हिये कृष्ण पं रिसानौ, नृप चाहौ सोई ठानौ, मेरे संग कोऊ जन है।
भोर ही पधारो अब यही उर धारौ और भूलि न बिचारौ कही भली जोपै मन है॥८०॥

अर्थ—वाल्मीकिजीने जब पाण्डवोंको अपनी प्रशंसा करते हुए सुना, तो कहने लगे—"अजी! मैं तो सदासे आप लोगों की जूठन उठाता रहा हूँ और आपके दरवाजे

पर झाड़ू लगाता रहा हूँ। मैं और किसीकी तरफ दृष्टि उठाकर भी नहीं देखता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है।"

अर्जुनने चकित होकर कहा—"महात्माजी! आप यह कह क्या रहे हैं? चलिए, पहले भोजन करिये और तदुपरान्त हमें अपने हाथों से भोजन कराइए। हमसे आपके सम्बन्धकी कोई बात अब छिपी नहीं है। हमें मालूम है कि आपके शरीरमें भगवान्की भक्तिका पूरी तरह निवास है।"

वाल्मीकि यह सब सुनकर बड़े लज्जित हुए और मन ही मन श्रीकृष्णचन्द्र पर खीझने लगे कि मुझे प्रकट कर अच्छा नहीं किया। फिर वे बोले—"आप लोग राजा हैं—सब प्रकारसे समर्थ हैं; मेरा तो कोई सहायक भी नहीं कि मैं आपकी बात को टाल सकूँ।"

अर्जुन बोले—"छोड़िये इन सब बातोंको। कृपा कर कल प्रातःकाल होते ही हमारे घर को पवित्र कीजिये। अपने मनमें आप यही सोचिये कि हमें इनके यहाँ जाना हैं; और किसी प्रकारके ऊहापोहकी आवश्यकता नहीं।"

इस पर वाल्मीकिजीने कहा—"यदि आप लोगोंकी यही इच्छा हैं, तो ऐसा ही सही।"

भक्ति-रस-बोधिनी

कही सब रीति, सुनि धर्मपुत्र प्रीति भई, करी लै रसोई, कृष्ण द्रौपदी सिखाई है।
"जेतिक प्रकार सब व्यंजन सुधारि करो, आजु तेरे हाथनि की होति सफलाई है॥"
ल्याये जा लिवाय, कहै 'बाहिर जिमाइ देवो', कही प्रभु 'आपु ल्यावो अंकभरि भाई है।'
आनि कै बैठायो पाकशाल में रसाल ग्रास लेत, बाज्यो शंख, हरि दण्डकी लगाई है॥८१॥

अर्थ—भीमसेन और अर्जुनने लौट कर जब वाल्मीकिकी भक्तिके स्वरूपका (अथवा उनकी अभिमान-रहित-वृत्तिका) वर्णन किया, तो सुनते ही धर्मराज श्रीयुधिष्ठिरके मनमें वाल्मीकिके प्रति प्रेम उमड़ आया। इसके अनन्तर जब द्रौपदी रसोई बनाने लगीं, तो श्रीकृष्णने निर्देशन करते हुए कहा—"तुम्हारे हाथोंकी सफलता आज इसीमें है कि जितने भी प्रकारके व्यंजन बनाना तुम्हें आता है, सबको भलीभाँति बनाओ।" (भोजन तैयार होने पर) स्वयं युधिष्ठिर वाल्मीकि को घरसे अपने साथ ले आये। वाल्मीकिजीने कहा—"मुझे बाहर ही भोजन करा दीजिए।" परन्तु श्रीकृष्णचन्द्रने।" नहीं माना। उन्होंने अन्दर रसोई-घरमें उन्हें बिठाया और ज्योंही प्रेमसे परोसे गए भोजनका मधुर-ग्रास वाल्मीकिजीने मुँहमें डाला, त्योंही शंख बज उठा। श्रीकृष्णने जब देखा कि शंख बजा तो सही, पर ठीक-ठीक नहीं, तो उन्होंने एक छड़ी उसमें जमा दी।

भक्ति-रस-बोधिनी

"सीत सीत प्रति क्यों न बाज्यो ? कछु लाज्यो कहा ? भक्तिको प्रभाव तैं न जानत यों जानिये ।
बोल्यो अकुलाय–"जाय पूछिये जू द्रौपदी कों, मेरो दोष नाहिं, यह आपु मन आनिये ।।"
मानी साँच बात "जाति-बुद्धि आई देखि याहि, सब ही मिलाई मेरी चातुरी बिहानिये ।"
पूछे ते, कही है वाल्मीकि " मैं मिलायो यातें आदि प्रभु पायो पाउँ स्वाद उनमानिये" ।।८२।।

अर्थ–प्रभु श्रीकृष्णने शंखसे पूछा–"बताओ, तुम प्रत्येक सीथ पर ठीक-ठीक क्यों नहीं बजे ? क्या तुम्हें लज्जा आ गई ? मुझे तो ऐसा लगता है कि तू पाण्डवोंकी भक्ति के प्रभावको नहीं जानता ।" इस पर शंख घबड़ाकर बोला–"मेरे ठीक-ठीक न बजनेका कारण द्रौपदीजीसे पूछिए; लेकिन यह बिना सन्देहके मान लीजिये कि मेरा तनिक भी दोष नहीं है ।" द्रौपदीजीसे जब पूछा गया, तो उन्होंने कहा–"शंख सत्य कहता है । बात यह है कि मैंने जब सब पकवानोंको एक-साथ मिलाकर खाते हुए देखा, तो मेरे मनमें यह भाव उठा कि जिस जाति में यह पैदा हुए हैं, वह व्यञ्जनोंका सम्मान करना क्या जाने ? यह तो मेरी पाक-विद्याका अपमान है !" प्रभुने वाल्मीकिजीसे जब सब पदार्थोंको इस प्रकार मिलाकर खानेका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा–"इन सब पदार्थों का भोग आप पहले ही लगा चुके हैं । अब आप ही अनुमान लगा लीजिए कि उन्हें मैं स्वादकी दृष्टिसे पृथक्-पृथक् कैसे खा सकता हूँ ? ऐसा करनेसे तो भोजनमें प्रसाद-बुद्धि नष्ट हो जाती ।"

—कवित्त-संख्या ७५ से लेकर ८२ तक में श्रीप्रियादासजीने श्रीवाल्मीकिके चरितका विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है । ऐसा करनेमें उनका प्रधान उद्देश्य यह दिखाना है कि भगवान्‌के प्रति हीनताकी भावना रखकर कोई यज्ञ–लौकिक अथवा पारमार्थिक–पूरा नहीं होता । भक्तोंकी कोई जाति-बिरादरी नहीं होती । कहा भी है—"जात-पांति पूछे नहीं कोई, हरिको भजे सो हरि को होई ।" राजा मोरध्वज के राज्य में तो—-

अन्त्यजा अपि तद्राष्ट्रे शङ्ख-चक्रैकधारिणः । संप्राप्य वैष्णवीं दीक्षां दीक्षिता इव संबभुः ।।

—अन्त्यज (अछूत जातिके) लोग भी शंख, चक्र धारण करते थे और वैष्णवी-दीक्षा पाकर ऐसे सदाचारी होगए थे, जैसे वैदिक दीक्षासे युक्त उच्च वर्णके लोग ।

इसी आशयको प्रकट करनेके लिए किसीने कहा है—

अन्त्यज विमुख द्विजन ते नीको ।
जिहि साधी सेवा साधुन की, सावधान सब जीको ।।
यद्यपि जड़ मलीन पामर अति, जाति बरन कुल फीको ।
पै हरि भजन प्रभाव भाव तैं, भये बंश मधि टीको ।।

× × × ×

उत्तम कुल मलीन अन्तरगत ज्यों सुभाव केकी को ।
वचन स्वरूप मधुर नर्तन छबि असन भुजग भुजगी को ।।
बंदनीय यशवत बहुत बिधि साधु सुपच सुपची को ।

लागत मुख हरि विमुख विप्र को दुखप्रद ज्यों घटवी को ।।
दुर्लभ नर सरीर सुभ तामें यह निरधारि सही को ।
रहन प्रधान जात-कुल सों कछु काज सरै नाँहि नीको ।।

शंख-चरित्रको श्रीनामदेवजीने भी अपने सीधे-सादे ढङ्गसे अनोखा ही लिखा है—

आशंका उपजी इक मनमें, अर्जुन कहेउ कृष्ण सों छिन में ।
कोटिन जज्ञ बिराम्हन जैंये, पूरन नहीं सु कोने भेये ?

श्रीकृष्णके कारण बता देने पर पाण्डव कहते हैं—

प्रभु हम ऊँच, ऊँच कुल पूजैं हम जान्यो यह निर्बल भाय ।
इन हूँ सों कोउ निर्मल ह्वै है तौ हम भूले देहु बताय ।।

श्रीकृष्ण कहते हैं—

वालमीकि है जाति सरगरो, जाके राजा आये धाइ ।
बाजे ये, जग पूरो ह्वै है, मनसा पूरन काम सँवारि ।।

इसके उपरान्त—

अर्जुन भीम नकुल सहदेवा राजा सहित सु पहुँचे जाइ ।
करि दंडवत चरन गहि लीने वालमीकि के लागे पाइ ।।

इस पर श्रीवालमीकिजी कहते हैं—

तुम तो ऊँच, ऊँच कुल जनमे, हम तो नीच महा कुल माँहिं ।
ऊँच-नीच की शंका अवै, तात तिहारे आवैं नाँहि ।।

पाण्डवोंने कहा—

तुम तो या जग सकल सिरोमनि, तुम सम तूल और नाँहि कोई ।
कृपा करौ अरु भवन पधारौ, तुम्हैं चले यज्ञ पूरन होई ।।

इसके बाद घटना आगे चलती है—

जब वालमीकि राजाके आयो, प्रेमप्रीति सों लियो अहार ।
जितने ग्रास जेंवते लीने, शंख जु बाज्यो तितनी बार ।।
भूधर कहैं हाथ सों भाजों, खंड-खंड करिहौं चकचूर ।
हमरो साधु जेंवते ग्रास जु, कणि-कणि काहे न बाज्यो कूर ?
देव-देव ! मोहि दोष न दीजै, दोष जु कोई द्रोपदी माँहि ।
ऊँच-नीच की संका आई याते कण-कण बाज्यो नाँहि ।।
परख्या साधु पारखा आई, जग में न्योंति जिमायो सोई ।
जा जैये जग पूरन हूवो, नामदेव कहैं सिरोमनि सोई ।।

भक्तमाल के टीकाकारोंने इस प्रसंगको बहुत ही रचपच कर लिखा है और पग-पग पर दृष्टान्त देकर कथानकको अत्यन्त सरस और शिक्षाप्रद बनानेका प्रयत्न किया है । इनमें से यहाँ केवल दो दृष्टान्त दिए जाते हैं—

कवित्त, संख्या ७७ में श्रीप्रियादासजीने श्रीकृष्णके मुँहसे वालमीकिजीके स्वभावके बारेमें कहलवाया है—'काहू बात न जनाइए ।' अर्थात्—बातें करके वे अपनेको प्रकट नहीं करते हैं । इस पर दृष्टान्त है—

पुत्रकी कामना रखनेवाले किसी राजाको सौभाग्यसे एक सिद्धके साथ भेंट हो गई । राजाने सिद्धजी का अत्यन्त आदर-सम्मान किया और अन्तमें हाथ जोड़कर बोले—"भगवन् ! मेरे कोई पुत्र

नहीं है, सो आप मुझे पुत्रका वरदान दीजिए।" सिद्धने कहा—"राजन्! सच बात तो यह है कि तुम्हारे प्रारब्धमें पुत्र-सुख लिखा ही नहीं है, पर यदि तुम्हारा अत्यन्त आग्रह है, तो मैं स्वयं पुत्रके रूपमें तुम्हारे यहाँ प्रकट हो सकता हूँ।" यह कह कर सिद्ध चले गए। कुछ समय बाद उन्होंने अपना शरीर त्याग दिया और रानीके गर्भमें आ गए। समय आनेपर जब राजाके पुत्र हुआ, तो उसके हर्षकी सीमा न रही, यहाँ तक कि वह यह भी भूल गया कि कोई सिद्ध मिला था और यह उन्हींका प्रसाद है। धीरे-धीरे लड़का बड़ा हुआ, लेकिन सब प्रकारसे सुन्दर और स्वस्थ होते हुए भी वह बोलता न था। राजाने समझ लिया कि लड़का गूँगा है।

एक दिन राजा शिकार खेलने गये और साथमें अपने पुत्रको भी तमाशा दिखानेके लिए ले गये। संयोगसे लड़का सेवकोंके साथ आगे निकल गया। रास्तेमें एक तीतर बोल रहा था। उसे देखते ही राजपुत्र के मुँहसे निकल पड़ा—"बोला कि मरा!" तीतरको सेवकोंने उसी समय तीरसे मार गिराया और फिर राजा साहिबको शुभ समाचार सुनाया कि कुँवर साहब बोलने लगे हैं। राजा ने अपने पुत्रका अब विवाह कर दिया और उसमें बहुत धन खर्च किया। लेकिन राजपुत्र फिर ज्यों-का-त्यों हो गया। इसपर राजाने उस सेवकको बुलाया और कहा कि तुमने झूठ बोलकर हमारा खर्चा करा दिया; कुंवरजी तो बोलते ही नहीं है। इस अपराधका तुम्हें दण्ड भोगना होगा। कुँवरने उसी समय अचानक कहा—"बोला कि मरा!" राजाने इसका मतलब पूछा, तो कुँवरने कहा—"मैंने तुम्हें वरदान देकर अपने लिए एक सङ्कट खड़ा कर लिया। न मैं वर देनेके लिए कुछ बोलता और न मुझे पुत्रके रूपमें तुम्हारे घरमें आना पड़ता। यह सब बोलनेके ही कारण हुआ है; क्योंकि तीतर बोला सो मारा गया और आपका यह सेवक आपको समाचार देनेके लिए बोला, इसीलिए इसको भी दण्ड भोगना पड़ेगा। सारांश यह है कि साधुओंको बोलकर अपनी असलियत नहीं प्रकट करनी चाहिए। साधुका कल्याण तो अपनेको संसारसे गुप्त रखनेमें ही है।"

(२) कवित्त-संख्या ७९ में टीकाकार कहते हैं—"तजे काजनि को।" अर्थात् पाण्डवोंको अपने घरपर आया देख कर श्रीवाल्मीकिजी काम-काज छोड़ कर जैसे अपने असली स्वरूपमें थे, वैसे ही चले आये। भावार्थ यह है कि भक्तकी पहिचान उसका स्वरूप है। इसपर दृष्टान्त—

किसी समय वृन्दावनमें एक श्वपची रहती थी; नाम था वृजो। श्रीगोविन्ददेवजीकी कुन्ज की वह टहल किया करती। उसका यह नित्यका नियम था कि अपना काम समाप्त करनेके उपरान्त वह नहा-धोकर, उज्ज्वल वस्त्र तथा कण्ठी-तिलक धारणकर एकान्तमें भगवान्की उपासना किया करती थी। एक दिन वह जल भरनेके लिए यमुनाजी गई। वहीं पासमें एक ब्राह्मणी भी जल भर रही थी। वृजोने उससे कहा—"जरा ठहर जाओ; कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे छींटे मेरे घड़ेको अपवित्र कर दें।" यह सुन कर ब्राह्मणी क्रोधसे पागल हो गई। बोली—"मैं क्या तुमसे भी ज्यादा नीच हूँ?" वृजोने बहुत समझाया कि मैं ठाकुरजीकी पूजाके लिए जल भर रही हूँ, इसलिए मैंने ऐसा कहा, पर ब्राह्मणीकी समझ में न आया और उसने घर पहुँच कर अपने पतिसे सारा हाल कह सुनाया। मामला अब राज-दरबारमें पहुँचा। राजा ने वृजोसे कहा—"ब्राह्मणकी अपेक्षा तुम नीच जातिकी हो, अतः तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए थी।" वृजोने उत्तर दिया—"सरकार! वृन्दावनमें ऊँच-नीचका भेद नहीं मानना चाहिये; क्योंकि यहाँ तो सब भागवत रहते हैं। भागवतोंकी एक ही जाति होती है।"

राजाने उस दिन कोई निर्णय नहीं दिया। कह दिया कि और किसी दिन तुम लोगों की पेशी होगी। दूसरे दिन उसने कर्मचारियोंको हुक्म दिया कि दोनों फरीकोंको जिस हालतमें हों, फौरन अदालतमें हाजिर किया जाय। आज्ञानुसार दोनों अदालतमें लाई गईं। राजाने देखा कि दोनों

स्त्रियोंमें से एक स्वच्छ वस्त्र पहिने हुए है, गलेमें कण्ठी है और माथेपर चन्दन लगा है तथा दूसरी फटे-मैले कपड़े पहिने है। उसके हाथ-पैर गन्दे हैं और सारे शरीरसे दुर्गन्ध आरही है। अदालतमें उपस्थित लोगोंसे राजाने कहा—"पहिचानिये इनमें कौन ब्राह्मणी है और कौन श्वपच जाती की?" इसपर ब्राह्मणीके घर वाले बहुत ही लज्जित हुए और उलटे पैरों चुपचाप घरको लौट गए।

श्रीप्राचीनबर्हिजी

श्रीप्राचीनबर्हि आदिराज पृथुके वंशमें उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम हविर्धान था। इनके गय, शुक्ल, कृष्ण, सत्य, जितव्रत—ये पाँच भाई और थे। प्रजापति ब्रह्माकी आज्ञासे प्राचीनबर्हिने देवता, असुर, गन्धर्व, मुनि, सिद्ध, मनुष्य और नाग सभीको वशमें करके समुद्र की पुत्री परमसुन्दरी शतद्रुतिसे विबाह किया।

महाराज प्राचीनबर्हि यज्ञादि कर्म-काण्ड और योगाभ्यास में परम कुशल थे। उन्होंने विभिन्न स्थानोंपर अनेक यज्ञ किए। उनके यज्ञकी कुशाओंसे सम्पूर्ण पृथ्वी आच्छादित हो गई। हजारों पशुओंको बलि चढ़ा दिया गया। यह देख परम कृपालु, आध्यात्मविद्या-विशारद श्रीनारदजी ने आकर उनसे कहा—"राजन्! यज्ञादि कर्मों द्वारा तुम अपना कौन-सा कल्याण करना चाहते हो? दुःखके नाश और आनन्दकी प्राप्तिका नाम कल्याण है और वह कल्याण कर्मोंके ग्रहणसे नहीं, त्यागसे सम्भव है।"

प्राचीनबर्हिने श्रीनारदकी बात मान ली और जन्म-बन्धनके चक्र से छूटनेके लिए विशुद्ध ज्ञान और भक्तिके उपदेशके लिए आग्रह किया। नारदजीने कहा—"देखो, राजन्! तुमने यज्ञ में निर्दयता-पूर्वक जिन हजारों पशुओंकी बलि दी है, वे आकाशमें स्थित तुम्हारे द्वारा दी गई पीड़ाओंको याद कर-करके तुमसे बदला लेनेकी भावनासे तुम्हारी ओर देख रहे हैं। जब तुम मर कर परलोकमें जाओगे, तब ये अत्यन्त क्रोधमें भरकर तुम्हें अपने लोहेके सींगोंसे छेदेंगे।"

इतना कहकर नारदजीने पुरञ्जन राजाके आख्यान द्वारा उसे ब्रह्म, जीव, माया, संसार, कर्म-बन्धन, इन्द्रिय-सुख-भोग आदिके सच्चे स्वरूपको भली-भाँति समझाया। राजा पुरञ्जनका यह आख्यान श्रीमद्भागवतके स्कन्ध चारमें पच्चीस अध्याय से उनत्तीस अध्याय तक सविस्तार वर्णित है।

नारदजी प्राचीनबर्हिको जीव और ब्रह्मके स्वरूपका दिग्दर्शन कराकर उनसे भली प्रकार सत्कृत हो सिद्ध-लोकको चले गए। तदनन्तर महाराज प्राचीनबर्हि भी प्रजापालनका भार अपने पुत्रोंपर छोड़कर कपिलाश्रमको चले गए। वहाँ समस्त

विषयासक्ति से पराङ्मुख होकर निष्कर्म भावसे श्रीहरिके चरणकमलोंका भक्ति-पूर्वक चिन्तन करते हुए सारूप्य-पदको प्राप्त हुए ।

श्रीसत्यव्रतजी

श्रीसत्यव्रतजी द्रविड देशके राजा थे । वे अत्यन्त उदार और भगवत्परायण तपस्वी थे । एक बार वे कृतमाला नदीके जलसे तर्पण कर रहे थे । उसी समय उनकी अञ्जलिके जलमें एक छोटी-सी मछली आ गई । राजा सत्यव्रतने अञ्जलिमें आई मछलीको फिरसे नदीमें डाल दिया । उस मछलीने बड़ी करुणाके साथ सत्यव्रतसे कहा—"राजन् ! आप बड़े तपस्वी और दयालु हैं । आपको पता है कि पानीमें रहनेवाले जन्तु अपनी जातिवालोंको ही खा डालते हैं । मुझे भी इसीलिए इस नदीमें रहनेमें बड़ा भय है । कृपा करके आप मुझे इससे बाहर निकाल दीजिए ।"

राजा सत्यव्रतको दया आगई । उन्हें क्या पता था कि सर्वलोक-नियन्ता भगवान् विष्णु ही उनके ऊपर कृपा करनेको इस रूपमें आए हैं । उन्होंने मछलीको अपने जल-पात्रमें रख लिया और उसे आश्रममें ले आए । दूसरे ही दिन वह मछली इतनी बड़ी हो गई कि कमण्डलुमें उसके लिए स्थान ही न रहा । उस समय मछलीने राजासे कहा—"महाराज ! अब तो इस पात्रमें मैं किसी प्रकार भी नहीं रह सकती । कृपा करके मेरे लिए एक बड़ा-सा स्थान नियत कर दीजिए ।"

राजाने उस मछलीको उठाकर एक बड़े मटकेमें डाल दिया । वहाँ डालने पर वह मछली दो ही घड़ीमें तीन हाथ बढ़ गई । तब राजाने उस मछलीको उठा कर एक सुन्दर सरोवरमें डाल दिया । कुछ समयमें ही मछलीका आकार इतना बढ़ गया कि सरोवरमें भी अब और स्थान शेष न रहा । मत्स्यने फिर राजासे कहा—'मुझे किसी बड़े अगाध जलाशयमें शरण दीजिए ।'

इस प्रकार राजाने सैकड़ों तालाब बदल दिए । तालाबके ही अनुसार मछलीके शरीरका विस्तार होता गया । अब राजाको बड़ी चिन्ता हुई । उन्होंने उठाकर मछलीको फिर समुद्रमें छोड़ना चाहा तो मछलीने कहा—"वीर ! समुद्रमें बड़े-बड़े मगर आदि जल-जन्तु रहते हैं । आप कृपया मुझे किसी दूसरे स्थान पर रख दीजिए ।"

मत्स्य-भगवान्की ऐसी बात सुनकर और थोड़ेसे समयमें ही उनके इस आश्चर्य-जनक विस्तारको देख राजा पहिचान गए कि ये तो सर्वशक्तिमान भगवान् विष्णु हैं । उन्होंने अनेक प्रकारसे मत्स्य-भगवान्की स्तुति करते हुए कहा—"जीवों पर अनुग्रह

करनेके लिए ही आपने जल-चरका रूप धारण किया है । हे पुरुषोत्तम ! आप जगत्‌की उत्पत्ति, पालन और प्रलयके अधिकारी हैं । हम शरणागत भक्तोंके लिए आप ही आत्मा और आश्रय हैं । यद्यपि आपके सभी लीलावतार प्राणियोंके अभ्युदयके लिए ही होते हैं, तथापि मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने यह रूप किस उद्देश्यसे ग्रहण किया है ।"

मत्स्य-भगवानने कहा—"आजसे सातवें दिन तीनों लोक समुद्रमें विलीन हो जायेंगे । उस समय जब तीनों लोक प्रलयकालकी जल-राशिमें डूबने लगेंगे, तब मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पासमें एक विशाल नौका आयेगी । उस समय तुम समस्त प्राणियोंके सूक्ष्म शरीरको लेकर उस नौका पर चढ़ जाना और धान्य तथा अन्य सभी प्रकारके बीजोंको भी साथमें रख लेना । उस समय न तो किसी भी स्थानपर स्थल दिखाई देगा और न प्रकाशकी किरण ही; केवल ऋषियोंकी दिव्य-ज्योतिके सहारे ही तुम महा-सागरमें विचरण करना । जब प्रचण्ड आँधी चलनेके कारण नाव डगमगाने लगेगी तब मैं इसी रूपमें वहाँ आ जाऊँगा और तुम लोग वासुकि-नागके द्वारा उस नाव को मेरे सींगमें बाँध देना । इसके बाद मैं उस नावको खींचता चलूँगा और तुम जब तक ब्रह्माजी की रात समाप्त न हो तब तक उसमें बैठकर विचरण करना । तब तुम्हारे द्वारा प्रश्न पूछने पर मैं तुम्हें उपदेश करूँगा । तब मेरी कृपासे तुम्हारे हृदयमें मेरी वास्तविक महिमा (परब्रह्म) प्रकट होगी ।"

इसके बाद भगवान् अन्तर्धान होगए और निश्चित समय पर ऐसा ही हुआ जैसा राजा सत्यव्रतको बतलाया गया था । राजाने भगवान्‌के आदेशानुसार समस्त बीजोंको नौकामें रखा और सप्त-ऋषियोंके साथ स्वयं भी उसपर चढ़ गया । भगवान् मछलीके स्वरूपसे प्रलयकालके अन्त तक उस नौकाकी रक्षा करते रहे और उसी समय राजा सत्यव्रतको परब्रह्मका ज्ञान भी करा दिया । प्रलयान्तमें उन्होंने हयग्रीव नामके असुरका वध किया और उससे लेकर चारों वेद ब्रह्माजीको दे दिए ।

इस कल्प में भगवान्‌की कृपासे ज्ञान-विज्ञानसे युक्त सत्यव्रत वैवस्वत मनु हुए और उन्होंने ही सृष्टिका विस्तार किया । धन्य हैं सत्यव्रत जैसे राजर्षि जो अपने पुण्य-कर्म और भक्ति-भावना के कारण भगवान्‌की अहैतुकी कृपाके अधिकारी बनते हैं ।

—✱—

श्रीमिथिलेशजी—इनका विस्तृत वर्णन श्रीनाभास्वामीजी आगे करेंगे ।

श्रीनीलध्वजजी

यह माहिष्मतीके रहने वाले एक प्रसिद्ध राजा थे । एक बार उनके पुत्र प्रवीर ने अर्जुनके यज्ञके घोड़ेको बाँध लिया, लेकिन युद्ध होने पर पराजित हो गया । भाग कर

प्रवीर अपने पिता के पास पहुँचा। पिताने अपने स्वामी अग्निदेवसे सहायता माँगी और फिर दोनों ओरकी सेनाओंमें घोर संग्राम छिड़ गया। कहते हैं, अग्निने जब अपने प्रभावसे अर्जुन पक्षकी बहुत-सी सेनाका विध्वंस कर दिया, तब अर्जुनने ब्रह्मास्त्र चलाया, लेकिन वह सफल नहीं हुआ। इसके अनन्तर श्रीकृष्णके कहने पर अर्जुनने वैष्णवास्त्र चलाया, जिसके प्रभावसे प्रवीरकी सेना छिन्न-भिन्न होकर भाग खड़ी हुई और अग्निदेव भी अपनी जान लेकर संग्राम-भूमिको छोड़ गये। श्रीनीलध्वजको जब भगवान्‌की शक्तिका ज्ञान हुआ, तो उन्होंने अर्जुनको घोड़ा लौटा दिया और प्रद्युम्नजी की कृपासे हरि-भक्तिका लाभ कर वैकुण्ठधामको चले गए।

श्रीरहूगणजी

श्रीरहूगणजी सौबीर देशके राजा थे। एक बार वे श्रीकपिलदेवजीसे ज्ञानोपदेश ग्रहण करनेके लिए पालकीमें बैठ कर जा रहे थे। जब वे इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचे तो राजाकी पालकी उठानेके लिए कहारोंके जमादारको एक पालकी-वाहककी आवश्यकता पड़ी। जब उसने चारों ओर तलाश किया तो दैवयोगसे एक हृष्ट-पुष्ट शरीर वाले ब्राह्मण-देवता दिखाई दिए। उन गठीले अङ्गवाले ब्राह्मण-कुमारको बल-पूर्वक पकड़कर पालकीके नीचे लगा दिया गया। ये महाराज सदा भगवद्ध्यानमें तल्लीन रहनेवाले श्रीभरतजी थे। वे चुपचाप पालकीको उठा कर चल दिए।

रास्तेमें चींटी आदि छोटे-छोटे जीव-जन्तु रेंग रहे थे। श्रीभरत पालकीको ले जाते समय इस बातका भी ध्यान रखते थे कि कहीं ये असहाय जीव मर न जायँ। इसलिए पालकी टेढ़ी सीधी होने लगी। यह देखकर राजा रहूगण उनसे व्यंगपूर्ण वाणी में बोले—"मेरे भैया! ऐसा लगता है कि अकेले ही बहुत दूरसे इस पालकीको ढोनेके कारण तुम बहुत थक गए हो; क्योंकि तुम बहुत दुर्बल हो और बुढ़ापेके कारण तुम्हारा शरीर काम नहीं देता।"

इसके उत्तरमें जड़ भरतने ऐसा ज्ञानपूर्ण उत्तर दिया कि राजाकी आँखें खुल गईं। उनका मोह-जन्य अज्ञान जाता रहा और समझ गया कि ये सामान्य पालकी-वाहक नहीं हो सकते, ये तो कोई ऊँचे ब्रह्म-ज्ञानी हैं। इसके बाद राजा उनके चरणों पर गिर पड़े और उनसे क्षमा माँगी। जड़ भरतने राजाके पूछने पर उन्हें ज्ञानोपदेश दिया। उस परमात्मतत्त्वके श्रवणसे उनके अन्तःकरणमें अविद्यावश आरोपित देहात्म-बुद्धिका विनाश हो गया।

राजा रहूगणने दिव्य-ज्ञानको धारण करनेके बाद आदर-पूर्वक जड़ भरतका सत्कार किया, स्तुति की और परम महात्मा - प्रकृतिके होकर अपनेराज-गृहमें लौट आए। वहाँ पर वे मायाजन्य ममत्वको त्याग कर परमानन्द-मूर्ति भगवान् श्रीहरिके ध्यान और स्मरण में लग गए।

महाराज सगरजी

श्रीसगरके पिताका नाम बाहुक था। एकबार बाहुकसे उनके शत्रुओंने राज्य छीन लिया। वे पत्नी-सहित बनमें जाकर रहने लगे। वृद्धावस्था आने पर जब बाहुक का प्राणान्त हो गया तो उनकी पत्नी भी पतिके साथ सती होनेको तैयार हुई, परन्तु महर्षि और्वको यह ज्ञात था कि इसके गर्भ है। इसलिए उन्होंने उसे सती होनेसे रोक दिया। जब उसकी सौतोंको यह मालूम हुआ तो उन्होंने भोजनके साथ उसे गर (विष) दे दिया। उस विषका गर्भ पर कोई असर न पड़ा, बल्कि उस विषको लिए हुए ही एक बालकका जन्म हुआ। इसीलिए गर (विष) के साथ पैदा होनेके कारण उसका नाम सगर पड़ गया।

सगर महाप्रतापी राजा थे। इनके दो रानियाँ थीं—केशिनी और सुमति। केशिनीसे एक पुत्र असमञ्जस पैदा हुआ और सुमतिसे साठ हजार पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई। महाराज सगरने अपने राज्यमें रहनेवाले तालजङ्घ, यवन, शक, हैहय आदि बर्बर जातिके लोगोंको अपनी राजसत्ताके अधीन किया और उन्हें अनेकों प्रकारके शारीरिक दण्ड दिए।

राजा सगरने अपने गुरु और्व ऋषिकी आज्ञासे अश्वमेध-यज्ञके द्वारा वेदमय परमात्मस्वरूप सर्वशक्तिमान् भगवान्की आराधना की। जब यज्ञका घोड़ा छोड़ा गया तो इन्द्र उसे चुरा ले गया। घोड़ेको न देख कर यज्ञके अपूर्ण रहनेके भयसे सगरके पुत्रोंको बड़ी भारी चिन्ता हुई। उन्होंने आकाश-पाताल छान डाला। धरतीको खोद कर उसके गर्भमें घोड़ेको तलाश किया। अन्तमें जब वे उसे ढूँढ़ते हुए कपिल-मुनिके आश्रम पर गए, तो उन्हें अपना यज्ञका घोड़ा उनके पास खड़ा हुआ दिखाई दिया। मुनि समाधिस्थ थे। सगर-सुतोंने समझा कि यह घोड़ेको चुराकर ले आया है और अब हम लोगोंके भयसे आँख बन्दकर ढोंग दिखाने लगा है। वे शस्त्र हाथमें लेकर 'चोर! चोर!! यही है हमारे घोड़ेको चुरानेवाला पापी! मार दो इसे अभी! इसका मस्तक

अलग कर दो !' इस प्रकार कहते हुए आगे बढ़े। श्रीकपिल-मुनिकी समाधिमें व्यवधान उपस्थित हुआ। उन्होंने अपने पलक उठाए तो साठ हजार सगरके पुत्रोंमें से कोई भी जीवित न बचा—सभी मुनिकी तपस्याके तेजमें जलकर राख हो गए।

इसके बाद राजा सगरकी आज्ञासे असमञ्जसके पुत्र अंशुमान घोड़े को ढूँढ़ने निकले। वे इधर-उधर उसे तलाश करते हुए कपिल-मुनिके आश्रम पर आए तो देखा कि यज्ञके घोड़ेके पास ही उसके चाचाओंका शरीर राख हुआ पड़ा है। अंशुमानने कपिल-मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया और हाथ जोड़कर अनेक प्रकारसे उनकी स्तुति की। भगवान् कपिल प्रसन्न हो गए। उन्होंने यज्ञ-पशुको ले जानेकी आज्ञा दे दी और कहा कि तुम्हारे चाचाओंका उद्धार तो तब होगा जब कोई गङ्गाजीकी प्रार्थना करके उनको स्वर्गसे पृथ्वी पर लावेगा और उनके जलका स्पर्श इनको प्राप्त होगा।

अंशुमान यज्ञ-अश्वको लेकर अपने बाबाके पास आया। सगरने अपना यज्ञ समाप्त किया और राज्यका भार अंशुमानके ऊपर छोड़कर वनमें भगवान्‌की भक्ति करने चले गए।
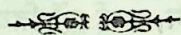
राजा श्रीभगीरथजी

यह राजा अंशुमानके पौत्र और दिलीपके पुत्र थे। कपिलदेवजीको स्तुति द्वारा प्रसन्न कर राजा अंशुमानने जब अपने साठ हजार पूर्वजोंके उद्धारका उपाय पूछा तो ऋषिने कहा—"यदि तुम स्वर्गसे गंगाजीको पृथ्वी पर ला सको, तो उनके जलके स्पर्श से ये सब जीवित हो उठेंगे।" अंशुमानने इसके लिए अनेक वर्षों तक घोर तप किया, परन्तु सफल नहीं हुए। उनके स्वर्गवासी होने पर दिलीपने भी प्रयत्न किया, पर समय पाकर वह भी चल बसे। अन्तमें दिलीपके पुत्र श्रीभगीरथने यह कार्य अपने हाथमें लिया और उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर देवी गंगाने पृथ्वी पर उतर कर सगरके पुत्रों को जीवन-दान दिया। राजा भगीरथ द्वारा लाये जानेके कारण ही श्रीगङ्गाजीका नाम भागीरथी पड़ा।

★

श्रीरुक्मांगदजी

भक्ति-रस-बोधिनी

रुक्मांगद बाग सुभ गन्ध फूल पागि रह्यो, करि अनुराग देववधू लेन आवहीं।
रहि गई एक, काँटो चुभ्यो पग बैंगन को, सुनि नृपमाली पास आए सुख पावहीं॥
कहौ "को उपाय स्वर्गलोक को पठाइ दीजै" "करै एकादसी जलधरै कर जावहीं।"
'व्रत को तो नाम यहि ग्राम कोऊ जानै नाहिं', 'कीनो हो अजानकरि[illegible]गुन गावहीं' ॥८३॥

अर्थ—राजा रुक्मांगदका बाग भाँति-भाँतिके सुन्दर और पवित्र फूलोंकी सुगन्ध से महक रहा था। बागके इस वैभवसे खिच कर अप्सरायें भी स्वर्गसे उतर कर फूल लेने वहाँ आया करती थीं। एक दिन संयोगसे किसी अप्सराके पैरमें बैंगनका काँटा गढ़ गया और वह आकाशको न उड़ सकी। अपने मालियोंसे यह समाचार सुन कर राजा उसके पास आये और प्रसन्न होकर पूछा—"क्या कोई ऐसा तरीका है, जिससे कि आपको वापिस स्वर्ग भेजा जा सके?" अप्सराने कहा—"यदि कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने एकादशी व्रत रक्खा हो, जल लेकर व्रतके पुण्यका संकल्प मेरे नामसे कर दे, तो मैं स्वर्ग जा सकती हूँ।" राजाने कहा-"इस व्रतका तो कोई नाम भी इस नगरमें नहीं जानता-करना तो दूर रहा।" इसपर अप्सराने कहा--"कल एकादशी थी; सम्भव है, कोई अनजाने भूखा रह गया हो। यदि ऐसा व्यक्ति मिल जाय, तो उसके फलसे ही मैं स्वर्ग चली जाऊँगी और आपके इस ऋणको कभी नहीं भूलूँगी।"

भक्ति-रस-बोधिनी

फेरी नृप डौंढ़ी, सुनि, बनिक की लौंड़ी भूखी रहो ही कनौड़ी, निसि जागी, उन मारियै।
राजा ढिग आनि करि दियौ व्रतदान, गई यों तिय उड़ानि निज लोक को पधारियै॥
महिमा अपार देखि भूप ने विचारी याकौ, "कोउ अन्न खाय ताको बाँधि मारि डारियै।"
याही के प्रभाव भाव-भक्ति विस्तार भयो, नयो चोंज सुनो सब पुरी लै उधारियै॥८४॥

अर्थ—अब राजाने अपने नगरमें घोषणा करा दी कि पहले दिन जो कोई भूखा रहा हो, उसे इनाम दिया जायगा। ढिंढोराको सुनकर किसी बनियाकी दासी, जिसे किसी कसूर पर बनियेने मारा था और जो इसी लज्जासे रात-भर सोई नहीं थी और न कुछ खाया-पिया था, राजाके पास पहुँची। राजाने उससे व्रतके पुण्यका संकल्प अप्सराके निमित्त करा दिया। अप्सरा उड़ कर अपने धामको चली गई।

राजाने व्रतका ऐसा अमित प्रभाव देखकर राज्यभरके लोगोंको व्रत रखनेका आदेश निकाल दिया और यह भी घोषणा करा दी कि इस दिन जो अन्न खायेगा उसे बाँध कर मरवा डाला जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि समस्त राज्यमें भगवद्-भक्तिका विस्तार होगया और दूसरी आश्चर्य-जनक बात यह हुई कि अन्तमें सब प्रजा-जन वैकुण्ठ-धाममें पहुँच गए।

एकादशी-व्रतके माहात्म्यके सम्बन्धमें हमें नहीं भूलना चाहिए कि राजर्षि अम्बरीषके अतुल प्रभावका कारण एकादशी-व्रत ही था। जिनके घरमें श्रीकृष्णने अवतार ग्रहण किया था, वह नन्दराय भी एकादशी-व्रत करते थे। वरुणदेवने नन्दरायका अपहरण द्वादशीके ही दिन किया था, जब कि वह स्नान करनेके लिए यमुनाजीमें उतरे थे। बादमें स्वयं श्रीकृष्ण उन्हें छुड़ा कर लाए थे।

पद्मपुराणका प्रमाण है—

सर्वपापप्रशमनं पुण्यमात्यन्तिकं तथा।

गोविन्दस्मरणं नृणामेकादश्यामुपोषनम् ॥

—गोविन्दका स्मरण करना तथा एकादशी-व्रत करना—ये दोनों उपाय मनुष्योंके समस्त पापों का नाश करने वाले हैं तथा इनके द्वारा अक्षय पुण्य-लाभ होता है—

रुक्मांगदजीके चरित्रके सम्बन्धमें यह शंका की जा सकती है कि उन्होंने दण्डका भय दिला कर लोगोंसे उनकी इच्छाके विरुद्ध एकादशी-व्रत करनेका आग्रह क्यों किया ? इसका सीधा-सा उत्तर यही है कि राजाका यह कर्त्तव्य है कि जिन साधनोंसे,उसकी धारणाके अनुसार, प्रजाका कल्याण होता हो, उनका अवलम्बन करे। सम्राट् अशोकने बुद्ध-धर्मके प्रचारके लिए अलग-अलग मन्त्री तथा कर्मचारी नियुक्त किये थे, जिनका काम नियत धर्म-परिपाटीका पालन न करने वाले लोगोंको दण्ड देकर सन्मार्ग पर लाना था। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा—"भय बिनु प्रीति न होइ।" सांसारिक लोगोंकी मनोवृत्ति ही ऐसी होती है कि जब तक उन्हें बाध्य न किया जाय, तब तक वे अच्छे कार्योंकी तरफ भी प्रवृत्त नहीं होते। नीतिका एक श्लोक है—

नियतविषयवर्ती प्रायशो दण्डयोगात्, जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः।
कृशमपि विकलं वा व्याधितं वा जरं वा, पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याभ्युपैति ॥

—इस परतन्त्र संसारमें स्वभावसे ही अच्छे आचरण करने वाले लोग विरले होते हैं। प्रायः देखा जाता है कि दण्डके भयसे ही वे अपने निश्चित कर्त्तव्योंका पालन करते है। उदाहरणके लिए, स्त्री अपने दुर्बल, रोगी अथवा वृद्ध पतिका साथ सामाजिक लाञ्छनके भयसे ही देती है।

—★—

राजा रुक्मांगदकी पुत्री

भक्ति-रस-बोधिनी

एकादसी-व्रत की सचाई लै दिखाई राजा, सुता की निकाई सुनौ नीके चिता लाइकैं।
पिता घर आयो पति, भूख ने सतायो अति, मांग तिया पास, नहीं दियो यह भाइकैं ॥
"आजु हरिवासर सो ता सर न पूजै कोऊ, डर कहा मीच को" यों मानी सुख पाइकैं।
तजे उन प्रान, पाये बेगि भगवान, बधू हिये सरसान भई, कह्यो पन गाइकैं ॥८५॥

अर्थ—राजा श्रीरुक्मांगदने एकादशी-व्रतकी सत्यताको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। अब उनकी पुत्रीकी गुणवत्ता सावधानीसे एकाग्रचित्त होकर सुनिये। उसका पति एक समय अपनी ससुराल आया। आते ही तीव्र भूख लगनेके कारण उसने अपनी स्त्रीसे भोजन लानेके लिए कहा। उस दिन एकादशी होनेके कारण राजाकी पुत्रीने उसे भोजन देनेसे इन्कार कर दिया। (इस पर पतिने कहा—"मैं इतना भूखा हूँ कि भोजन न मिलनेसे, सम्भव है, मेरे प्राणों का अन्त हो जाय। राजपुत्री फिर भी विचलित नहीं हुई और बोली—) "आज एकादशी है। पवित्रतामें इस दिनकी समता कोई दिन नहीं कर सकता। एकादशी-व्रत रखते हुए यदि प्राण चले जायँ, तो डरनेकी क्या बात है ? ऐसे धर्म-संकटके अवसर पर अपने भावमें दृढ़ रहनेमें ही राजपुत्रीने आनन्द माना। उधर भोजन न मिलनेके कारण उसके पति चल ही तो बसे और सीधे भगवान्‌के धाम

वैकुण्ठमें पहुँच गए । यह देख कर राजपुत्रीका हृदय भगवानकी भक्तिसे ओत-प्रोत हो गया और वह भी पतिके स्वर्गवासी हो जानेके बाद तुरन्त उन्हींकी सेवामें पहुँच गई ।

आगेके कवित्तमें श्रीप्रियादासजीने श्रीहरिश्चन्द्रसे लेकर श्रीदधीचि तक के भक्तोंका परिचय सामूहिक रूपसे दिया है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनो 'हरिचन्द' कथा, बिथा बिन द्रव्य दियो, तथा नहीं राखी बेचि सुत, तिया तन है ।
'सुरथ', 'सुधन्वा' जू सों दोष के करत मरे 'शंख' औ 'लिखित', विप्र भयो मैलो मन है ।।
इन्द्र औ अगिनि गए 'शिवि' पै परीक्षा लैन, काट दियो मांस रीझि साँचो जान्यो पन है ।
'भरत', 'दधीचि' आदि भागवत बीच गाए सबनि सुहाये जिन दियो तन, धन है ।।८६।।

अर्थ—अब राजा श्रीहरिश्चन्द्रजीकी कथा सुनिये, जिन्होंने किसी प्रकारका दुःख अनुभव किये बिना (मुनि विश्वामित्रको) समस्त राज्य-वैभव दे डाला । (राज्य छोड़ कर हरिश्चन्द्र अपने स्त्री-पुत्र-सहित काशी चले गए) वहाँ उन्होंने उनको तथा अपने शरीरको बेच दिया—कुछ भी पास नहीं रक्खा । श्रीसुरथ और सुधन्वा ऐसे भगवद्भक्त थे कि उनकी भक्तिके प्रभाव से शंख और लिखित नामक दो ब्राह्मण, जो अत्यन्त कलुषित हृदयके थे और दोनोंसे वैर मानते थे, मर गये । राजा शिविके धर्मकी परीक्षा लेनेके लिए इन्द्र और अग्नि (बाज और कबूतर का रूप धारण करके) उनके यहाँ गए । (बाजके डरसे शरणमें आए कबूतरकी प्राण-रक्षाके लिए) राजा शिविने अपने शरीरका सब मांस काट-काट कर दे दिया । यह देख दोनोंको विश्वास हो गया कि राजा (सच्चे धर्मातमा और) अपना प्रण निबाहने वाले हैं । श्रीजड़भरत जी और ऋषि दधीचिकी कथा का श्रीमद्भागवतपुराण में विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है । परोपकारके लिये अपना शरीर और सर्वस्व अर्पण करनेके कारण ये समस्त संसारके प्रिय हो गये ।
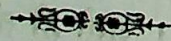
सत्यवादी हरिश्चन्द्र

विश्वामित्रजीके प्रतापसे सशरीर स्वर्ग जाने वाले एवं वहाँसे देवताओंके द्वारा गिराये जाने पर आज भी ज्योतिर्मय नक्षत्रके रूपमें बीच आकाशमें स्थित त्रिशंकुके पुत्र महाराज हरिश्चन्द्र थे । आप दानी उदार, विशाल-हृदय एवं महापराक्रमी तो थे ही पर सबसे अधिक प्रसिद्धि इनकी सत्यवादिताके कारण है । इनकी प्रतिज्ञा थी कि—

चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार ।
पै राजा हरिश्चन्द्र को, टरै न सत्य विचार ।।

महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्य-निष्ठाकी ख्याति त्रिभुवनमें फैली हुई थी। देवराज ने भी उनकी दान-शीलता और सत्य-परायणताकी बात देवर्षि नारदसे सुनी। भूतल-वासी राजाकी ऐसी विशुद्ध कीर्ति सुनकर इन्द्रको द्वेष होने लगा। उन्होंने इनके सत्य और दानकी परीक्षाके लिए विश्वामित्रजीको राजी कर लिया।

एक दिन महाराज हरिश्चन्द्र जब सो रहे थे तो विश्वामित्रजीकी प्रेरणासे उनको एक स्वप्न हुआ, जिसमें उन्होंनें अपना समस्त राज्य-ऐश्वर्य विश्वामित्रजीको दानमें दे दिया था। दूसरे दिन जब सबेरा हुआ तो विश्वामित्रजी राजमहलके द्वारपर जा पहुँचे और स्वप्नमें हरिश्चन्द्र द्वारा दानमें दिए गए राज्यको माँगा। महाराज हरिश्चन्द्रनें विना विचारे ही सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य विश्वामित्रको सौंप दिया और स्वयं काशीपुरी जानेका निश्चय किया; क्योंकि शास्त्रोंके अनुसार काशी शिवजीके त्रिशूलपर स्थित होनेके कारण पृथ्वीकी सीमासे बाहर है। पर उनके वहाँ जानेके पूर्व ही विश्वामित्रजीने उन्हें रोक कर कहा—"महाराज! आप तो बहुत बड़े ज्ञानवान् और पराक्रमी राजा हैं। इतनें बड़े राज्यके दान कर देनेके बाद इसके अनुकूल बिना दक्षिणा दिए ही चल दिए?"

पर अब महाराज हरिश्चन्द्रके पास था क्या? जो दो क्षण पहिले सम्पूर्ण पृथ्वी का चक्रवर्ती सम्राट् था, बह अब दुनियाका सबसे बड़ा रंक हो चुका था। श्रीहरिश्चन्द्रजी ने दक्षिणा देना स्वीकार कर लिया और वे अपने पुत्र रोहिताश्व एवं पत्नी शैव्याके साथ काशीपुरीको चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने अपनी जीवन-सङ्गिनी परम-साध्वी पत्नीको एक ब्राह्मणके हाथ बेंच दिया। पुत्र भी माँ के साथ चला गया; किन्तु इतने धनसे भी दक्षिणाका काम नहीं चला। अन्तमें उन्होंने स्वयंको भी एक चाण्डालके हाथ बेंच दिया और इस प्रकार प्राप्त धनसे विश्वामित्रजीकी दक्षिणा के भारसे मुक्त हो गए। अब वे एक चाण्डालके दास थे और श्मशान-घाट पर रह कर मृतककर वसूल किया करते थे।

उधर चक्रवर्ती सम्राट्की महारानी शैव्या ब्राह्मणके घर बुहारने, वर्तन साफ करने, गोबर उठाने आदिका काम करने लगीं। कुमार रोहिताश्व, जिसकी आज्ञा-पालनमें सैकड़ों नौकर तैयार खड़े रहा करते थे, ब्राह्मणके यहाँ पूजाकी सामग्री एकत्र करता, गाएँ चराता और इधर-उधरके कार्योंमें सुबहसे शाम तक लगा रहता।

एक दिन सन्ध्याका समय था। अन्धकार धीरे-धीरे बढ़ रहा था। उसी समय रोहिताश्व को ब्राह्मणके आदेशसे पूजाके लिए उद्यानमें पुष्प लेनेके लिए जाना पड़ा।

वहाँ उसे एक काले साँपने डस लिया। वह धरती पर गिर पड़ा और मर गया। बेचारी शैव्या—वही शैव्या, जिसने कभी कल्पनामें भी दुःखका अनुभव नहीं किया था, आज अपने मृत-पुत्र को दोनों भुजाओं पर टिकाए दुःखोंका उफनता हुआ महा-सागर अपने अन्दर दबाए शोक-प्रतिमा-सी बैठी थी। कोई दो शब्द कहकर उसे धीरज दिलानेवाला भी तो नहीं था। अँधेरी-रात, आकाश में बिजलीकी कड़क, धरती पर सहस्रों बरसाती स्रोतोंका प्रवाह; पर वह चक्रवर्ती सम्राट्की पट्टमहिषी अकेली ही उस शोकके हिमालय को अपने ऊपर लाद कर श्मशान-घाटकी ओर चल दी। विपत्तिका अन्त केवल यहीं नहीं था। श्मशान पर पहुँचते ही आहट पाकर चाण्डालके द्वारा नियुक्त किये गए राजा हरिश्चन्द्र वहाँ उपस्थित हो गए और कर माँगने लगे। पर शैव्याके पास कर देनेको था ही क्या? वह अपनी मैली साड़ीके आधे भागमें पुत्रकी मृत-देहको लपेटे थी और आधा भाग उसके लज्जा-निवारणका साधन बना था। राजाके कर माँगनेपर वह रो पड़ी। रुदन, क्रन्दन और चीत्कारसे राजाने उसे पहिचान लिया। कितनी भयंकर थी वह स्थिति! एक पिता श्मशान में कर ग्रहण करने के लिए नियुक्त है। उसकी पत्नी—कङ्गालिनी पत्नी उसीके एक-मात्र पुत्रके मृत-शरीरको लेकर दाह-क्रिया के लिए आती है और वह अविचल, अडिग रहकर कर-बसूलीपर अड़ा है। सब कुछ जानकर भी शैव्या एक नारी ही थी। वह विचलित हो कह उठी—"देव! यह आपका ही एक-मात्र पुत्र रोहिताश्व है। क्या आप अपने पुत्रको नहीं पहिचानते?"

हरिश्चन्द्रने हृदयमें उठते हुए तूफान को दबा दिया और अपने धर्मपर स्थिर रहते हुए कहा—"भद्रे! जिस धर्मके लिए मैंने राज्य छोड़ा, तुम्हें छोड़ा, चाण्डालका दास बना, तुम ब्राह्मणकी दासी बनीं और प्रिय पुत्र रोहिताश्व परलोकवासी हुआ, उसी धर्मको आज तुम मुझसे छुड़वाना चाहती हो। देवि! तुम मेरी सहचरी हो, सहधर्मिणी हो। तुमने सब समय मेरी सहायता की है। आज भी मेरे धर्म-पालनमें सहयोग देकर अपने सच्चे स्वरूपका परिचय दो।"

शैव्या पतिव्रता थी। यह कैसे सम्भव होता कि वह पतिके प्रतिकूल चलती, पतिके धर्मका आदर न करती? पतिका धर्म उससे श्मशानका कर माँग रहा था; पर उसके पास क्या रक्खा था देने को? अन्तमें उसने उसी अपनी साड़ीके आधे भागको देना चाहा, जिसमें उसने रोहिताश्वको लपेट रखा था। हरिश्चन्द्रने उसीको लेना स्वीकार कर लिया। ऐसी दशामें शैव्या क्या करती? उसने अपनी साड़ीको आधे भागसे पकड़ कर फाड़ना चाहा कि वहाँ पर श्री भगवान् विष्णु प्रकट हो गए। वह

श्मशान-घाट एक दिव्य-स्थलीके रूपमें परिणत हो गया। रोहिताश्व जी उठा। देवराज इन्द्र और विश्वामित्रजी वहाँ आकर उपस्थित हो गए। चाण्डाल बन कर महाराज हरिश्चन्द्रकी परीक्षा लेनेवाला धर्म भी वहाँ आया। पुष्प-वर्षा और वाद्य संगीत द्वारा आकाशमें विमानों पर स्थित देवाङ्गनाओंने हर्ष मनाया।

भगवान्ने हरिश्चन्द्रको भक्तिका वरदान दिया। इन्द्रने उनसे पत्नीके साथ स्वर्ग चलनेकी प्रार्थना की। हरिश्चन्द्रने कहा—"देवराज ! मैं एक प्रजा-पालक हूँ। अपने अधीनस्थ जनोंको धरतीपर बिलखता छोड़कर मैं स्वर्ग नहीं जा सकता।"

इन्द्रने फिर कहा—"महाराज ! आप तो अनन्त पुण्योंके प्रतापसे अक्षय काल तक स्वर्गवासी बन सकते हैं, किन्तु समस्त प्रजा-जनोंको ऐसा अवसर नहीं मिल सकता; क्योंकि सभीके कर्म भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं।" महाराज हरिश्चन्द्रने कहा—"देवराज ! आप मेरे पुण्यके प्रभावसे ही समस्त प्रजाको स्वर्ग ले जाइए। मैं सबके पापोंका फल भोगने को अनन्त काल तक नरकमें रह लूँगा, पर अपनी प्रिय प्रजाको यह दुःख नहीं सहने दूँगा; क्योंकि प्रजाके पुण्य और पापका उत्तरदायित्व भी राजाके ही ऊपर होता है।"

महाराजकी ऐसी उदारता और इतनी प्रजा-वत्सलता देखकर देवराज सन्तुष्ट हो गए और महाराज अपने प्रजा-जनोंके साथ ही सशरीर स्वर्गमें चले गए। बादमें विश्वामित्रजीने अयोध्याको फिरसे बसाया और कुमार रोहिताश्वको वहाँके सिंहासन पर अभिषिक्त करके उन्हें सम्पूर्ण पृथ्वीका एकछत्र अधिपति बना दिया।

श्रीसुरथजी

महाराज सुरथ कुण्डलपुरके अधिपति थे। ये परम धार्मिक भगवद्भक्त एवं सदाचारी राजा थे। इनका शरीर प्रजा-जनोंके कल्याणमें सर्वदा लगा रहता था। वे सदा इस बातका ध्यान रखते थे कि उनकी प्रजा वर्णाश्रम-धर्मका पालन तो करती है, कोई वेदोंके विरुद्ध तो आचरण नहीं करता है और भगवान् श्रीरामजीका स्मरण तो सब करते हैं।

एक दिन स्वयं यम इनकी भक्ति-भावनाकी परीक्षा लेनेके लिए एक तपस्वी जटाधारीके वेशमें इनकी राज-सभामें आया। महाराज अपने सामन्तों, सभासदों और मन्त्रियोंके साथ भगवच्चर्चा कर रहे थे। सभी परम वैष्णवसे दिखाई देते थे। वे गलेमें तुलसीकी माला, माथे पर चन्दनका तिलक और मस्तकपर तुलसी-दल धारण किए थे। मुनि-वेषधारी यमराजको देखकर राजा उनके सम्मानमें तुरन्त खड़े हो गए। आसन

प्रदान करके यथोचित सत्कार किया, पूजा-अर्चनाकी और हाथ जोड़कर बोले—"आज आप परम भागवतके दर्शन करके मेरा जीवन धन्य हो गया। आप कृपा करके अब मुझे त्रिभुवन-पावनी हरि-कथा सुनाइए।"

"हरि कथा!" राजाकी बात सुनकर मुनि हँसते हुए बोले—"कौन हरि और कैसी हरिकथा? हो तो राजा और बात करते हो मूर्खों की-सी! अरे! संसारमें कर्म प्रधान है; जैसा काम करोगे, वैसा फल पाओगे। तुम भी आजसे केवल स्वकर्त्तव्यका पालन करो। व्यर्थ में 'हरि-हरि' पुकारनेसे क्या लाभ?"

"आप हरिकी निन्दा क्यों करते हैं?" राजाने क्षुब्ध हो नम्रतासे कहा—"क्या आपको पता नहीं कि कर्मोंके भोग भोगनेवाले इन्द्रादि देवता और ब्रह्मा आदि प्रजापति को भी पुण्यक्षीण हो जाने पर फिर पतित होकर संसारमें प्रवेश करना पड़ता है? पर भगवद्-भक्तका पतन कभी नहीं होता है। जो ऐसे भगवान्की निन्दा करता है, वह अनन्त काल तक नरकमें पड़ा रहकर यमराज द्वारा दी गई अनेक यातनाओंको भोगता है। आप तो ब्राह्मण हैं; फिर भी आप भगवान्की निन्दा करते हैं?"

इतना सुनकर धर्मराज अपने वैष्णव-रूपमें राजाके सामने प्रकट होगए। उन्होंने राजासे वरदान माँगनेको कहा। धर्मराजके तेजस्वी स्वरूपको देखकर महाराज उनके चरणोंपर गिर पड़े और वरदान माँगा—"महाराज! जब तक भगवान् रामावतार लेकर यहाँ नहीं पधारें, तब तक मेरी मृत्यु न हो, बस मुझे यही वरदान दीजिए।" यमराज ऐसा ही वरदान देकर अन्तर्धान हो गए।

तभीसे श्रीसुरथजी भगवान्के रामावतारकी प्रतीक्षा करने लगे। अन्तमें त्रेता-युग आया, रामावतार हुआ। लङ्का-विजयके उपरान्त जब राजराजेश्वर श्रीरामजीने अश्वमेध-यज्ञ किया तो उनका घोड़ा, सुरथके राज्यकी सीमाके पाससे जारहा था। श्रीरामके दर्शन करनेका यह शुभअवसर था। उन्होंने अपने सेवकोंको यज्ञाश्वको पकड़ लानेकी आज्ञा दी। ऐसा ही किया गया। अब युद्ध अवश्यंभावी था। राजा सुरथ अपने दस पुत्रों सहित युद्धके मैदानमें आ डटे। उधर अश्वकी रक्षाके लिए रामानुज श्रीशत्रुघ्नजी पीछे-पीछे अनन्त सैन्यबलके साथ चले आ रहे थे। जब उन्होंने सुरथ द्वारा यज्ञाश्वके पकड़े जानेका समाचार सुना तो अङ्गदको दूत बनाकर भेजा। अंगदने भगवान् श्रीरामका प्रताप-बल वर्णन करके बिना युद्ध किए ही घोड़ेको छोड़ देनेका आग्रह किया, परन्तु सुरथने उनकी बात नहीं मानी और कहा—"मैं भगवान् श्रीराम का दास हूँ। अपने दसों पुत्रोंके साथ मैं और मेरा यह राज्य ऐश्वर्य-सभी उनके चरणों

की ही निधि है; किन्तु जब तक वे स्वयं मैदानमें मुझसे लड़नेके लिए नहीं आवेंगे, तब तक मैं घोड़ेको किसी प्रकार भी छोड़ने वाला नहीं और न श्रीरामके अतिरिक्त मुझे आपकी सेना का कोई भी वीर हरा ही सकता है।"

अङ्गद लौट आये और युद्ध आरम्भ हुआ। शत्रुघ्नके द्वारा चलाए गए शस्त्रा-स्त्रोंको सुरथने काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। अन्तमें उन्होंने रामास्त्रका प्रयोग करके शत्रुघ्न सहित अङ्गद, हनुमान आदि सब सेनानियोंको बाँध लिया। तब हनुमानजी के स्मरण करने पर भगवान् राम-लक्ष्मण अन्य ऋषि-मुनियोंके साथ वहाँ पर आए। भगवान् श्रीराघवेन्द्रको आता हुआ देखकर सुरथ उनके पैरोंसे लिपट गए। भगवान् श्रीराम उनके हृदयके प्रेमको पहिचान गए। उन्होंने श्रीसुरथजीको उठाकर छातीसे लगा लिया और उनके प्रेम एवं पराक्रमकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

पुरुषोत्तम रामने अपनी कृपा-दृष्टिमात्रसे ही अङ्गदादि समस्त सैनिकोंको बन्धन-मुक्त कर दिया। उनके शरीरके घाव भी भर गए और वे पहले समान होकर भगवान् श्रीरामके चरणोंमें लेट गए। श्रीराम समस्त परिकरके साथ राजा सुरथके राज्यमें चार-दिन तक निवास करके अपनी राजधानीको वापिस आ गए। राजा सुरथ भी अपने पुत्र चम्पक को समस्त राज्य-भार सौंपकर श्रीरामके पीछे-पीछे अयोध्या आए और वहाँ दीर्घकाल तक श्रीराघवेन्द्रकी सेवा करके अन्तमें दिव्य साकेत-धामको चले गए।

भक्तराज श्रीसुधन्वाजी

श्रीसुधन्वाजी चम्पकपुरीके महाराज हंसध्वजके पुत्र थे। महाराज हंसध्वज बड़े धर्मात्मा, प्रजा-पालक, शूरवीर और भगवद्भक्त थे। उनके राज्यमें, जो भगवद्भक्त और एक पत्नी-व्रतका पालन करने वाला नहीं होता था, उसे आश्रय नहीं दिया जाता था चाहें वह कितना ही ऊँचा विद्वान् या अन्य असामान्य गुणोंसे युक्त ही क्यों न हो।

एक बार पाण्डवोंके अश्वमेध-यज्ञ करते समय यज्ञका घोड़ा इनके राज्यकी सीमाके पाससे जा रहा था। महाराजने उसे देखा और सोचने लगे—"मैं वृद्ध हो गया, पर अभी तक भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। अब इस घोड़ेको रोकनेके बहानेसे युद्ध-भूमिमें जाकर अर्जुनके सारथि भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन करके अपने जीवनको सफल बना सकता हूँ।" घोड़ा रोक लिया गया और पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेके लिए सेना सजाई जाने लगी। राजगुरु शंख तथा लिखितकी आज्ञासे सम्पूर्ण राज्यमें घोषणा कर दी गई कि जो निर्धारित समय तक युद्ध-स्थलमें नहीं

पहुँचेगा उसे खौलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया जायगा। राजाज्ञा के अनुसार सभी सेनाध्यक्ष, महारथी और शूर-वीर निर्धारित समय पर रणक्षेत्रमें आगए; पर सुधन्वा समय पर न आ सका। पहिले तो वे माताके पास आज्ञा लेनेके लिए गए। माताने प्रेमसे पुत्रको आसन दिया और कहा—"बेटा! तू युद्धमें जा तो रहा है, पर मेरे पास विजयी होकर लौटना। मुझे घोड़े, हाथी या रथोंकी आवश्यकता नहीं है। मेरी कामना तो श्रीहरिके दर्शनोंकी है; अगर सम्भव हो सके तो उनको ही अपने साथ लाना। उनके पराक्रम को देखकर डर मत जाना; क्योंकि उन पुरुषोत्तमके सम्मुख अगर तू वीर-गति को प्राप्त करेगा तो तेरी इक्कीस पीढ़ियाँ तर जायँगी।"

इस प्रकार माताके पाससे आज्ञा लेकर राजकुमार बहिन कुबलाके पास आये। वहाँसे अन्तःपुरमें अपनी रानी प्रभावतीके पास गए। वे पहिलेसे ही आरती सजाकर उनके आनेकी प्रतीक्षा कर रही थीं। पति-परायणा एवं परम-साध्वी प्रभावतीसे आज्ञा लेकर जब वे रण-भूमि में आये तो निर्धारित समय पर न आनेके कारण उनके लिए खौलता हुआ तेलका कड़ाह तैयार था।

महाराजने शंख और लिखितके पास दूत द्वारा सन्देश भेजा कि राजकुमार सुधन्वा देरसे आया है 'उसके लिये क्या व्यवस्था की जानी चाहिए?" यह सुनकर राज-पुरोहितोंने समझा कि राजा अपने पुत्रके प्रति दयायुक्त होकर उसे बचानेका प्रयत्न कर रहे हैं। उनको बड़ा क्रोध आया और वे दूतसे बोले—"जब सबके लिए एक ही आज्ञा है तब व्यवस्था पूछनेकी क्या आवश्यकता थी? हंसध्वज पुत्रके कारण अपने वचनोंको आज झूठा करना चाहता है। जो अधर्मी लोग मोह या भयसे अपने वचनोंका पालन करना नहीं चाहते, वे तथा उसके आश्रयमें रहने वाले समस्त व्यक्ति नरकमें जाकर दारुण दुःख भोगते हैं; अतः हम ऐसे असत्यभाषीके राज्य में रहना नहीं चाहते हैं।" इतना कह कर ऋषि शंख एवं लिखित राज्य त्याग कर चल दिए।

जब राजाने दूतसे समाचार प्राप्त किया तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने राजकुमार सुधन्वाको तेलके कड़ाहमें डालनेका आदेश दिया और स्वयं राज-पुरोहितों को मनानेके लिए चल दिए।

राजकुमारको जलानेका आदेश जब मन्त्रीको मिला तो उसे बड़ा दुःख हुआ। सुधन्वा यह नहीं चाहते थे कि मन्त्री मेरे पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करे। उन्होंने मन्त्रीको समझाया और स्वयं कड़ाहमें कूदनेको तैयार हो गए। वे उस समय भगवान्से प्रार्थना करने लगे—"हे दीनवत्सल! मुझे मृत्युसे भय नहीं, पर इस प्रकार मर कर मुझे

आपके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया। मैं आया तो मरनेके लिए ही था, पर इस प्रकार नहीं, बल्कि आपके चरणकमलोंमें गिरकर, आपके भक्तके वाणोंसे घायल होकर।

इस प्रकार एक-मात्र भगवान्के दर्शनकी अभिलाषा अपने मनमें लेकर उन्हींका स्मरण एवं नामोच्चारण करते हुए सुधन्वा कड़ाहके खौलते हुए तेलमें कूद पड़े; पर अग्नि उनके लिए शीतल हो गई। देखने वालोंको लगा मानों वे तेल पर तैर रहे हैं। उनका एक रोम भी झुलसने न पाया। इस आश्चर्यको सुनकर राजा-सहित राज-पुरोहित भी वहाँ आगए। राजकुमारको इस प्रकारसे जलते हुए तेलके कड़ाहमें भी अदग्ध देखकर शंखको सन्देह हुआ—"अवश्य ही इसमें कोई चाल है, अन्यथा जलते कड़ाहमें राजकुमारका शरीर ज्योंका त्यों कैसे रहता?" उन्होंने तेलकी परीक्षाके लिए एक हरा नारियल लेकर उसे कड़ाहमें डाल दिया। राजकुमार भगवद्-ध्यानमें इतने तल्लीन थे कि उन्हें कुछ ध्यान ही न था। गरम तेलमें पड़ते ही नारियल तड़ाकसे फूट गया और उसमेंसे उछले हुए दो टुकड़े बड़े जोरसे शंख और लिखितके सिरमें लगे। शंखने अन्य लोगोंसे पूछा—"सुधन्वाने कड़ाहमें कूदनेके पूर्व किसी औषधिका सेवन या किसी मन्त्रका जाप तो नहीं किया था?" इस पर उन्होंने बतलाया कि वे केवल भगवान्का ध्यान और नामोच्चारण करके कड़ाहमें स्वयं ही कूद गए थे। शंखकी आँखें खुल गई। पश्चातापकी ज्वालासे उनका हृदय जलने लगा और उसीके कारण वे स्वयं भी जलते हुए कड़ाहमें कूद पड़े। राजकुमारकी प्रार्थनापर उनके लिए भी कड़ाहका तेल शीतल हो गया। मुनिने उन्हें छातीसे लगा लिया और बोले—"राजकुमार! तुम धन्य हो। मैं ब्राह्मण हूँ, शास्त्रज्ञ और धर्मवेत्ता हूँ, पर भगवान्से विमुख रहनेके कारण सबसे बड़ा मूर्ख और नीच हूँ। राजकुमार! आज तुमने अपने परिवार और इस असंख्य सेना के साथ मुझे भी पवित्र कर दिया। हम सभीका जीवन आज सफल हो गया। अब तुम कड़ाहसे निकलो और धर्म-युद्धके लिए तैयार हो जाओ। धनुर्धारी अर्जुनको संग्राममें तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता है।"

मुनिके साथ सुधन्वा कड़ाहसे बाहर आए और युद्ध प्रारम्भ हो गया। सुधन्वा का ध्यान बराबर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दमें लगा हुआ था। उनके पराक्रमसे चारों ओर खलबली मच गई। वृषकेतु, प्रद्युम्न, कृतवर्मा, सात्यकी आदि प्रधान वीर अपने-अपने दलों के साथ घायल होकर पीछे लौट गए। अन्तमें अपनी शूरताका दर्प लिए अर्जुन सामने आया। सुधन्वाको अपने प्रभु पर विश्वास था, वे उसीके सहारे

लड़ रहे थे। अर्जुन जब आया और उसका रथ भगवान् श्रीकृष्णसे रहित दिखाई दिया तो सुधन्वाने कहा—"अर्जुन! प्रत्येक युद्धमें आप विजयी होते रहे, इसका कारण आपका पराक्रम नहीं, भगवान् श्रीकृष्णका आपके रथका सारथी होना था। आज आप उनको कहाँ छोड़ आए? मुझे लगता है, श्रीश्यामसुन्दरने मेरे साथ युद्ध न करनेकी इच्छासे ही आपको त्याग दिया है। अब श्रीकृष्णसे रहित आप मेरे सामने डट भी सकेंगे, इसमें भी सन्देह है।"

अर्जुनको क्रोध आ गया। उसने वाण-वर्षा आरम्भ कर दी, पर सुधन्वाने उन्हें काट-काट कर तिलके बराबर टुकड़े कर गिराये। अर्जुनका रथ टूट गया। सारथी मैदान छोड़कर भाग गया और अर्जुन घायल होकर एक ओर जा गिरे। तब सुधन्वाने कहा—"पार्थ! मैंने पहिले ही कहा था कि तुम बिना अपने श्याम-वर्णके सारथीके इस संग्राममें सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। देखो, तुम्हारा रथ टूट गया, सारथी भाग गया और तुम घायल हो गए। अगर अब भी अपनी विजय चाहते हो तो उन्हीं श्यामसुन्दरका स्मरण कर उन्हें अपनी सहायताके लिए बुलाओ।" लाचार अर्जुनने श्रीकृष्णका मन ही मन स्मरण किया कि माधव मुस्कराते सामने आगए और रथको सँभाल लिया। अर्जुन एवं सुधन्वा दोनोंने भगवान्के चरणारविन्दमें प्रणाम किया। श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीको देखकर भक्तवर सुधन्वा स्तब्ध हो गए, उनकी आँखें प्रातःकालीन कमलके समान खिल उठीं। इसी समय अर्जुनने धनुष टंकारा और सुधन्वा सावधान होकर उससे बोला—"धनञ्जय! श्रीश्यामसुन्दर तुम्हारी सहायताके लिए आ गए हैं, तुम्हारी विजय निश्चित है, अब तो तुम किसी न किसी प्रकारकी प्रतिज्ञा करके मुझ पर विजय प्राप्त करो।" अर्जुनको भगवान्के भक्तकी शक्तिका ध्यान न रहा। वे भुजाओंके बल एवं गाण्डीव के भरोसे पर प्रतिज्ञा कर बैठे।

उन्होंने तीन वाण तूणीरसे निकाले और कहा—"अगर मैं केवल इन तीन वाणोंकी सहायतासे ही तेरा मस्तक न काट डालूँ तो मेरे पूर्वज पुण्य-हीन होकर अन्तकाल तक नरकमें गिर पड़ें।" यह सुनकर सुधन्वाने भी हाथ उठाया और कहा—"श्रीकृष्ण साक्षी हैं, अगर मैं तुम्हारे तीनों वाणोंको काटकर जमीन पर न गिरा दूँ तो मुझे घोर नरक प्राप्त हो।"

युद्ध आरम्भ हुआ। सुधन्वाने भगवान्का स्मरण करके अभिमान-रहित हो वाण चलाना प्रारम्भ किया और अर्जुनके रथको चार-सौ हाथ पीछे हटा दिया। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों घायल हुए। रथका कुछ भाग नष्ट भी हो गया। तब

श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"कौन्तेय ! यह सुधन्वा बड़ा बाँका वीर है, तूने बिना मेरी सम्मतिके ही ऐसी कठोर प्रतिज्ञा क्यों कर ली ? क्या तुझे पता नहीं कि वह एक-पत्नी व्रत है, अतः उसके शरीरमें अपरिमित बल है ?"

अर्जुनने कहा—"भगवन् ! आपके रहते मेरे सामने काल भी नहीं ठहर सकता। मेरी प्रतिज्ञा अवश्य ही पूरी होगी। इतना कह कर उसने एक वाण धनुष पर चढ़ाया। श्रीकृष्णने उस वाण पर गोवर्द्धन-धारणका पुण्य अर्पित किया। वाण चला और सुधन्वाने गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्णका ध्यान करके एक वाणसे अर्जुनके वाणके दो टुकड़े कर दिए। पृथ्वी काँप उठी। अर्जुनने दूसरा वाण साधा। श्रीकृष्णने अपने अनन्त पुण्योंका फल इस वाणके ऊपर रख दिया। अर्जुनने वाण चला दिया और सुधन्वाने भगवान्का स्मरण करके इस वाणको भी केवल एक ही वाणसे काट गिराया। अब क्या था ? अर्जुन हतोत्साह हो गया। धरा डगमगा गई। देवता सुधन्वाकी प्रशस्ति गा-गा कर पुष्प-वर्षा करने लगे।

अर्जुनने श्रीकृष्णकी आज्ञासे तीसरा बाण सँभाला। माधवने उसको अपने समस्त पुण्यों का फल प्रदान किया। वाणके पिछले भागमें ब्रह्माजीको विराजमान किया, बीचमें बैठनेके लिए कालको आज्ञा दी और आप स्वयं एक रूपसे बाणके अग्र-भाग पर आकर बैठ गए। सुधन्वाने सब दृश्य देखा। आज उसकी आत्मा परम प्रसन्न थी—"केवल मेरा उद्धार करनेके लिए भगवान् कैसा स्वांग रच रहे हैं !" वे मन ही मन ऐसा विचार कर अर्जुनसे बोले—"धनञ्जय ! श्रीकृष्णके इतने प्रयत्न करने पर भी मुझे विश्वास है कि मैं तेरे इस वाणको भी काट दूँगा। यद्यपि विजय तुम्हारी ही होगी; क्योंकि मैं अब जीवनका फल पा गया, अतः जीवित रहना नहीं चाहता हूँ।" अर्जुनका वाण छूटा। सुधन्वाने 'भक्तवत्सल भगवान्की जय !' बोल कर उसकी काट छोड़ दी और देखते ही देखते एक प्रचण्ड घोषके साथ अर्जुनके वाणके बीचमें से दो टुकड़े हो गये, सुधन्वाकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। पाण्डव-दलमें हाहाकार मच गया। किन्तु भगवान्को अर्जुनकी प्रतिज्ञा भी पूरी करनी थी; क्योंकि वे भी उनके लिए आत्म-समर्पण कर चुके थे। वाण कट गया पर, उसका अगला भाग गिरा नहीं। उसने ऊपर उठ कर सुधन्वा का मस्तक काट दिया। भक्तवर सुधन्वाका शरीर तो रण-भूमिमें गिर गया और मस्तक उड़कर भगवान्के चरणारविन्दमें आ गया। श्रीकृष्णने उसे उठाया अपने हाथसे। उसी समय उनके हाथका स्पर्श पाकर उसके मुख-मण्डलसे एक दिव्य प्रकार की ज्योति निकली और अखिल लोक-नियन्ता नटवर-नागर श्रीश्यामसुन्दरके शरीरमें जा छिपी।

★

राजा शिवि

महाराज शिवि उशीनर के पुत्र थे। ये प्रारम्भसे ही दयावान, परोपकारी, शरणागतवत्सल, भगवद्भक्त एवं परम धार्मिक थे। इनके गुणोंकी ख्याति देवलोक तक पहुँच चुकी थी। देवराज इन्द्रने इनके धर्मकी परीक्षा लेना चाही। एक समय जब राजा शिवि यज्ञ कर रहे थे, अचानक एक कबूतर उनकी गोदमें आ गिरा और उनके वस्त्रोंमें छिप गया। उसका शरीर काँप रहा था और हृदयकी गति बढ़ गई थी। उसी समय कबूतरका पीछा करता हुआ एक बाज भी आया और वह भी राजाके सामने ही यज्ञ-स्थलीमें उतर गया। जब उसने देखा कि राजा शिविने उसकी शिकारका कबूतर अपने वस्त्रोंमें छिपा रखा है तो वह मनुष्यकी वाणीमें उनसे बोला—"महाराज! यह कौनसा धर्म है आपका? आप एक प्राणीके जीवनकी रक्षा कर रहे हैं और दूसरेके प्राण लेनेको तैयार हैं। क्या आपको पता नहीं कि यह कबूतर मेरा भोजन है। यदि मैं इसको नहीं खाऊँगा तो मेरा जीवित रहना दूभर हो जायगा और मेरे मर जानेके बाद मेरा कुटुम्ब भी जीवित नहीं रह सकता। महाराज! आप धर्मका ढोंग कर रहे हैं। वास्तवमें यह धर्म नहीं है।"

राजाने नम्रतासे कहा—"तुम्हारा उद्देश्य इसको मारना है या उदर-पूर्ति करना?"

बाज—"पृथ्वीनाथ! मुझे तो उदर-पूर्ति करनी है।"

शिवि—"यदि तुम्हारा उद्देश्य उदर-पूर्तिका है तो कबूतरको छोड़ दो अपने खाने के लिए तुम जो चाहो सो वस्तु ले सकते हो। तुम्हारे लिए भण्डार खुला है।"

बाज—"दीनवत्सल! मैं मांसाहारी जीव हूँ। आप मुझे कबूतरके मांसके स्थान पर और किसी पक्षीका मांस दे दीजिए, जिससे मैं सन्तुष्ट होकर अपने घर जाऊँ।"

शिवि—"बाज! तुमने ठीक कहा, परन्तु प्रत्येक प्राणीको अपना शरीर प्यारा है। जब दूसरे पक्षीको मार कर उसका मांस तुम्हें दिया जायगा, तब क्या धर्म होगा?

बाज एक क्षण मौन रह कर फिर बोला—"महाराज! एक बात मेरी समझमें आई है। आप कबूतरके बराबर मांस अपने शरीरसे काट कर दे दीजिए; मैं उसीसे सन्तुष्ट होकर चला जाऊँगा। इससे कबूतरकी जान बच जायगी, मैं भोजन पा सकूँगा और आपके धर्मकी रक्षा हो जायगी।"

शिवि—"हाँ, पक्षिराज! यह बात तुमने बिलकुल ठीक कही। मैं अभी तुम्हें अपने शरीरसे कबूतरके बराबर माँस काट कर दिये देता हूँ।"

राजा शिविने तराजू मँगाई। उसके एक पलड़े में कबूतरको बिठाया और दूसरे में अपने शरीरका मांस काट-काट कर चढ़ाने लगे। शिवि जैसे-जैसे अपने शरीरका मांस काटकर चढ़ाते जाते थे, वैसे-ही-वैसे कबूतर और अधिक भारी होता जाता था। राजा ने धीरे-धीरे अपने शरीर का सब मांस काट कर तराजूपर चढ़ा दिया, पर वह कबूतर के बराबर नहीं हुआ। अन्तमें राजाने स्वयं ही तराजूपर चढ़नेके लिए पैर उठाया और बाजसे बोले—"तुमको मेरे शरीरमें जहाँ-जहाँ मांस दिखाई दे, वहाँ-वहाँसे खाकर अपना पेट भरना।"

राजाके ऐसे वचन सुनकर आकाशसे पुष्प-वर्षा होने लगी, जय-जयकारसे समस्त दिशाएँ गूँज उठीं। राजाने मुड़कर बाजकी ओर देखा तो उसके स्थानपर देवराज इन्द्र दिखाई दिए। कबूतर भी अग्निदेवके रूपमें राजाके सामने आ गया। तुरन्त ही महाराज शिविका शरीर अक्षत होकर और भी अधिक दिव्य हो गया। इसका कुछ भी रहस्य महाराज शिविकी समझमें न आया। वे केवल आश्चर्यान्वित होकर चारों ओर देखने लगे।

इसी समय इन्द्रदेवने कहा—"राजन्! मैं इन्द्र हूँ। मैं तुम्हारी शरणागत-वत्सलताकी परीक्षा करनेके लिए आया था। वास्तवमें तुम परम धार्मिक और शरणागत-रक्षक हो। तुमने बड़ोंसे कभी ईर्ष्या नहीं की है, छोटोंका कभी अपमान नहीं किया है और बराबर वालोंसे कभी स्पर्धा नहीं की है; अतः तुम संसारमें सर्वश्रेष्ठ हो। तुम इसी दिव्य-रूपसे पृथ्वीपर रहकर चिरकाल तक निष्कण्टक राज्य करो।" इतना कहकर अग्निदेवके साथ इन्द्र अन्तर्धान हो गए।

शिविने देवराजके कथनानुसार इस पृथ्वीका पालन किया, पर उनका मन हमेशा भगवान् वासुदेवके चरणारविन्दोंमें लगा रहता था। अन्तमें समय आने पर महाराज शिवि इस भौतिक संसारको त्याग कर परमधामको चले गए।

—★—

श्रीभरतजी

राजा श्रीरहूगणके प्रसंगमें श्रीभरतजीका उल्लेख हो चुका है। भरतके पिताका नाम श्रीऋषभदेव था। भरतजी प्रारम्भसे ही भगवन्निष्ठ थे और नव योगीश्वरोंमें सबसे बड़े थे। पिता के बाद राज्य पाकर आपने बहुत यज्ञ किये। यज्ञोंके द्वारा अन्तःशुद्धि हो जाने पर धीरे-धीरे भगवान् वासुदेवके प्रति आपकी भक्ति बढ़ती गई और

अन्तमें अपने ज्येष्ठ पुत्रको राज-पाट सँभाल कर आप तप करनेके उद्देश्यसे पुलहाश्रम को चले गए।

एक दिन गण्डकी नदीके तटपर आप बैठें थे कि वहाँ एक गर्भवती हरिणी जल पीनेके लिये आई। उसके जल पीते समय अचानक पासमें कहीं सिंह बड़े जोरसे गरजा। डर कर ज्यों ही वह उछली कि उसका गर्भपात हो गया और बच्चा नदीके जलमें आ गिरा। हरिणी भागती हुई किसी कन्दरामें जाकर मर गई। दयावश बच्चेको भरतजी ने उठा लिया और अपने आश्रममें ले आए। दिन-रात उस मातृहीन बच्चेके लालन-पालनमें लगे रहनेके कारण भरतजीके सब यम-नियम एक-एक कर छूट गये। अब उनका सारा समय उसके लिए कोमल घास लाने, पानी पिलाने तथा वनके घातक जीवोंसे उसकी रक्षा करनेमें बीतता था। जहाँ-कहीं जाते वे, उसे गोद में या कन्धेपर रखकर अपने साथ ले जाते और जरा-सा आँखोंसे ओझल हो जाने पर घबड़ा उठते। इस प्रकार उनकी सब मनोवृत्तियोंके उस मृगके बच्चेपर केन्द्रित हो जानेके कारण जब उन्होंने शरीर छोड़ा, तब भी उसीके सम्बन्धमें सोचते रहे। परिणाम यह हुआ कि दूसरे जन्ममें भरतजीको मृग-योनिमें जन्म लेना पड़ा।

किन्तु इस जन्ममें भी उन्हें पूर्व-जन्मकी याद बनी रही। वे इस बातको याद कर बार-बार पछताते थे कि जब मैं भगवान्‌की आराधना करनेके लिए स्त्री-पुत्र-राज्य सबको छोड़ कर पुलहाश्रममें रहने लगा, तब मेरी बुद्धि ऐसी क्यों भ्रष्ट हो गई कि मैं एक हरिणके बच्चेके मोह में फँस गया। धीरे-धीरे मृग-रूप भरतजीका निर्वेद (खेद) बढ़ता गया और वे अपनी माँ को छोड़ कर फिर पुलहाश्रममें आकर रहने लगे तथा भूखे-प्यासे रहकर जीवन बिताते हुए अपने मृत्यु-समयकी प्रतीक्षा करते रहे। अन्तमें आपने मृग-शरीरको छोड़कर एक ब्राह्मणके घरमें जन्म लिया और वहाँ भी आपका नाम 'भरत' पड़ा।

ब्राह्मणके रूपमें भी आप बालकपनसे ही विरक्त होकर भगवान्‌का चिन्तन करते हुए अकेले ही घूमा करते। किसीसे बोलना-चालना आपको अच्छा नहीं लगता था और इसलिए लोग उन्हें पागल, गूँगा और बहरा समझते थे। भरतजीको इष्ट भी यही था। एक दिन भीलों के किसी राजाको बलि देनेके लिए आदमीकी जरूरत पड़ी। खोजते-खोजते उसके अनुचरोंने जड़-भरतजीको देखा और उन्हें पकड़ कर ले गए। उन्हें नहला-धुलाकर और फूलोंकी माला इत्यादिसे सजाकर भद्रकालीके सामने लाया गया और तलवार उठाकर ज्यों ही उनकी बलि देने को वे उद्यत हुए, त्यों ही कालीने प्रकट होकर उन सबको वहीं मार गिराया।

राजा रहूगण द्वारा भरतजीसे पालकी उठवानेका प्रसंग पीछे दिया जा चुका है।

महर्षि श्रीदधीचिजी

महर्षि दधीचि ब्रह्मज्ञानी थे। उनका आश्रम साभ्रमती एवं चन्द्रभागाके सङ्गम पर था। वे अहर्निश भगवान्‌के ध्यानमें लगे रह कर कठिन तप किया करते थे। एक बार अश्विनीकुमार इनके पास ब्रह्मविद्याका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आए। इन्द्र अश्विनीकुमारोंको हीन दृष्टिसे देखा करते थे, अतः उन्होंने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो कोई इन कुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा, मैं उसका मस्तक काट डालूँगा। इन्द्रके भयसे कोई भी इनको ज्ञानोपदेश नहीं करता था; किन्तु जब इन्होंने महर्षि दधीचिसे ब्रह्म-विद्याके उपदेशके लिए प्रार्थना की तो वे तैयार हो गए। अश्विनीकुमार नहीं चाहते थे कि महर्षिका मस्तक देवराज काट ले जायँ। उन्होंने एक उपाय किया। वे एक घोड़ेका मस्तक काट लाए और उसे महर्षिके मस्तकके स्थानपर लगा दिया एवं मस्तकको औषधियोंमें लपेटकर सुरक्षित रख दिया। अब महर्षि अपने अश्व-मुखसे अश्विनीकुमारोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करने लगे। जब इन्द्रको इसकी सूचना मिली तो वे आए और उनके घोड़के मस्तकको काटकर ले गए। अश्विनीकुमारोंने सुरक्षित रक्खा हुआ उनका पहला मस्तक फिरसे लगा दिया। इस प्रकार इन्द्रकी नीचताका कोई भी प्रभाव दधीचिके ऊपर नहीं पड़ा और अश्विनीकुमार भी ब्रह्मविद्याका उपदेश ग्रहण कर सके।

इस घटनाके कुछ समय बाद त्वष्टाके अग्नि-कुण्डसे एक वृत्रासुर नामका दैत्य पैदा हुआ। वह बड़ा पराक्रमी था। उसने चारों ओर अपना प्रभाव जमा रक्खा था; यही नहीं, स्वर्गलोक पर भी उसने अधिकार कर लिया और देवराज इन्द्रको वहाँसे मार भगाया। असहाय इन्द्र अपने देव-परिकरके साथ ब्रह्माजी के पास गए और अपना दुःख उन्हें सुनाया। ब्रह्माजीने शेषशायी भगवान् विष्णुकी स्तुति की। श्रीविष्णु भगवान् प्रकट हुए और उन्होंने कहा—"महर्षि दधीचिकी उत्कट तपस्याके कारण उनकी हड्डियाँ अक्षय, दृढ़ एवं तेजस्विनी हो गई हैं। उन हड्डियोंसे यदि वज्र बनाया जाय तो उस वज्रकी सहायतासे देवराज दैत्यका संहार कर सकते हैं; किन्तु महर्षिको मारकर उनकी हड्डियोंको प्राप्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वे मेरे आश्रित हैं। हाँ, देवता स्वयं उनके पास जाकर उनसे हड्डियोंकी याचना करें तो वे अवश्य ही दे देंगे।"

भगवान् अन्तर्धान हो गए और देवता महर्षि दधीचिके आश्रममें गए। वहाँ

जाकर उन्होंने अनेक प्रकारकी स्तुति करके उनको प्रसन्न कर लिया और उनसे हड्डियों की याचना की । महर्षि दधीचिने हड्डियाँ देना तो स्वीकार कर लिया, पर एक-बार तीर्थ-यात्रा करनेकी अभिलाषा प्रकट की । देवराजने नैमिषारण्यमें समस्त तीर्थोंका आवाहन किया । महर्षि दधीचिने वहाँ स्नान किया और आसन लगा कर बैठ गए । वे मन तथा प्राणोंको हृदयमें लीन करके भगवान् के ध्यानमें लग गए और उनकी आत्मा देवताओंके लिए शरीरको त्यागकर परमात्मा में जा मिली । इस प्रकार हड्डियोंसे विश्वकर्माने वज्रकी रचना की और उसकी सहायतासे इन्द्रने राक्षसराज वृत्रासुरका संहार किया । धन्य थे वे महर्षि दधीचि जिन्होंने जान-बूझकर अकारण अपकार करने-वाले इन्द्रको अपनी हड्डिओंका दानकर श्रेष्ठतम परोपकारका आदर्श प्रस्तुत किया था। उसी आदर्शके कारण आज तीनों-लोकोंमें महर्षि दधिचिका सुयश छाया हुआ है । वे देवताओं और देवराजके भी पूजनीय बन गए हैं । यह भगवान्‌की भक्तिका ही प्रभाव था कि वे इतने सरल-भावसे उस शरीरका त्याग कर सके, जिसे मानव आत्मा मान कर उसकी रक्षामें सम्पूर्ण जीवनको व्यतीत कर देता है ।

श्रीविन्ध्यावलीजी

भक्ति-रस-बोधिनी

विन्ध्यावली तिया सी न देखी कहूँ तिया नैन, बाँध्यो प्रभु-पिया, देखि कियो मन चौगुनौ ।
"करि अभिमान दान देन बैठ्यो तुमहीं को, कियो अपमान मैं तो मान्यौं सुख सौगुनौ" ॥
त्रिभुवन छीनि लिये, दिये वैरी देवतान प्रानमात्र रहे, हरि आन्यों नहीं औगुनौ ।
ऐसी भक्ति होय जो पै जागो रहो सोइ, अहो ! रहो भव मांझ ऐ पै लागै नहीं भौगुनौ ॥८७॥

अर्थ—विन्ध्यावली—जैसी स्त्री कहीं देखने व सुननेमें नहीं आती, जिसने श्रीवामन भगवान् द्वारा अपने पतिदेव वलिको बाँधा गया देख कर भी अपना मन तनिक भी मैला नहीं किया, वरन् और चौगुनी प्रसन्न हुई । भगवान्‌की स्तुति करते हुए विन्ध्या-वलीने कहा—"अपने अज्ञान-जनित दानके अभिमानके कारण ये मेरे पति तीनों लोकोंके स्वामी आपको ही दान देने बैठे । अपनेको दानी और आपको भिक्षुक मान कर इन्होंने आपका अत्यन्त अनादर किया और आपने दण्ड देकर जो इनका अभिमान दूर किया, उसमें मैं सौगुनी प्रसन्न हुई हूँ ।" (रानी विन्ध्यावलीकी भगवद्भक्ति कितनी आदर्श थी !) भगवान्‌ने इनके स्वामीसे तीनों लोकों का राज्य छीन कर इनके शत्रु देवताओंको दे डाला और इनके पतिके पास केवल प्राण ही शेष रह गए थे, लेकिन इस कारण इन्होंने प्रभु को दोषी नहीं ठहराया, बल्कि अपने पतिमें ही अभिमान रूपी अवगुण देखा । यदि

किसीमें इस प्रकारकी भक्ति हो, तो उसीको वास्तवमें जागता हुआ समझना चाहिए, (भले ही वह औरोंकी दृष्टिमें, अत्यन्त निष्क्रिय होनेके कारण, सोता हुआ लगता हो।) ऐसा व्यक्ति संसारमें रहता हुआ भी प्रकृतिके माया, मोह आदि गुणोंसे अछूता रहता है—अर्थात् सांसारिक कर्मोंको यथावत् करता हुआ भी उनसे बँधता नहीं है।

इस कवित्तके अन्तिम चरणका भाव हमें गीतासे नीचे दिए श्लोकका स्मरण दिलाता है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

—सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके लिये जो रात्रि है, उस नित्य, शुद्ध, बोधस्वरूप परमानन्दमें भगवत्को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और जिस नाशवान् क्षणभंगुर सांसारिक सुखमें सब प्राणी जागते हैं, तत्वदर्शी मुनिके लिए वह रात्रि है।

—★—

श्रीमोरध्वजजी

भक्ति-रस-बोधिनी

अर्जुन के गर्व भयौ, कृष्ण प्रभु जानि लयो, दयो रस भारी, याहि रोगज्यौं मिटाइये।
'मेरो एक भक्त आहि, तोको लै दिखाऊँ ताहि, भए बिप्र बृद्ध, संग बाल, चलि जाइये'॥
पहुँचत भाष्यो जाइ 'मोरध्वज राजा कहाँ? बेगि सुधि देवो', काहू बात जा जनाइये।
"सेवा प्रभु करौ, नैंकु रहौ, पाउँ धरौ, जाइ कहौ तुम बैठो, कही आग-सी लगाइये॥८८॥

अर्थ—एक बार अर्जुनको यह अभिमान हुआ कि मैं श्रीकृष्णका बड़ा भक्त हूँ। भगवान् ने सोचा—"इस अर्जुनको सखा-भावसे अङ्गीकार कर मैंने बड़ा आनन्द दिया, जिसका इसे अभिमान होगया है। यह एक प्रकारका रोग है; इसे दूर करना चाहिये। ऐसा सोच कर आप अर्जुनसे बोले—"मेरा एक भक्त है; चलो मैं तुम्हें उसे दिखा लाऊँ। ऐसा करो कि मैं बूढ़े ब्राह्मणका रूप रखलूँ और तुम बालक बन जाओ, तब चलें।"

उस निश्चयके अनुसार दोनों वेष बदलकर महाराजा मोरध्वजके यहाँ पहुँचे द्वारपालों से पूछा—"राजा मोरध्वज कहाँ है? शीघ्र जाकर उन्हें सूचना दो कि दो ब्राह्मण आये हैं।" किसीने जाकर राजाको इस बातकी सूचना देदी। राजाने कहलवाया—"मैं प्रभुकी सेवा कर रहा हूँ, तनिक प्रतीक्षा करिये और विराजिए; अभी-अभी—मैं आपके चरण-स्पर्श करनेके लिए उपस्थित होता हूँ।"

यह उत्तर सुनते ही ब्राह्मणके आग-सी लग गई।

भक्ति-रस-बोधिनी

चले अनखाय, पाँय गहि अटकाय, जाय नृप को सुनाय, ततकाल दौरे आये हैं।
"बड़ी कृपा करी, आज फरी चाह-बेलि मेरी, निपट नबेल फल पाँय याते पाये हैं॥
दीजै आज्ञा मोहिं सोई कीजै, सुख लीजै यही, पीजै वाणी-रस, मेरे नैंन लै सिराये हैं"।
सुनि क्रोध गयो, मोद भयो सो परीक्षा हिये लिये चित-चाव ऐसे बचन सुनाये हैं॥८९॥

अर्थ—ब्राह्मण कुपित होकर चलने लगे, तो द्वारपालोंने पैर पकड़ कर उन्हें रोक लिया और राजासे सब वृत्तान्त जाकर कह दिया। सुनते ही राजा दौड़े आए और विनय-पूर्वक बोले—"आपने बड़ी कृपाकी जो मुझ अधमको अपने आगमनसे कृतार्थ किया। आज मेरी अभिलाषारूपी लता फल-फूल गई; क्योंकि आपके चरणरूपी नवीन फल मुझे प्राप्त होगए। कृपया आज्ञा दीजिए ताकि मैं उसका पालन करूँ और आनन्द का भागी बनूँ तथा आपके मधुर वचनरूपी अमृतका पान करूँ। आपके दर्शनोंसे मेरे नेत्र आज शीतल होगए हैं।"

राजाके ऐसे शब्द सुनकर ब्राह्मणका क्रोध शान्त होगया और उनके नम्रता-पूर्ण आचरण को देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। चूँकि वे राजाकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे वहाँ गए थे, अतः अत्यन्त उत्साहसे बोले—

भक्ति-रस-बोधिनी

'देवे की प्रतिज्ञा करो', 'करी जु प्रतिज्ञा हम, जाहि भाँति सुख तुम्हें सोई मोको भाई है'।
'मिल्यो मग सिंह यहि बालक को खाए जात, कही खावो मोंहि, 'नहीं, यही सुखदाई है'॥
'काहू भाँति छोड़ौ','नृप आधो जो शरीर आवै, तौही याहि तजौं'. कहि बात मो जनाई है"।
बोलि उठी तिया, 'अरधंगी मोंहि जाइ देवो','पुत्र कहे, 'मोकों लेवो', 'और सुधि आई है"॥९०॥

अर्थ—"राजन्! पहले वचन दो कि मैं जो मागूँगा, वही दोगे।" इस पर राजाने कहा—"मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, जिस बातसे आपको सुख मिलेगा, वही मुझे भी अच्छी लगेगी। मैं वही करूँगा।" ब्राह्मण बोले—"हमें मार्गमें एक सिंह मिला जो इस बालकको खा जाना चाहता था। मैंने उससे कहा—'इस बालकको छोड़ दो और मुझे खा लो', लेकिन सिंहने कहा—'मुझे तो इसे ही खाकर सुख मिलेगा।' तब मैंने सिंहसे कहा—'इस बालकको किसी शर्तपर छोड़ सकते हो कि नहीं?' सिंह बोला—'यदि राजा मोरध्वजका आधा शरीर मुझे खानेको मिल जाय, तो इसे छोड़ सकता हूँ, अन्यथा नहीं।"

राजा और ब्राह्मणके बीच इस सम्वादकको रानी भी सुन रही थी। उसने कहा—"मैं राजा की अर्धाङ्गिनी हूँ, इसलिए मुझे सिंहके खानेके लिए भेज दीजिए।' राजाके पुत्र ताम्रध्वजने भी इसी प्रकार अपना शरीर अर्पण करने के लिये कहा। इसी बीचमें ब्रह्मदेव बोल उठे—'एक बात मुझे और याद आगई।'

भक्ति-रस-बोधिनी

सुनो एक बात, 'सुत तिया लैं करौंत गात चीरैं धीरैं भीरैं नाहिं', पीछे उन भाखिये।
कीन्ह्यो वाही भाँति, अहो! नासा लगि आयो जब, ढरचो दृग नीर भीर वाकरि न चाखिये॥
चले अनखाय गहि पाँय सो सुनाये बैन 'नैंन जल वायों अंग काम किंहि नाखिये'।
सुनि भरि आयो हियो, निज तनु श्याम कियो, दियो सुखरूप, व्यथा गई, अभिलाषिये॥९१॥

अर्थ—'सिंहकी बात और सुन लीजिए, उसने कहा कि राजाको इस प्रकारसे चीरा जाय कि राजाका पुत्र आराका एक सिरा पकड़े और रानी दूसरा। दूसरी शर्त यह कि दोनों राजा के शरीरको धीरे-धीरे चीरें और तीनोंमें से एक भी कायरताका कोई लक्षण प्रकट न होने दे।'

तीनोंने ऐसा ही किया, लेकिन सिरको चीरता हुआ आरा जब नासिका पर आया, तो राजाकी बाईं आँख से आँसू बहने लगे। यह देख ब्राह्मणने कहा—"राजन्! तुम तो कातर हो रहे हो! ऐसा होनेसे तो सिंह तुम्हारे मांसको नहीं खाएगा।'

यह मिथ्या आरोप सुन कर राजाको आवेश आ गया, लेकिन उन्होंने ब्राह्मणके पैर छूते हुए कहा—'भगवन्! आप देख सकते हैं कि मेरी बाईं आँखसे आँसू निकल रहे हैं, दाहिनी बिलकुल सूखी है। आँसूका कारण यह है कि मेरा बाँया अंग आपके कोई काम नहीं आया, अतः फेंक दिया जायगा।'

राजाकी यह बात सुनते ही भगवान्‌का हृदय करुणासे द्रवित होगया और प्रसन्न होकर वह श्यामसुन्दर के रूपमें राजाके सामने प्रकट हो गए। तदुपरान्त उन्होंने अपने अमृतशीतल करसे राजाके शरीरको छूकर उसे स्वस्थ बना दिया। भगवान्‌के दर्शन करते ही राजा अपने सब कष्टोंको भूल गए। तब भगवान्‌ने कुछ वर देनेकी इच्छा प्रकट की।

भक्ति-रस-बोधिनी

'मोपं तौ न दियो जाय निपट रिझाइ लियो, तऊ रीझि दिये बिना मेरे हिय साल है।
माँगो बर कोटि, चोट बदलो न चूकत है, सूकत है मुख, सुधि आए वही हाल है॥'
बोल्यौ भक्तराज—"तुम बड़े महाराज, कोऊ थोरोइ करत काज, मानो कृत जाल है।
एक मोको दीजै दान', 'दीयो जू बखानो बेगि', 'साधु पै परीक्षा जिनि करो कलिकाल है' ॥९२॥

अर्थ—प्रभुने कहा—'राजन्! मैं सोच नहीं सकता कि तुम्हें बदलेमें क्या दूँ? तुमने अपने असाधारण त्यागसे मुझे इतना प्रसन्न कर दिया है कि कुछ कहते नहीं बनता। फिर भी रीझ कर यदि मैं कुछ न दूँ, तो मेरे मनमें यह बात सदा काँटेकी तरह खटकती रहेगी। मैं जानता हूँ कि तुम्हारे करोड़ों वर माँगने और मेरे उन्हें देनेसे उस कष्टका बदला नहीं चुकेगा जो मैंने तुम्हें दिया है। राजन्! तुम्हारी उस अवस्था का स्मरण करते ही, जब कि तुम्हारा शरीर चीरा जारहा था; मेरा मुँह सूखने लगता है।'

भगवान् की यह प्रेममयी वाणी सुनकर भक्तराज मोरध्वज बोले—'महाराज! आप बड़े उदार हैं। आपको प्रसन्न करनेके लिए जो थोड़ा-सा भी कार्य करता हैं, उसे आप बड़ा भारी सत्कर्म करके मानते हैं। अस्तु! यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हैं तो एक वर दीजिए।'

भगवान् अधीर होकर बोले—"जल्दी बताओ, राजन् !'

मोरध्वजजी नें कहा—'कलियुगमें भक्त-सन्तोंकी परीक्षा कभी न कीजिएगा! बस इतना ही आश्वासन वरके रूपमें मुझे चाहिए ।'

भगवान्के चले जानेके उपरान्त भक्त-मोरध्वज फिर अपने आराध्यकी अर्चनामें तल्लीन रहने लगे ।

श्रीमोरध्वज अथवा श्रीशिवि–जैसे आख्यानों पर त्याग अथवा अहिंसाकी शिक्षा देनेवाली बौद्धकथाओंका प्रभाव स्पष्ट-रूपसे परिलक्षित होता है। बौद्ध-ग्रन्थोंमें तथा उत्तरकालीन संस्कृत-नाटकोंमें जीमूतवाहनका ठीक इसी प्रकारका आख्यान देखनेको मिलता है। संक्षेप में वह इस प्रकार है:—

गरुड़ भगवान् पातालमें रहनेवाले नागोंको मार कर खा जाया करते थे। जितने नाग उनके भोजनके लिए पर्याप्त होते थे, उससे अधिक वे मार दिया करते थे। यह देख कर नागराजने उनसे यह तय किया कि एक नाग नित्य आपके भोजनके लिए समुद्र-तट पर भेज दिया जाया करेगा। गरुढ़जीने इस प्रस्तावको मान लिया और तबसे नियमानुसार एक नाग जाने लगा।

दैवयोगसे एक दिन शंखचूड़ नामक नागकी बारी आई। वह अपनी माताका इकलौता पुत्र था, अतः माँ के शोककी सीमा न थी। समुद्र के तीर पर बैठी हुई वह जोर-जोरसे विलाप कर रही थी और शंखचूड़ उसे तरह-तरहसे समझा रहा था। उसी समय जीमूतवाहन वहाँ होकर निकले और रोनेका शब्द सुनकर कारण जाननेके लिए ठहर गए। जब उन्हें सारा वृत्तान्त मालूम हुआ तो उन्होंने शंखचूड़ की मातासे कहा—"तुम्हारे पुत्रकी प्राण-रक्षाके लिए मैं अपना शरीर गरुड़जीको सौंप दूंगा; आप शोक न करें।' लेकिन माता और पुत्र दोनोंमें से एकने भी उनकी बात नहीं मानी। धीरे-धीरे करके गरुड़जी के आनेका समय होगया और शंखचूड़ भी शिवजीको अन्तिम प्रणाम करनेके लिए चला गया। उसके पीछे उसकी माँ भी हो ली। इस अवसरको देख कर जीमूतवाहन शीघ्र जाकर उस पत्थर पर बैठ गए जो कि बलिके लिए नियत था। क्षण-भर बाद गरुड़जी आकाशसे उतरे और चौंचसे जीमूतवाहनको उठा कर उड़ गए तथा पासके पहाड़की एक ऊँची चट्टानपर बैठकर खाने लगे। खाते समय गरुड़जीको यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनका शिकार बजाय रोने और चिल्लानेके मुस्करा रहा है। खाते-खाते वे थोड़ी देरके लिए रुक गए। तब जीमूतवाहनने गरुड़जीसे कहा—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।
तृप्तिं न पश्यामि तथाप्यहं तु किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ॥

—अभी तो नाड़ियोंसे रुधिर निकल रहा है और मेरे शरीरमें माँस भी विद्यमान है। हे गरुड़ ! आपका पेट तो भरा नहीं है, फिर आप खाते-खाते ठहर कैसे गए ?

जीमूतवाहन यह कह ही रहे थे कि शंखचूड़ घटना-स्थलपर आ पहुँचा। जीमूतवाहनको उस अवस्थामें देखकर उसने गरुड़जीसे कहा—"यह आप क्या अनर्थ कर रहे हैं ? क्या आपको नहीं मालूम कि जीव-मात्रकी रक्षा करनेवाले ये महापुरुष जीमूतवाहन हैं ?' जीमूतवाहनका यश गरुड़जीके कानोंमें भी पहुँच चुका था। वे सन्न रह गए और स्वर्गसे अमृत लाकर उनके घायल शरीरको स्वस्थ कर दिया। उन्होंने आगेके लिए प्रतिज्ञाकी कि मैं जीवहिंसा कभी नहीं करूँगा।

× × × × ×

शङ्का—श्रीमोरध्वज तथा राजा शिवि जैसे–आख्यानोंको पढ़नेके बाद स्वाभाविक-रूपसे यह

शङ्का उठती है कि परम भगवद्भक्त होते हुए भी इन महापुरुषोंके शरीर-दान का सम्बन्ध भगवद्-विषयक भक्तिसे क्या था ? श्रीमोरध्वजजी को ही लीजिए। ब्राह्मणके कहने पर बालककी प्राण-रक्षाके लिए जब उन्होंने अपना शरीर दिया तब उन्हें यह तो विदित नहीं था कि उनके सामने ब्राह्मणका रूप धारण कर स्वयं भगवान् खड़े हैं। यदि कहा जाय कि किसी अचिन्त्य, अलौकिक रहस्यमयी शक्तिके द्वारा उन्हें भगवान्‌की उपस्थितिका ज्ञान होगया, तो ऐसा मान लेने पर श्रीमोरध्वजजीके शरीर-त्याग का महत्त्व कम हो जाता है; क्योंकि ऐसा मन्दबुद्धि कौन होगा कि ऐसा अमूल्य अवसर पाकर, जबकि भगवान् स्वयं मुँह करके माँग रहें हों, अपना शरीर उनके अर्पण न कर देगा ?

समाधान—श्रीमोरध्वज अथवा राजा शिवि कर्णके समान केवल दानी ही न थे, भगवान्‌के परम-भक्त भी थे। एकान्त साधना द्वारा ये महात्मागण उस स्थितिमें पहुँच गए थे, जहाँ 'मैं' और 'मेरापन' बिलकुल नष्ट हो जाता है। यह वह अवस्था है जो 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' (अपने में सब प्राणियोंको तथा सब प्राणियोंमें अपनेको देखना) से भी बहुत आगे की है। इस दशामें विचरण करनेवाला भक्त भगवान्‌की सत्ताके अतिरिक्त और कुछ नहीं देख सकता। उसके न केवल अपने कर्म ही भगवान्‌के लिये किए जाते हैं, बल्कि और लोग जो कर्म करते हैं, उन्हें भी वह भगवत्-सम्बन्धी ही समझता है। इस दृष्टिसे ब्राह्मणकी आशा स्वयं भगवान्‌का आदेश था। श्रीमोरध्वज न किसीकी प्राण-रक्षा के लिए शरीर देने जा रहे थे और न आत्म-निवृत्तिके लिए। उनके लिए जैसी भगवत्-सेवा, वैसा ही शरीरका आरासे चिरवाना था। इस कोटिके भक्तोंको, इसलिए, केवल दानवीर समझ लेना भ्रम होगा। वे निस्सन्देह दानवीरोंकी कोटिमें आते हैं, लेकिन बलि—जैसे दानियोंकी, न कि कर्ण-जैसे; क्योंकि वीरताके भावसे संकीर्ण होते हुए भी उनकी रति भगवद्विषयक ही थी। वे पहले भक्त थे और पीछे दानी।

श्रीअलर्कजी

भक्ति-रस-बोधिनी

अलर्क की कीरति में राँचौं नित, साँचौ हिये, किये उपदेस हू न छुटैं विष-वासना।
माता मन्दालसा की बड़ी यह प्रतिज्ञा सुनौ 'आवै जो उदर माँझ फिरी गर्भ आस ना'॥
पति को निहोरो ताते रह्यो छोटो कोरो; ता को लै गये निकासि, मिलि काशी नृप शासना।
मुद्रिका उघारि औ निहारि दत्तात्रेय जु को भये भवपार करी प्रभु की उपासना॥६३॥

अर्थ—श्रीअलर्कके गुण-गानमें मैं सच्चे हृदयसे अनुरक्त रहूँ। प्रायः सांसारिक विषयोंको भोगनेकी लोगोंकी इच्छा उपदेश करनेसे भी दूर नहीं होती, किन्तु श्रीअलर्क पर अपनी माता के उपदेशका ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हें संसारको त्यागते जरा भी देर नहीं लगी। श्रीअलर्ककी माता मन्दालसाकी यह कठिन प्रतिज्ञा थी कि जो जीव मेरे गर्भमें आकर वास करेगा वह दोबारा गर्भमें आनेकी आशा (संभावना) से सदाके लिए छूट जायगा—अर्थात् वह सदा-सदा के लिए भगवान्‌के चरणोंमें रहनेका अधिकारी हो जायगा। (आपके कई पुत्र हुए और सब विरक्त होकर वनमें तपस्या करनेके लिये चले

गए।) जब सबसे छोटे अलर्कका जन्म हुआ, तो पिताने श्रीमन्दालसाजीसे अनुनय-विनय करके उसे राज-काज सँभालनेके लिए अपने पास रख लिया। (कुछ समय बाद मन्दालसाजी अपने पतिदेवके साथ बनको चली गईं और वहाँ अपने विरक्त पुत्रोंका सात्विक जीवन देख कर बड़ी प्रसन्न हुईं। यह सोचकर उन्हें बड़ा खेद हुआ कि मेरा एक पुत्र ही भगवान्की भक्तिसे वंचित रह गया। उन्होंने अपने तपस्वी पुत्रोंसे कहा कि जैसे बने वैसे अलर्कको सांसारिक प्रपंचसे छुड़ाकर अपने-जैसा बना लो ताकि मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो और उसका भी कल्याण हो। माताकी आज्ञा शिरोधार्य कर ज्येष्ठ पुत्र अपने भाई राजा अलर्कसे मिले और भगवद्भक्तिका उपदेश दिया, पर वह सफल नहीं हुए। अलर्क राज्यके लोभमें आकंठ फँसे हुए थे। इसपर उन्होंने एक दूसरा उपाय सोचा। उन्होंने अपने मामा काशिराजसे अलर्कके राज्य पर चढ़ाई करनेको कहा। काशिराजने ऐसा ही किया और एक विशाल सेना ले जाकर अलर्ककी राजधानीके चारों ओर घेरा डाल दिया।) अपने ऊपर संकट आया हुआ जानकर अलर्कने, वन जाते समय अपनी माताके द्वारा दी गई, मुद्रिकाको खोला और उसके अन्दर रखे हुए पत्रको पढ़ कर तथा श्रीदत्तात्रेयजीके उपदेशसे प्रभावित होकर राज्यको छोड़कर वन चले गए और वहाँ रात-दिन प्रभुकी परिचर्यामें मग्न रहकर इस संसारसागरसे सदाके लिए पार हो गए।

(श्रीअलर्कका विशेष चरित्र देवीमन्दालसाके प्रसङ्गमें देखिए)

मूल (छप्पय)

रिभु इक्ष्वाकरु, ऐल, गाधि, रघु, रै, गै, शुचि शतधन्वा।
अमूरति अरु रन्ति, उतंग, भूरि, देवल, वैवस्वतमन्वा॥
नहुष, जजाति, दिलीप, पूरु, यदु, गुह, मान्धाता।
पिप्पल, निमि, भरद्वाज, दक्ष सरभंग, सँघाता॥
संजय, समीक, उत्तानपाद, याज्ञवल्क्य जस जग भरे।
तिन चरन धूरि मो भूरि जे-जे हरि-माया तरे॥१२॥

अर्थ—श्रीऋभुजीसे लेकर श्रीयाज्ञवल्क्य तक भगवान्के जो तीस भक्त, श्रीहरिके मायारूपी संसारसे पार होगए, उनकी बहुत-सी चरणरजको मैं अपने मस्तक पर धारण करता हूँ।

श्रीरन्तिदेव

भक्ति-रस-बोधिनी

अहो ! रंतिदेव नृप सन्त दुसकन्त-वंस अति ही प्रसंस सो अकासवृत्ति लई है ।
भूखे को न देखि सकैं, आवै सो, उठाय देत, नेति नहिं करैं, भूखे देह छीन भई है ॥
चालिस औ आठ दिन पाछे जल अन्न आयो, दियो विप्र शूद्र नीच श्वान, यह नई है ।
हरि ही निहारैं उन मांझ, तब आए प्रभु, आए, जग-दुख जिते भोगौं भक्ति छई है ॥६४॥

अर्थ—प्रसिद्ध राजा दुष्यन्तके वंशमें प्रशंसनीय श्रीरन्तिदेवजीका जन्म हुआ। बिना प्रयत्न किये अकस्मात् जो कुछ खानेको मिल जाता उसीसे आप प्राण धारण करते थे। किसी को भूखा रहते हुए आप नहीं देख सकते थे, इसलिए आकाशीय वृत्ति से थोड़ा-सा जो कुछ भोजन मिलता उसीको उठा कर भूखोंको दे डालते थे। किसीसे मना करना आपने सीखा ही न था। इसका परिणाम यह हुआ कि उचित मात्रामें भोजन न मिलनेके कारण आपका शरीर अत्यन्त क्षीण होगया। एक बार ऐसा हुआ कि आपको सैंतालीस दिन बिना आहारके बीत गए। अड़तालीसवें दिन जब अन्न और जल प्राप्त हुआ, तो उसे आपने पहले किसी ब्राह्मण को, फिर एक शूद्रको और जो कुछ बचा उसे एक भूखे कुत्तेको दे दिया और स्वयं बिना खाये रह गए। राजा श्रीरन्तिदेव ने उन सबमें भगवान्के ही दर्शन किए। उनकी इस प्रकारकी दयाभावना और समदृष्टि देखकर प्रभुने आकर दर्शन दिये और वर माँगनेको कहा। प्रभुके दर्शन पाकर आप धन्य हो गए। आपने उनसे यह वर माँगा कि मुझमें जीवमात्रके दुःखको भोगने की शक्ति पैदा हो जाय और इस प्रकार उन सबके कष्ट दूर हो जायँ।

श्रीमद्भागवतके अनुसार कुत्तों और उसके मालिकको बचा हुआ अन्न दे देनेके बाद राजा श्रीरन्तिदेवके पास केवल पानी शेष रह गया। उसे उठाकर वह पीने ही वाले थे कि इसी बीचमें पुल्कस जातिका कोई वन्य व्यक्ति आ पहुँचा और राजासे पानी माँगा। उसकी दीनताभरीवाणीको सुनकर राजा अपनी भूख-प्यास भूल गए और जीवोंकी दशापर दुःखी होते हुए बोले—

न कामये ऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्ये ऽखिलदेहभाजामन्तः स्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ भा० ९-२१-१२

—ईश्वरसे मैं यह नहीं माँगता हूँ कि मुझे अणिमादि आठों सिद्धियाँ मिल जायँ या मेरा मोक्ष हो जाय। मेरी कामना तो यह है कि मैं सब प्राणियोंके हृदयमें समाकर उनके कष्टोंको अपने ऊपर ले लूँ, ताकि उनके दुःख दूर हो जायँ।

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ ९-२१-१३

—अहा ! प्यासके कारण दीन हुए इस पुल्कस व्यक्तिकी भूख, प्यास, शारीरिक-थकावट, खेद, शोक, मोह-सब मेरे जल देनेसे दूर होगए।

बादमें विष्णु भगवान्की मायासे बने हुए तीनों लोकोंकी मायाके स्वामी राजा श्रीरन्तिदेवके

समक्ष प्रकट होकर, उन्हें लुभानेके लिए, तरह-तरहके वर देनेको तैयार होगये, लेकिन उन्होंने उन सबको नमस्कार कर बिदा किया-किसीसे कुछ नहीं माँगा। राजाकी भक्तिका प्रभाव आस-पासके योगियों पर ऐसा पड़ा कि सबके सब ज्ञानका गोरखधन्धा छोड़कर नारायणकी उपासना करने लग गए।

इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका निम्नलिखित श्लोक भी द्रष्टव्य है—

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम् ।
तस्मात् निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ।। ११·२०-३५

अत्यन्त अभिलाषा-रहित होना ही सबसे बड़ा मोक्ष है, इसलिए मेरा (भगवान्का) भक्त वही हो सकता है जो कामना-रहित है और अपने लिए किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता।

श्रीगुहजी

भक्ति-रस-बोधिनी

भोलन को राजा गुह राम अभिराम प्रीति भयो बनवास मिल्यो मारग में आइकै।
करो यह राज जू बिराजि सुख दीजै मोको, बोले चैन-साज तज्यों आज्ञा पितु पाइकै।।
दारुन वियोग अकुलात दृग अश्रुपात पाछे लोहु जात, वह सकै कौन गाइकै।
रहे नैंन मूँदि "रघुनाथ बिनु देखौं कहा?" अहा! प्रेम-रीति, मेरे हिये रही छाइकै।।९५।।

अर्थ—शृङ्गवेरपुरके रहनेवाले भीलोंके राजा गुहकी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें अतिशय प्रीति थी। जब प्रभु वनवासके लिये पधारे तो उनका आगमन सुनकर गुहजी मार्गमें ही उनसे मिले और प्रार्थना की—"महाराज यह राज्य आपका ही है। आप राजा बन कर यहाँका शासन कीजिए; मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।"

श्रीरामचन्द्रजीने उत्तरमें कहा—"मैं तो पिताकी आज्ञासे अब राजसी ठाठ छोड़ कर आया हूँ", (अतः फिर राजा बननेका प्रश्न ही नहीं उठता।)

श्रीरामचन्द्रजीके चले जाने पर उनके वियोगमें निषादराजका मन व्याकुल रहने लगा। उनकी आँखोंसे दिन-रात आँसू बहते रहते—यहाँ तक कि रोते-रोते बादमें आँसुओंकी जगह रुधिर टपकने लगा। गुहजीकी उस अवस्थाका वर्णन करना कठिन है। वह अब अपनी आँखें बन्द किये रहते और जब कोई पूछता तो कहते—"श्रीरघुनाथजीके सिवा और भला किसे देखूँ?" टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि गुहजीके प्रेमकी यह विलक्षण रीति मेरा सर्वस्व बन कर रह गई है। मैं चाहता हूँ कि भगवान्के चरणों में मेरी भी ऐसी अविचल प्रीति और निष्ठा हो।

निषादराजके इस प्रसंगको महाकवि श्रीतुलसीदासने बहुत रच-पच कर लिखा है। अपने प्रभु के आगमनसे पुलकित होकर श्रीगुहने उनका चरणामृत लेनेके लिए क्या किया, यह नीचेके कवित्तमें देखिये—

प्रभु रुख पाइके बुलाय बाल घरनी को, बन्दि कै चरन चहुँ दिसि बैठे घेरि-घेरि।

छोटो-सो कठौतो भरि आनि पानी गंगा को, धोइ पायँ पियत पुनीत बारि फेरि-फेरि ।।
'तुलसी' सराहैं ताको भाग सानुराग, सुर बरषि सुमन जय-जय कहैं टेरि-टेरि ।
विविध सनेह-सानी बानी असयानी सुनि, हँसे राघौ जानकी लषन तन हेरि-हेरि ।।

तुलसीदासजीने इस कवित्त द्वारा भक्त और भगवान्‌के मिलनेकी एक जीती-जागती तस्वीर खड़ी कर दी है। प्रभु श्रीराम बीचमें बैठे हैं; उनके चारों ओर गुहका परिवार है। अपने इष्टदेवका चरणामृत लेनेके लिए कोई बड़ा पात्र ढूँढ़ निकालने का समय और अवकाश नहीं था, इसलिए छोटी-सी कठौती को ही लेकर सबके सब व्यस्त होगए हैं। चरणामृत पीनेकी तृष्णा किसी प्रकार भी शान्त नहीं होना चाहती, इसलिए बार-बार गंगाजीमें से भरकर लाते हैं। पैर धोते जा रहे हैं और प्रेममें बेसुध होकर नजाने क्या-क्या कह रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजी इस भोलेपन पर न्यौछावर हो रहे हैं। बीच-बीचमें वह श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजीकी ओर देख लेते हैं, मानों कह रहे हों—"देख लो! इसे कहते हैं प्रेम! इन बेचारोंके पास अभिमान करनेके लिए क्या है?—न ज्ञान है, न कुल है, न वाणी है, न वेष है, न आचार-विचार है। इन्हें क्या यह आशा थी कि इस जन्ममें कभी ये मेरा साक्षात्कार कर सकेंगे? परन्तु फिर भी न जाने कबसे प्रतीक्षा करते आरहे हैं। इतना दूर रह कर इतना पास होते हुए किसी को न देखा होगा!

ऐसा लगता है कि श्रीलक्ष्मणजी, श्रीजानकीजी तथा स्वर्गवासी देवताओं और मुनियोंको प्रेम का यह अलौकिक दृश्य भगवान्‌को दिखाना था, नहीं तो ऐसा क्यों होता कि—

जासु के नाम अजामिल से खल कोटि नदी भव छाँड़त काढ़े ।
जे सुमिरें गिरि मेरु सिला-कन होत, अजा-खुर बारिध बाढ़े ।।
तुलसी जिहि के पद-पंकज सों प्रगटी तटनी जु हरं अघ गाढ़े ।
ते प्रभु हैं सरिता तरिबे कहँ माँगत नाव करार पै ठाढ़े ।।

बात यह है कि प्रेमके जगत्‌में लौकिक नियम एक भी लागू नहीं होता। प्रीतिकी परिपाटी ही विलक्षण है—

प्रीति की रीति कछू नहिं राखति, जाति न पाँति नहीं कुल गारो ।
प्रेम के नेम कहूँ नहिं दीसत लाज न कानि लग्यो सब खारो ।।
लीन भयो हरि सों अभ्यन्तर, आठहु जाम भरहै मतवारो ।
'सुन्दर' कोउ न जानि सके यह प्रेम के गाँव को पेढ़ौ हिं न्यारो ।।

भक्ति-रस-बोधिनी

चौदह बरस पाछे आए रघुनाथ नाथ, साथ के जे भील कहैं—"आए प्रभु देखिये" ।
बोल्यो-'अब पाऊँ कहाँ होति न प्रतीति क्यों हूँ', प्रीति कर मिले राम, कहि 'मोको पेखिये' ।।
परसि पिछाने लपटाने सुख-सागर समाने, प्रान पाये मानो भाल भाग लेखिये ।
प्रेम की जु बात क्योंहूँ बानी में समात नाहिं, अति अकुलात कहौ कैसे कैं बिसेखिये ।।९६।।

अर्थ—चौदह वर्ष बाद पुष्पक-विमान पर चढ़कर लंकासे लौटते हुए श्रीरामचन्द्रजी जब अपने प्रिय मित्रसे मिलनेके लिए श्रृंगवेरपुर उतरे, तो निषादराजके साथियोंने उन्हें दौड़कर खबर दी—"प्रभु आये हैं, उनसे मिल लीजिए।" उन्हें विश्वास नहीं हुआ। बोले—"मेरा ऐसा भाग्य कहाँ कि प्रभुको फिरसे पा जाऊँ!" (इतनेमें ही श्रीरामचन्द्रजी आ पहुँचे और भुजाओं से गुह को भेंटते हुए बोले—"देखो, मैं आ गया हूँ!" (भगवान्

के वियोगमें रोते-रोते गुहजी की आँखें मारी गई थीं, इसलिए) उनके श्रीअङ्गका स्पर्श होते ही उन्हें पहिचान लिया और प्रभुसे लिपट गए। गुहजीको ऐसा लगा जैसे वे आनन्दके समुद्रमें डुबकियाँ ले रहे हों—जैसे गए हुए प्राण फिर लौट आये हों, मानों भाग्यकी रेखाएँ अपने पूर्ण सौभाग्यके साथ चमक उठी हों। टीकाकार श्रीप्रियादासजी कहते हैं कि ऐसे अलौकिक प्रेमका वर्णन वाणी द्वारा नहीं किया जा सकता; क्योंकि उसमें इतनी शक्ति ही नहीं है कि उसे पूराका पूरा ग्रहण कर ले। वह तो मनके भावों को शब्दोंका रूप देनेके लिए घबड़ाकर रह जाती है। ऐसेमें इस प्रेमकी विशेषताको व्यक्त करनेकी सामर्थ्य वाणीमें कहाँ ?

—★—

महर्षि श्रीऋभुजी

महर्षि ऋभु ब्रह्माके मानस-पुत्र हैं। यद्यपि स्वभावसे ही ये ब्रह्म-तत्वज्ञ एवं निवृत्तिपरायण-भक्त हैं, तथापि सद्गुरु-मर्यादाकी रक्षाके लिए इन्होंने अपने बड़े भाई सनत्सुजातसे दीक्षा ली। इनकी क्रियाएँ बिलकुल सहज थीं। यहाँ तक कि मल-मूत्र त्याग एवं वस्त्र-धारणका भी इनको ध्यान नहीं रहता था। शरीरके अतिरिक्त इनकी कोई भी कुटी नहीं थी।

एक बार यों ही विचरण करते हुए ये पुलस्त्य ऋषिके आश्रममें जा पहुँचे। वहाँ पुलस्त्यका पुत्र निदाघ वेदोंको रट रहा था। जब ऋभु उसके पास गए तो वह उठा और आगे आकर इनको प्रणाम किया। ऋभुको निदाघपर दया आगई। उन्होंने उसे अधिकारी समझकर कहा—"निदाघ ! जीवनका वास्तविक उद्देश्य आत्मज्ञान प्राप्त करना है। आत्मज्ञानकी अभिलाषा और प्रयत्नसे दूर रहकर तोतेके समान केवल वेदों का बारम्बार उच्चारण करना कोई महत्त्व नहीं रखता। तुम उस पवित्र ज्ञानके अधिकारी हो, अतः उसीका सम्पादन करो।

महर्षिकी बात निदाघके मनमें बैठ गई। वह ब्रह्मज्ञानके लिए व्याकुल होने लगा। उसने अपने पिता का आश्रम त्याग दिया और महर्षिके साथ हो लिया। वह उनके साथ भ्रमण करता हुआ तत्व-ज्ञानका उपदेश प्राप्त करने लगा। निदाघको आत्म-ज्ञानका उपदेश देकर ऋभुने उसे गार्हस्थ्य-जीवनमें प्रवेश करनेकी आज्ञा दे दी। महर्षिकी आज्ञासे निदाघ पिताके आश्रमको लौट आया और अपना विवाह हो जाने पर देविका नदीके तटपर वीरनगर के पास स्थित उपवनमें आश्रम बनाकर कर्मपरायण हो गृहस्थ-धर्मका पालन करने लगा।

कुछ दिनके बाद दयालु महर्षिको अपने प्रिय शिष्यका ध्यान आया तो वे उसके घर पर आए। निदाघ उनको न पहिचान सका; फिर भी गार्हस्थ्य-धर्मके अनुसार उनका अतिथिसत्कार किया, अर्घ्य-पाद्य निवेदन कर भोजन कराया और हाथ जोड़कर बोला—"महाराज ! आपकी भोजनसे तृप्ति तो हो गई न ? आप आ कहाँसे रहे हैं और आपका कहाँ जाने का विचार है ? आपका शुभ निवास-स्थान कहाँ पर है ?"

इन सभी प्रश्नोंका उत्तर महर्षि ऋभुने तत्त्ववेत्ताके समान दिया। उन्होंने बतलाया कि 'मैं' आत्मा है। वह न कभी अतृप्त है और न कभी उसकी तृप्ति ही होती है। वह सर्वव्यापी है, अतः प्रत्येक स्थानपर व्याप्त है, फिर भी उसका कोई निश्चित निवास नहीं।"

आगन्तुक महर्षिकी इन बातोंको सुनकर निदाघ बड़े प्रभावित हुए और प्रसन्न होकर उनके चरणों पर गिर पड़े। ऋभुने उन्हें बतलाया कि वे उसके गुरु हैं। निदाघ ने एक बार फिर परम प्रसन्न हो ऋषिके चरणोंका स्पर्श किया। इसके बाद ऋभु बिदा होकर अन्यत्र विचरण करने चले गए।

बहुत दिनोंके पश्चात् एक दिन वीरपुर नरेशकी सवारी निकल रही थी। मार्ग में दर्शकों के कारण बड़ी भीड़ हो रही थी। किनारेपर निदाघ भी भीड़ निकल जाने की प्रतिक्षामें खड़ा था। उसी समय ऋभुजी फिर कहींसे आ निकले और इस बार स्वयं निदाघसे उस भीड़का कारण पूछा।

निदाघने उत्तर दिया—"राजाकी सवारी निकल रही है, उसीके दर्शकोंकी यह भीड़ है।" महर्षिने फिर प्रश्न किया—"तुम तो जानकार मालूम पड़ते हो। मुझे जरा यह तो बतलाओ कि इस भीड़में राजा कौन-सा है और दर्शक कौनसे हैं ?"

निदाघ—"जो इस पहाड़के समान ऊँचे काले हाथी पर सवार है वह तो राजा है और अन्य दर्शक हैं !"

ऋभुजी—"मेरी समझमें नहीं आया कि हाथी कैसे नीचे है और राजा कैसे ऊपर है ? साफ-साफ बतलाओ।

ऋभुकी बात सुनकर निदाघने कुछ देर सोचा और फिर तुरन्त मुनिकी पीठपर उछल कर जा बैठा और बोला—"देखो ! मैं राजाके समान ऊपर हूँ और तुम हाथीके समान नीचे हो।"

ऋभुने बड़ी शान्तिसे कहा—"अगर मैं हाथीके समान और तुम राजाके समान हो तो बतलाओ फिर 'मैं' और 'तुम' कौन हैं ?"

इतना सुनते ही निदाघको आत्म-ज्ञानका ध्यान आगया और वह अपने गुरुको पहिचान कर उनके चरणों पर गिर पड़ा। उसने हाथ जोड़कर क्षमा माँगी और कहा–"आप मेरे गुरु ऋभु हैं; मैं आपको पहिचान नहीं पाया। आपके समान अद्वैत-संस्कार-संस्कृत चित्त किसीका नहीं है। मैंने बड़ा भारी अपराध किया है। आप तो सन्त हैं; आपका स्वाभाव क्षमाशील है। कृपाकर मेरे अपराधके लिए मुझे क्षमा कर दीजिए।"

ऋभुने फिर कहा–"संसारमें मुझे नहीं पता कि कौन अपराधी है और कौन क्षमाशील है ? यदि एक वृक्षकी दो शाखाएँ परस्पर रगड़ खा जायँ तो इसमें कौनसी का दोष है ? निदाघ ! तुम आत्म-ज्ञानको व्यावहारिक रूप दो। मैंने पहले तुम्हें व्यतिरेक मार्गसे आत्माका उपदेश किया था। उसे तुम भूल गए। अब अन्वय-मार्गसे किया है। इसका पालन करो। यदि इन दोनों भागों पर विचार करोगे तो संसारमें रहकर भी तुम सांसारिकताके प्रभावसे अलग रह सकोगे।" इसके बाद निदाघसे अनेक प्रकारसे सत्कृत होकर ऋभुजी पुनः स्वेच्छाके अनुसार विचरण करने चले गए। उनकी कृपासे निदाघको आत्म-तत्वका बोध होगया। आज भी महर्षि ऋभु हमारे पास न जाने कब और किस रूपमें आते होंगे और न जाने कितने अज्ञानी निदाघोंको उन्होंने आत्म-निष्ठ बना दिया होगा।

दूसरी कथा–दूसरे ऋभुजी एक और भी हुए हैं। ये ब्राह्मण-बालक थे। ये नित्य-प्रति प्रेमसे शिव-लिङ्गकी पूजा किया करते थे। इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर एक बार भगवान् शंकर ने इनको प्रत्यक्ष दर्शन देकर कृतार्थ किया और वर माँगनेको कहा। बाल-बुद्धि जो ठहरी। आप बोले–"यदि आपसे भी बड़ा कोई हो तो आप मुझे उसके दर्शन कराइये। शिवजी चक्करमें पड़ गए। इतने ही में श्रीहरि वहाँ प्रकट हो गए। उनके सौन्दर्यको देखकर ऋभु चित्र-लिखे से स्तब्ध स्थित रह गए। श्रीहरिने उनसे वर माँगनेको कहा। ऋभुजी अब क्या माँगते ? उनकी समस्त कामनाएँ आज भगवान् का दर्शन करके पूरी हो गई थीं। वे प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े और उनकी अनेक प्रकारसे स्तुति करके मौन हो गए। फिर दूसरे ही क्षण बोले–"भगवन् ! मुझे अपनी अनपायिनी भक्ति देकर कृतार्थ कीजिए।" श्रीहरि 'तथास्तु कहकर अन्तर्धान होगए।

श्रीइक्ष्वाकुजी

इनकी उत्पत्ति सूर्य-वंशमें उत्पन्न होने वाले महाराजमनुकी नासिकासे हुई थी। ये बड़े प्रतापी थे। इनके सौ पुत्र थे। महाराज इक्ष्वाकुने अनेक यज्ञोंका अनुष्ठान

किया। एक बार ये अष्टका-श्राद्ध कर रहे थे। उसमें पवित्र पशुओंके मांसकी आवश्यकता पड़ी। महाराजने अपने पुत्र विकुक्षिको आज्ञा दी–"बेटा! जल्दीसे जाकर श्राद्धके योग्य पवित्र पशुओंका शिकार करके मांस ले आओ। विकुक्षि शिकारके लिए जंगलकी ओर चल दिए। वहाँ उन्होंने कितने ही पवित्र पशुओं का बध किया। जब वे लौटने लगे तो परिश्रमके कारण उनका शरीर चूर-चूर हो रहा था। भूख भी लग आई थी। वे इस बातको भूल गए कि श्राद्धके लिए लाये पशुओंको स्वयं न खाना चाहिए और एक खरगोशको खाकर अपनी भूख शान्त कर ली। विकुक्षिने बचा हुआ मांस लाकर अपने पिताजी को दे दिया। इक्ष्वाकुने अपने गुरुजीसे उसे प्रोक्षण करनेको कहा तो उन्होंने बतलाया कि यह मांस तो दूषित एवं श्राद्धके अयोग्य है। गुरुजीके बतलाने पर राजा को अपने पुत्रकी करतूतका पता लग गया। उन्हें शास्त्रीय विधिका उल्लँघन करनेवाले अपने पुत्र पर बड़ा क्रोध आया और उसे देशसे निकाल दिया। इसके अनन्तर गुरुदेवने इक्ष्वाकुसे ज्ञान-चर्चा की। उस परम-ज्ञानको प्राप्त करके उन्होंने योगाभ्यास द्वारा अपने शरीरको त्याग दिया और परमधाममें जाकर निवास करने लगे।

श्रीपुरूरवाजी

यह बुधके पुत्र थे; माताका नाम था इला। इसीसे इन्हें 'ऐल' भी कहा जाता है। इनके रूप, गुण, उदारता और पराक्रमकी प्रशंसा सुनकर उर्वशी नामक अप्सरा इनपर मुग्ध होगई। मित्रावरुणके शापसे उर्वशी को जब पृथ्वीतल पर आना पड़ा, तब वह पुरूरवाके साथ रहने लगी, लेकिन उसकी दो शर्तें थीं। पहली तो यह कि वह जिन दो भेड़के बच्चोंको अपने साथ लाई थी और पुत्रवत् मानती थीं, उनकी रक्षाका भार राजा अपने सिरपर ले। दूसरी यह कि वह राजाको कभी नग्न-अवस्थामें न देखे। पुरूरवाने दोनों शर्तें स्वीकार कर लीं।

इसी बीचमें इन्द्र उर्वशीके विरहमें व्याकुल हो उठे और गन्धर्वोंको बुलाकर आज्ञा दी कि जैसे बने, उर्वशीको लाया जाय। इन्द्रकी आज्ञासे गन्धर्व भेड़के बच्चोंको आधी रातमें चुरा कर ले चले। उधर बच्चोंकी पुकारसे पुरूरवा सोतेसे जाग पड़े और तलवार लेकर नंगे ही गन्धर्वोंके पीछे भागे। गन्धर्वोंने बच्चोंको तो छोड़ दिया, लेकिन बिजली चमका कर नग्न पुरूरवाको उर्वशीको दिखला दिया। परिणाम यह हुआ कि प्रतिज्ञा-भंग हो जानेके कारण उर्वशी राजाको छोड़कर चली गई।

राजा उसे खोजते-खोजते कुरुक्षेत्र पहुँचे और लौट चलनेके लिए उससे तरह-

तरहसे अनुनय-विनय किया। उर्वशीने कहा—"राजन्! स्त्रियोंका विश्वास करके तुमने बड़ी भूल की। ये किसीकी सगी नहीं होतीं। अपने जरासे स्वार्थके लिए ये अपने पति और भाइयोंको मरवा डालती हैं। इनकी मायासे तुम छूटनेकी चेष्टा करो।"

राजा फिर भी नहीं माने। तब उर्वशीने प्रतिज्ञा की कि मैं साल-भर बाद तुम्हारे पास एक रातके लिए फिर आऊँगी और तुम्हारे लिए कई पुत्रोंको जन्म दूँगी। राजा चले गए। एक साल बाद उर्वशी फिर आई और राजाको विरहसे अत्यन्त व्याकुल देखकर बोली—"इन गन्धर्वोंकी कृपासे तुम मुझे प्राप्त कर सकते हो।" गन्धर्वों से याचना करने पर उन्होंने राजाको आगकी एक स्थाली (चरु पकानेका पात्र-विशेष) दी। राजा इतने मूढ़ हो गये थे कि उस पात्रको ही उर्वशी समझ कर बहुत दिनों तक जंगलोंमें घूमते रहे। अन्तमें जब उन्हें ज्ञान हुआ, तो स्थालीको एक पीपलके पेड़के नीचे रख कर घर लौट गये। त्रेतायुगके प्रारम्भ होने पर राजाने उसी पीपलके पेड़के नीचे पहुँच कर पीपल और शमी (छोंकरा) की लकड़ियोंसे अरणी (आग पैदा करने का यन्त्र) बनाया और आग पैदा की। इसके बाद त्रयी विद्याकी सहायतासे अग्निमें पुत्रकी भावना की और श्रीविष्णुभगवान्‌का यज्ञ किया। कहते हैं, सत्युगमें प्रणवरूप (ओंकार) एक वेद था, एक ही नारायणदेव थे, एक ही अग्नि थी और हंसस्वरूप एक ही वर्ण था। त्रेतामें राजसगुण प्रधान होनेके कारण यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान करनेके लिए पुरूरवाने आहवनीय आदि तीन प्रकारकी अग्नियोंको जन्म दिया और वेदका तीन भागों में विभाजन किया। इस प्रकार यज्ञेश्वरकी आराधना में अपना शेष जीवन बिता कर पुरूरवा अपनी प्रजा-सहित-गन्धर्वलोकको चले गए।
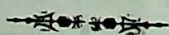
श्रीगाधिजी

यह बड़े तपस्वी थे। विश्वामित्र ऋषि आपके ही पुत्र थे। जमदग्नि-ऋषि गाधि-ऋषिके दौहित्र (धेवते) थे। जमदग्निके ही परशुराम हुए, जिन्होंने इक्कीसवार क्षत्रियोंका संहार कर अपना बदला लिया।

—★—

श्रीरघुजी

महाराज रघु इक्ष्वाकु-वंशीय राजा दिलीपके पुत्र थे। दिलीपने महर्षि वशिष्ठ की गाय-नन्दिनीकी सेवा करके इन्हें प्राप्त किया था। महाराज रघुने कितने ही अश्वमेध यज्ञ किए। एकबार जब आप यज्ञ कर रहे थे तो इन्द्र यज्ञाश्वको चुरा लेगया।

रघुने उसका पीछा किया। वे इन्द्रसे बड़ी वीरतासे लड़े। महाराज रघु जब किसी प्रकार परास्त होते दिखाई नहीं दिए तो इन्द्रने अपने वज्रका प्रयोग किया। वज्रकी चोटसे मूर्छित होकर रघु संग्राम-भूमिमें गिर पड़े, परन्तु थोड़ी देर बाद जब उन्हें होश आया तो वे फिर युद्धके लिए उद्यत हो गए। रघुकी इस वीरतासे इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें इन्द्रासनको छोड़कर शेष सब यज्ञका फल दे दिया।

महाराज रघुने अपने शासन-कालमें अनेक प्रकारके यज्ञ किए। एक-बार विश्वजित्-यज्ञमें अपना समस्त धन इन्होंने दान कर दिया। इनके स्वयंके पास भी नित्य के व्यवहारके लिए केवल मिट्टीके वर्तन ही शेष रह गए थे। उसी समय वरतन्तुका शिष्य कौत्स अपनी गुरु-दक्षिणाके लिए चौदह कोटि-भार स्वर्ण माँगनेके लिए इनके पास आया। जब उसने महाराजके पास प्रवेश किया तो उनको पूर्णरूपेण अर्थहीन एवं निष्किञ्चन देखकर उसका साहस यह न हुआ कि गुरु-दक्षिणाके लिए उनसे याचना करे और वह राजा रघुको बिना कुछ अपना अभिप्राय बताए ही लौटने लगे। महाराज ने उन्हें रोका और उनसे आनेका कारण पूछा।

ब्राह्मण-कुमारने कहा—"महाराज! मैंने आपकी दानशीलताके बारेमें सुना था, आप अद्वितीयदानी हैं किन्तु यहाँ आकर मुझे मालूम पड़ा कि आपने विश्व-जित् यज्ञमें समस्त धन याचकोंको दानकर दिया है और अब कुछ भी शेष नहीं है। ऐसी दशामें शायद आप मेरा मनोरथ पूरा न कर सकें।"

राजाने कहा—"नहीं ब्राह्मण-कुमार! आप मुझे अपना अभिप्राय बतलाइए; मैं अवश्य उसे पूरा करनेकी कोशिश करूँगा।"

कौत्सने कहा—"राजन्! गुरुदेवके चरणोंमें रहकर जब मैं समस्त विद्याओंको प्राप्त कर चुका तो मैंने गुरुजीसे प्रार्थना कि वे अन्य छात्रोंके समान मुझसे भी गुरु-दक्षिणा ग्रहण करें; किन्तु मेरे द्वारा की गई सेवाको ही उन्होंने गुरु-दक्षिणा मानकर मुझसे गुरु-दक्षिणाके लिए आग्रह न करनेको कहा। मैंने समझा कि गुरुदेव मुझे गरीब जानकर मेरी उपेक्षा कर रहे हैं, अतः मैंने गुरु-दक्षिणा माँगनेपर विशेष जोर दिया। इस प्रकार अतिशय आग्रहसे गुरुजीको कुछ क्रोध आ गया और बोले—"अच्छा, नहीं मानता है तो चौदह कोटि सुवर्ण-मुद्राएँ हमको लाकर दे। राजन्! मैं इसी राशिके लिए आपके पास आया था।"

महाराज रघुने कहा—"यदि क्षत्रिय-राजाके दरबाजेसे एक विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण निराश लौटे तो उसके राज्य धन-धान्य और कोषको सौ-बार धिक्कार है!

आप कुछ समय तक प्रतीक्षा कीजिए; मैं कुबेर पर चढ़ाई कर आपकी गुरु-दक्षिणाका प्रबन्ध करूँगा।"

सेनाध्यक्षोंको सेना सजानेकी आज्ञा दी गई। बातकी बातमें सब सैनिक तैयार हो गए। दूसरे दिन प्रातःकाल चलनेका निश्चय किया गया। सवेरा हुआ तो कोषाध्यक्ष रघुके पास आया और बोला—"महाराज! आपके पराक्रमसे स्वयं भयभीत हो रातमें कुबेरने अपार स्वर्णकी वर्षा की है। अब आपको उसपर आक्रमण करनेकी आवश्यकता नहीं है।"

महाराज रघु कोषागारमें गए तो उन्हें चारों ओर असंख्य स्वर्ण-मुद्राएँ दिखाई दीं। उन्होंने सब मुद्राओंको घोड़े, ऊँट और खच्चरों पर लदवाया और ब्राह्मण-कुमार के सामने पहुँचा दिया।

ब्राह्मण-कुमारने देखा कि मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं। वे राजा से कहने लगे—"महाराज! मैं इतनी स्वर्ण-मुद्राओंका क्या करूँगा? मुझे तो केवल चौदह कोटि की ही आवश्यकता है।"

राजाने कहा—"ऋषिकुमार! आपने ठीक कहा; किन्तु ये सब स्वर्ण-मुद्राएँ केवल आपके ही लिए आई हैं। आपके निमित्त आए धनका प्रयोग अगर मैं करता हूँ, तो मुझे न-जाने कौनसा नरक भोगना पड़ेगा।"

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, परन्तु महाराजने उस धनको स्वीकार न किया। अन्तमें चौदह कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ तो ब्राह्मण-कुमार ले गए और शेष धनको महाराजने अन्य ब्राह्मणोंको लुटा दिया। ऐसा दाता कौन होगा जो याचकोंके मनोरथ इस प्रकार पूर्ण करे?

महाराज रघुका सर्वस्व दानके लिए ही था। एक बार इनकी सुन्दरी स्त्रीपर किसी ब्राह्मण की दृष्टि पड़ गई। ब्राह्मण शिवका उपासक था। राज-महिषीके समान सुन्दर युवतीकी प्राप्ति असम्भव समझ कर वह अपने आराध्यके सम्मुख गया और वैसी ही सुन्दर स्त्रीके पानेकी अभिलाषासे अपना मस्तक काटकर मरने लगा। महाराजको इसका समाचार मिला। उन्होंने राज्य-सहित अपनी स्त्रीको ब्राह्मण-देवके लिए सौंप दिया।

इस प्रकार एक नहीं, अनेक प्रकारसे प्रजा-जनोंकी मनोकामनाको पूरा करते हुए महाराज रघुने इस धरतीपर शासन किया। अन्तमें समस्त राज्य-भार अपने पुत्र अजपर छोड़कर आप भगवान्का भजन करनेके लिए वनमें चले गए।

श्रीगयजी

श्रीगयजी भगवान्‌के परम-भक्त श्रीप्रह्लादजीके वंशमें पैदा हुए थे। उन्हें श्रीप्रह्लादजीके निम्नलिखित उपदेशपर पूरा विश्वास था--

नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ।। (श्रीमद्भा० ७।७।५१)

—भगवान् मुकुन्दको प्रसन्न करनेके लिए केवल द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) होना ही पर्याप्त नहीं है और न देवता अथवा ऋषि होना ही। क्योंकि वे दयामय न तो सूखे सदाचारसे प्रसन्न होते हैं, न बहुतसे शास्त्रोंके ज्ञान से।

इसी कारण वे सब कुछ त्यागकर भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए तपस्या करने लगे। उनकी तपस्या बड़ी कठोर थी। वे सहस्रों वर्षों तक एक पैरसे खड़े रहे। उनका चित्त भगवान् में लग गया था और हृदयमें उनकी माधुरीका साक्षात्कार हो जानेके कारण उनका रोम-रोम प्रसन्न हो रहा था। उस रसके कारण, दीर्घ कालसे बिना कुछ खाए ही, उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं तेजस्वी रहता था। उनके शरीरसे निकलनेवाले किरण-पुञ्जसे दिशाएँ आलोकित रहती थीं। अनेक बार ब्रह्मा एवं शङ्कर उन्हें विभिन्न प्रकारके लालच एवं वरदान देनेके लिए आए, किन्तु गयजीको उस आनन्दके सामने कोई भी वस्तु ऐसी न लगी कि जिसके लिए वे इनसे याचना करते। उनका तो यह विचार था कि सदा-सर्वदा अनन्तकाल तक इसी प्रकार हृदयस्थ भगवान्‌की माधुरीका आस्वादन करते रहें।

इस कठोर तपस्या और नित्यप्रति बढ़ते हुए दिव्य तेजको देखकर इन्द्रके हृदयमें अनेक प्रकारकी शङ्काएँ होने लगीं। इसी भयसे वह कई बार इनकी तपस्याको समाप्त करने एवं इनका अन्त करनेके लिए स्वयं आया और अपने अन्य सहयोगियोंको भेजा; परन्तु उनके प्रयत्नोंका प्रभाव श्रीगयजी पर कुछ भी न पड़ा। उनके अस्त्र-शस्त्र भक्तके शरीरका स्पर्श पाते ही टुकड़े हो जाते थे। न तो गयके शरीरपर उनका कुछ प्रभाव ही होता था और न उनके हृदयमें इनके प्रति क्रोध या प्रतिक्रियाके भाव ही पैदा होते थे; क्योंकि उनको इन सब बातोंका ध्यान ही नहीं था।

इस प्रकार गयका तेज बढ़ता ही गया। ब्रह्माजीको बड़ी चिन्ता होने लगी। कहीं ऐसा न हो कि इस तेजके बढ़ने से सत्व-गुणकी वृद्धि सीमा पार कर जाय एवं सृष्टिके रजोगुण और तमोगुण बिलकुल नष्ट हो जायँ और अकालमें ही प्रलयकी तैयारी हो जाय। वे भगवान्‌के पास गए और चिन्ताका कारण उन्हें बतलाया। विश्व-नियन्ता ने इसका उपचार बतला दिया और ब्रह्माजी श्रीगयके पास आकर बोले–"असुरराज !

तुम तो मुझसे कोई वरदान माँगते नहीं, किन्तु आज मैं तुमसे एक वरदान माँगने आया हूँ। मुझे यज्ञ करना है। मैं देखता हूँ धरतीका कोई भी भाग इतना पवित्र नहीं जितना कि तुम्हारा यह शरीर, अतः मैं इसको भूमिके रूपमें प्रयुक्त करना चाहता हूँ।"

गयने कहा—"प्रजापति ! मेरे शरीरका इससे श्रेष्ठ उपयोग क्या होगा ? इस कार्यके लिए आप मेरे शरीरको काममें ला सकते हैं।" इतना कहकर वे लेट गए। ब्रह्माजीने वेदी तैयार की, यज्ञ प्रारम्भ किया और ऋषियोंके साथ सैकड़ों वर्षों तक इस यज्ञको करते रहे। गयजी बिना हिले-डुले शान्त पड़े रहे। जब उस यज्ञकी समाप्ति हुई तो उन्होंने उठना चाहा। ब्रह्माजीके आश्चर्यकी सीमा ही न रही। इतने समय तक शरीरपर अग्नि जलती रहने पर भी गयका अङ्ग बिलकुल नहीं जला था। सृष्टि-कर्ताको बड़ा भय हुआ। उन्होंने फिर भगवान्को पुकारा। भगवान्की प्रेरणासे समस्त देवता अपना विशालरूप धारण करके गयके प्रत्येक अङ्गपर आकर स्थित हो गए और साक्षात् भगवान् गदा लेकर उनकी छातीपर आ जमे। यह सब देखकर गयने कहा—प्रजापति ! यदि मैं चाहूँ तो इस स्थितिमें भी उठ सकता हूँ, क्योंकि इन्हीं भगवान्की कृपासे मुझे पहले अपरिमित बल प्राप्त हो चुका है; किन्तु मैं ऐसा करूँगा नहीं। जब तक मेरे स्वामी मेरे वक्षपर स्थित हैं तब तक मैं हिल भी नहीं सकता, क्योंकि यह मेरे स्वामीका अपमान होगा। हाँ, यदि मेरे आराध्य ऊपरसे हट जायँ तो मैं तुरन्त उठ सकता हूँ। आप लोगोंमें से किसीकी शक्ति नहीं कि मुझे दबा सके।" गयकी यह बात सुनकर भगवान्को प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनसे वर माँगनेको कहा। गयनें वरदानमें माँगा—"भगवन् ! जो कोई मेरे शरीरपर अपने पितरोंको पिण्ड दान करे, उसके पितर मुक्त हो जायँ। भगवान्ने उनको ऐसा ही वरदान दिया। तभीसे गयका शरीर स्वयं ही एक तीर्थ हो गया और भगवान् हमेशा उनके हृदय-प्रदेशपर विराजमान रहते हैं।

× × × × ×

श्रीमद्भागवतमें भी एक दूसरे गयका वृत्तान्त वर्णित है। ये गय प्रियव्रतजीके वंशमें पैदा हुए थे। इनके पिताका नाम श्रीद्युति था। उनके उदार गुणोंके कारण श्रीमद्भागवतमें इनको विष्णुका अवतार माना गया है। प्रारम्भसे ही ये प्रजाका पालन सच्चे हृदयसे किया करते थे। इन्होंनें अपने जीवन-कालमें अनेक यज्ञ किए और ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त किया। इसके बाद ब्रह्म-ज्ञानियोंकी सेवामें रात-दिन लगे रहनेपर इनके मनमें भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ और इन्होंने सम-दृष्टि प्राप्त की। इस सम-भावके कारण अपने-पराएकी भावनाके समाप्त हो जानेपर इनके हृदयका अभिमान बिलकुल जाता

रहा और अब ये भगवान्‌के भजनमें रात-दिन लगे रहने लगे । श्रीमद्भागवतमें इनकी प्रशंसा करते हुए श्रीशुकदेवजीने कहा है—

गयं नृपः कः प्रतियाति कर्मभिर्यज्वाभिमानी बहुविद्धर्मगोप्ता ।
समागतश्रीः सदसस्पतिः सतां सत्सेवकोऽन्यो भगवत्कलामृते ।। (श्रीमद्भा० ५।१५।६)

—ऐसा कौनसा राजा है जो महान् ज्ञानी और धर्मकी रक्षा करनेवाले महाराज गयकी बराबरी कर सके ? वे सज्जनोंके सेवक थे, इसी कारण लक्ष्मीवान् थे । उन्हें तो भगवान्‌की कला ही समझना चाहिए ।

श्रीशतधन्वाजी

श्रीशतधन्वाजी श्रीकृष्णकी पत्नी सत्यभामाके पिता सत्राजित्‌के भाई थे । सत्राजित्‌के पास स्यमन्तक-मणि थी और वे कृष्णके सम्बन्धी थे, इस लिए शतधन्वा इनसे शत्रुता मानते थे ।

एक-बार जब भगवान् श्रीकृष्ण श्रीबलरामजीके साथ हस्तिनापुर गए हुए थे, तब अक्रूर और कृतवर्मा शतधन्वाके पास आकर कहने लगे—"इस समय सत्राजित् अकेला है । ऐसे में जाकर उससे स्यमन्तक-मणि क्यों नहीं छीन लेते ? देखो ! वह बड़ा नीच है । उसने अपनी कन्या सत्यभामाका विवाह हमसे करनेका वचन दिया था, पर अपमान करके उसने उसे श्रीकृष्ण को ब्याह दिया है । इस नीचताके बदले तुम उसको मारकर स्यमन्तक-मणि ले लो ।"

अक्रूर और कृतवर्माके बहकानेमें शतधन्वा आ गए और वे सोते हुए सत्राजित् को मारकर मणि लेकर चम्पत हो गए । सत्यभामाको पिताके मारे जानेका बड़ा शोक हुआ । वह अनेक प्रकारसे विलाप करती हुई श्रीकृष्ण भगवान्‌के पास हस्तिनापुर गईं और अपने पिताकी हत्याका सब हाल उनको कह सुनाया ।

श्रीकृष्ण एवं बलरामको बड़ा दुःख हुआ । वे सत्यभामाके साथ द्वारका लौट आए और शतधन्वाको मारनेकी योजना बनाने लगे । जब शतधन्वाको श्रीकृष्णके आगमन एवं उनकी इच्छाका पता लगा तो वे अत्यन्त घबड़ाए और कृतवर्मा एवं अक्रूर के पास जाकर सहायता माँगी । पर श्रीकृष्णके सामने युद्ध करनेसे दोनोंने मना कर दिया । जब इस प्रकारका कोरा उत्तर शतधन्वाको मिला तो वे विचलित हो गए और उनकी आँखोंके सामने मृत्युका भय नाचने लगा । उन्होंने मणि अक्रूरके पास जमा कर दी और स्वयं तेज चलनेवाले घोड़ेपर सवार होकर अपनी जान बचानेके लिए भाग निकले । श्रीकृष्ण और बलरामने उनका पीछा किया । वे भी वेगसे चलनेवाले घोड़ोंके

रथमें बैठकर चल दिए। मिथिलाके पास एक उपवनमें आकर शतधन्वाका घोड़ा गिर पड़ा। यह देख वे भयसे काँपने लगे। श्रीकृष्ण और बलरामने जब उन्हें पैदल भागते देखा तो वे भी रथसे उतरकर उनके पीछे पैदल ही भागने लगे। श्रीकृष्णने अपना सुदर्शनचक्र उनकी गर्दनमें फैंक कर मारा तो सिर कटकर जमीन पर गिर पड़ा। शतधन्वा कृतार्थ हो गए। मरते समय चारों ओर उन्हें सैकड़ों कृष्ण और सुदर्शनचक्र दीखने लगे। मरने के बाद भगवान् की अहैतुकी कृपासे वे दिव्य-धाममें चले गए।

—★—

श्रीदेवलजी श्रीअमूर्तजी

श्रीदेवलजी ब्राह्मण-कुमार थे। इनका मन बाल्यकालसे ही भगवान्की भक्तिमें लीन रहता था। ये बड़े सदाचारी, धर्मात्मा, ज्ञान-सम्पन्न, भगवन्निष्ठ और परोपकारी थे। ये रात-दिन मनमें भगवान्की मधुर लीलाओंका चिन्तन एवं ध्यान किया करते थे। वे सदा मौन ही रहा करते थे। श्रीअमूर्तजी भी परम निष्ठावान् भक्त थे। इनको हरिदास भी कहते हैं। ये भी रात-दिन भगवान्के ध्यानमें मस्त रहा करते थे। इन दोनों महात्माओंकी बाल्यकालसे ही भगवान्में सहज प्रीति थी।
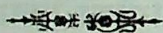
श्रीरयजी

ये महाराज पुरूरवाके पुत्र थे। इनकी माता उर्वशी नामकी अप्सरा थी। इनके जय, विजय, आयु, श्रुतायु, सत्यायु—ये पाँच भाई और थे। रय अपने सब भाइयोंमें प्रतापी और ज्ञानी थे। इनको भगवान्की विशेष कृपा प्राप्त थी।

भक्त-मुनि-उतङ्क

सौवीर नगरमें एक सुन्दर बगीचा था। उसमें एक बड़ा भव्य एवं विशाल विष्णु भगवान्का मन्दिर था। महात्मा उतङ्क उस बगीचेमें रहकर मन्दिरमें भगवान् विष्णुकी पूजा किया करते थे। वे भगवान्की सेवामें रात-दिन लगे रहनेवाले परम-शान्त, निस्पृह और दयालु महात्मा थे।

एक दिन कणिक नामका व्याध-डाकू मन्दिरके सामनेसे निकलकर जा रहा था। उसकी दृष्टि मन्दिरके ऊपर लगे हुए स्वर्ण-कलश पर पड़ी। उसे देखकर कणिकने अनुमान लगाया कि मन्दिरके अन्दर अपार धन-सम्पत्ति होगी। रात में वह मन्दिरमें

घुस गया। महात्मा उतङ्क उस समय भगवान्के ध्यानमें निमग्न होकर उनका भजन कर रहे थे। डाकूने देखा कि जागते हुए व्यक्तिके सामने से धन ले जाना बड़ा मुश्किल है, अतः मुनिको मार डालनेके लिए उसने तलवार खींच ली, पर उतङ्कजीका ध्यान न टूटा। वे उसी प्रकार शान्त बैठे रहे। यह देख कणिक आगे बढ़ा और महात्माकी छाती पर लात मारकर उन्हें पीछे पटक दिया। उसने एक हाथसे उनकी चोटी पकड़ी और दूसरे हाथ में तलवार लेकर उनका मस्तक काटनेको तैयार हो गया। महात्माजी न तो डरे ही और न किसी प्रकारका क्रोध ही दिखलाया। उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और सामान्य दृष्टिसे केवल डाकूकी ओर देखा। उतङ्ककी नजर से नजर मिलते ही डाकू व्याकुल-सा हो गया और उनके शरीरसे दूर हटकर बड़े आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगा।

उतङ्कने बड़े मीठे शब्दोंमें डाकूसे कहा—"भद्र! मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है, जो तुम मुझको मारनेको उद्यत हो? सज्जन लोग तो पापीको भी नहीं मारते। उनका क्रोध पापीके पापको नष्ट करनेवाला होता है, पापीको नहीं, फिर तुम तो अकारण ही शक्ति-हीन और निर्दोष मानवको सताते हो। क्या इसमें भी आप अपने किसी विशेष कल्याणकी आशा करते हैं? भगवान् तो ऐसे व्यक्तिसे प्रसन्न होते हैं जो अपकारीके प्रति भी उपकार कर सके, सतानेवाले की भी मङ्गल-कामना करे। पाप करनेके लिए तो पृथ्वीपर अनन्त योनियाँ हैं। यह मानव-शरीर तो भगवान् कृपा करके इसलिए देते हैं कि जीव अपने आपको पापसे बचा सके और यदि यह मानव-शरीर भी पाप बटोरनेमें लगा दिया जाय तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। यदि तुम सच्चा सुख और आत्मिक शान्ति चाहते हो तो मद, मोह और अभिमानका त्याग कर भगवान्का भजन करो। तभी तुम्हारा मानव-देह सफल होगा और तुम्हारा कल्याण होगा।

मुनि उतङ्ककी इस अमृतमयी वाणी का प्रभाव डाकूपर ऐसा पड़ा कि उसका हृदय बिलकुल पलट गया। पहले किए पापोंका पश्चात्ताप करके वह रोने लगा। उसके शरीरमें रोमाञ्च हो गया, अङ्ग-अङ्ग काँपने लगा। जब वह इस पश्चात्तापकी जलन को न सह सका तो मुनिके चरणोंसे लिपट गया और उनसे क्षमा माँगने लगा। ऐसा चमत्कार था महात्मा उतङ्क की वाणीमें कि उसने पापकी ओर द्रुत गतिसे बहनेवाले हृदयको एक पलमें ही पुण्यकी ओर मोड़ दिया, दुःख और दाहकी ओर बढ़नेवाली आत्माको अक्षय आनन्द-सिन्धुके किनारे लाकर खड़ा कर दिया। किन्तु डाकूका वह पापी शरीर उस आनन्दका अधिकारी कैसे हो सकता था? प्राणोंने उसे त्याग दिया।

मुनिने भगवान्‌का चरणामृत मृत शरीर पर डाला तो डाकू उनके सामने दिव्य-देह धारण करके खड़ा हो गया और उनकी स्तुति करने लगा। उसी समय भगवान्‌के पार्षद विमान लेकर आ गए। दिव्य-वेषधारी कणिकने एक बार फिर महात्माजीसे क्षमा माँगी और विमानमें चढ़कर भगवान्‌के नित्यधाममें चले गए।

दयामय भगवान्‌के इस दिव्य कौतुकको देखकर उतङ्क चकित रह गए और अनेक प्रकार की दिव्य स्तुतियोंसे उनकी प्रशंसा करने लगे। उनके हृदयमें भक्तिका आविर्भाव होते ही कण्ठ गद्‌गद् हो गया और शरीर पुलकित होने लगा। भक्तिप्रिय माधव उसी समय परम-लावण्यमय तेज-युक्त रूपमें उतङ्कके सामने प्रकट होगए। उनकी रूप-राशि को देखकर महात्माका कण्ठ रुँध गया, आँखोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे और वे मुँहसे केवल इतना ही कह सके—"मुरारे! रक्षा करो!! रक्षा करो!!!" भगवान्‌ने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहा तो उन्होंने बड़ी नम्रतासे कहा—

किं मां मोहयसीश त्वं किमन्यैर्देव मे वरैः।
त्वयि भक्तिर्दृढा मेऽस्तु जन्मजन्मान्तरेष्वपि॥

—हे भगवन्! आप इस प्रकार वरदानोंकी बातसे मुझे क्यों मोहित करते हैं? मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मान्तरोंमें जहाँ-कहीं भी जन्म लूँ, आपकी दृढ़-भक्ति मेरे अन्तरमें प्रवाहित होती रहे।

भगवान् ऐसा ही वर देकर मुनिके द्वारा सत्कृत हो अन्तर्धान हो गए और मुनि भगवान् की भक्तिमें तल्लीन रहने लगे। समय आनेपर वे भी दिव्यरूप धारणकर भगवद्धाममें चले गए।

श्रीनहुषजी

सूर्यवंशी श्रीनहुष अयोध्याके राजा थे। आप सौ अश्वमेधयज्ञ पूरे कर लेने पर स्वर्गपर राज्य करने लगे। उस समय इन्द्र मुनि गौतमके शापसे भागे-भागे डोल रहे थे। इन्द्रका पद प्राप्तकर नहुषको बड़ा अभिमान हो गया और उन्होंने इन्द्राणी को अपनी पत्नी बनाकर रखनेका निश्चय किया। इस आशयका सन्देश उन्होंने इन्द्राणीके पास जब भेजा, तो उन्होंने कहला भेजा कि नहुष अपनी पालकीमें सप्तर्षियोंको लगा कर यदि आवें तो मैं उन्हें पतिरूपमें स्वीकार कर लूँगी। नहुष इन्द्राणीकी चालको न पहिचान सके और सप्तर्षियोंसे अपनी पालकी उठवा कर चले। इधर नहुषको इन्द्राणी के पास पहुँचने की जितनी जल्दी थी, उधर ऋषिगण उतना ही धीरे पालकी को लेकर चलते थे। यह देख कर नहुषको क्रोध आगया और ऋषियोंसे चिल्लाकर उन्होंने

कहा—"सर्प ! सर्प !!"—अर्थात् 'जल्दी चलो ।' इसी समय उनका पैर किसी ऋषिके कन्धे से छू गया और ऋषिने शाप दे दिया—'सर्पो भव', अर्थात्—'सर्प हो जा ।' यह कहते ही नहुष सर्प होकर मृत्युलोकमें आगए । बादमें श्रीयुधिष्ठिरने उनका उद्धार किया ।

श्रीययातिजी

ये श्रीनहुष राजाके पुत्र थे । एक दिन शिकारके लिए वनमें विचरते हुए उन्होंने शुक्राचार्य की पुत्री देवयानीको कुएँमें से निकाला और उसीसे विवाह कर लिया । असुरोंके राजाकी पुत्री शर्मिष्ठा और असुरोंके गुरु शुक्रकी कन्या देवयानी दोनों सहेलियाँ थीं । एक दिन दोनों जब किसी जलाशयमें स्नान कर रही थीं, तब गलतीसे शर्मिष्ठाने देवयानीके कपड़े पहिन लिए । देवयानी इस पर बहुत रुष्ट हुई और उसने शर्मिष्ठाको बहुत फटकारा । शर्मिष्ठाने उसे उठाकर एक कुएँमें धकेल दिया ।

ययाति द्वारा कुएँमें से निकाले जानेपर देवयानीने अपने पितासे सब वृत्तान्त कहा । उधर दानवेन्द्रको जब यह मालूम हुआ, तो वह शुक्राचार्यके पैरोंपर गिर पड़ा और क्षमा करनेकी प्रार्थना की । देवयानीने इसपर एक शर्त रक्खी—वह यह कि जिससे वह विवाह करे उसीके यहाँ शर्मिष्ठा उसकी दासी बनकर रहे । निदान शर्मिष्ठाको देवयानीकी परिचारिका बनकर ययातिके यहाँ रहना पड़ा । संयोगसे ययातिका शारीरिक सम्बन्ध शर्मिष्ठासे हो गया और उसके तीन पुत्र हुए—द्रुह्यु, अनु और पूरु । इस बीचमें देवयानी नाराज होकर अपने पिताके घर चली गईं । शुक्राचार्यको भी बड़ा रोष आया और उन्होंने शाप देकर ययातिको बुड्ढा बना दिया ।

लेकिन ययातिकी भोगेच्छा अभी शान्त नहीं हुई थी । उन्होंने एक-एक करके अपने दोनों बड़े पुत्रोंसे उनकी जवानी माँगी, लेकिन उन्होंने देना स्वीकार नहीं किया । अन्तमें राजाने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरुके समक्ष भी वही प्रस्ताव रक्खा । पितृभक्त पूरुने खुशी-खुशी अपना यौवन पिताको दे दिया और स्वयं वृद्ध होकर भगवान्का भजन करने लगा ।

एक हजार वर्ष तक ययातिने अपने पुत्रके यौवनसे सांसारिक भोगोंको भोगा, पर उनकी तृप्ति नहीं हुई । इस पर उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ और अपने कनिष्ठ पुत्रसे अपना बुढ़ापा माँगकर वनमें तपस्या करनेके लिए चले गए । वहाँ संसारके यावन्मात्र

विषयोंसे अपना मन खींचकर उन्होंने भगवान् वासुदेवमें लगा दिया और अन्तमें भगवद्धामको प्राप्त हुए। यह चरित्र श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके १८वें और १९वें अध्यायमें सविस्तार वर्णित है।

—❦—

महाराज दिलीपजी

महाराज दिलीप भगवान् श्रीरामके वृद्ध प्रपितामह थे। ये परम भगवद्भक्त, प्रजावत्सल, धार्मिक और पराक्रमी थे। विशाल राज्य था, परन्तु फिर भी ये रात-दिन चिन्तित रहते थे; क्योंकि इनके कोई सन्तान नहीं थी। एक बार इसी उद्देश्यको लेकर वे अपने गुरु वशिष्ठजीके आश्रममें गए। वहाँ जाकर गुरुदेवको प्रणाम किया और अपने आगमनका कारण बतलाया।

महाराजकी सन्तति-कामनाको सुनकर महर्षि वशिष्ठने योग-बलसे सन्तान-निरोधका कारण जानकर दिलीपसे कहा—"राजन्! अनजानमें आपसे एक अपराध हो गया है, उसी कारण आपको पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई है।" महाराजने उत्सुकतापूर्वक कहा—"गुरुदेव! अपराध करना तो मानवका स्वभाव है; किन्तु कृपया इतना और बतलाइए कि यह अपराध किसका, कहाँ और कब हुआ है तथा उससे मुक्त होनेका क्या उपाय है।

महर्षि वशिष्ठने बतलाया—"राजन्! एकबार आप देवासुर-संग्राममें देवताओं की सहायता के लिए गए थे। जब आप वहाँसे लौट रहे थे तो मार्गमें देवताओंकी गाय कामधेनु खड़ी थी। आपने अपनी धुनमें उस ओर ध्यान नहीं दिया, अतः उसका यथोचित सम्मान न हो सका। इस असावधानीको ही उसने अविनीतता समझ लिया और आपको निस्सन्तान होनेका शाप दे दिया। उस शापको भी आप आकाश-गंगाके प्रवाह से होनेवाले शब्दके कारण नहीं सुन सके। अब सन्तान-प्राप्तिका एक ही उपाय है कि उस गायको प्रसन्न किया जाय।"

दिलीपने कुछ व्यस्त-भाव से पूछा—"ऋषिराज!' वह गाय तो अब न जाने कहाँ होगी?" श्रीवशिष्टजी ने कहा—"वह तो अब यहाँ है कहाँ, पर उसकी पुत्री मेरे पास है। आप उसकी पूजा कीजिए। आपका मनोरथ पूरा हो जायगा।"

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्यकर राजा दिलीप नन्दिनीकी सेवामें लग गए। पत्नी-सहित वे रात-दिन उसीकी देख-भाल करने लगे। सुबह उठकर गायका दर्शन करना, उसकी पूजा करना, उसके वत्सको दूध पिलाना, वशिष्ठजीके होमके लिए दूध दुहना

और फिर बछड़ेके दूध पी लेने पर गायको जङ्गलमें चराने ले जाना—यही उस समय उनकी दिनचर्या बन गई थी । जङ्गलमें वे गायको स्वतन्त्र छोड़कर उसके पीछे-पीछे घूमा करते थे । जब गायको भूख लगती, तो वे उसे हरी-हरी घास खिलाते, जब वह प्यासी होती, तो निर्मल एवं सुस्वादु जलपूरित सरोवरके पास ले जाते । वह बैठती तो वे भी बैठ जाते और उसके चलने पर वे चलने लगते । इस प्रकार छाया के समान नन्दिनीकी सेवा करते-करते इक्कीस दिन समाप्त हो गए ।

एक दिन जङ्गलको जाते समय गाय एक बड़े सघन वृक्ष-समूहमें से होती हुई घोर वनमें पहुँच गई । महाराज भी नित्यकी भाँति उसके पीछे ही चलते चले गए । जब वे एक वृक्षके नीचे पहुँचे तो अचानक एक शेरने नन्दिनीपर हमला किया । राजा चौंके । उन्होंने अपना धनुष सँभाला और तरकससे वाण निकालनेको हाथ कन्धेपर ले गए, परन्तु वाणके पृष्ठ-भागका स्पर्श पाते ही हाथ जड़के समान अचल होगया । इस हाथके बँध जानेसे राजाकी समस्त शक्ति व्यर्थ हो गई । तब उन्होंने शेरकी ओर देखा और कहा—"मैं समझ गया । आप सामान्य सिंह नहीं हैं, आप कोई देवता हैं । इस गायको आप छोड़ दीजिए और इसके बदले आप जो कुछ भी चाहें, मुझसे ले लीजिए ।"

"नहीं राजन् !" सिंहने समझाया—"यह वृक्ष भगवती पार्वतीजी का है । यह उनको अत्यन्त प्रिय है । भगवान् शङ्करने इसकी रक्षाके लिए अपनी इच्छासे उत्पन्न करके मुझे यहाँ रक्खा है । उनकी आज्ञा है कि जो कोई भी इस वृक्षके नीचे आए उसे ही मैं भक्षण करूँ । इसलिए इस गायको अब मुझसे कोई भी नहीं बचा सकता ।" महाराज दिलीपने अत्यन्त शान्त-भावसे कहा—"मृगराज ! यह गाय मेरे गुरुकी है । आप कृपाकर इसे छोड़ दीजिए । इसके बदले आप मुझे खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर लीजिए ।"

सिंहने आत्मीयता दिखाते हुए कहा—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं, नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्, विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥

—राजन् ! संसारका एकछत्र राज्य, नई उम्र और ऐसा सुन्दर शरीर ! एक तुच्छ गायके लिए इतना सब त्यागनेको जो तुम तैयार हो रहे हो, सो लगता है तुममें विचार करने की बिलकुल शक्ति नहीं है ।

"महाराज ! यह मूढ़ता अच्छी नहीं, इसमें किसी प्रकारका कल्याण होनेकी सम्भावना नहीं । आप राजा हैं, अखण्ड पृथ्वीके एक-छत्र अधिपति हैं और एक सामान्य गायकी रक्षाके लिए अपने आपको समाप्त कर देना चाहते हैं । आप कुशलतापूर्वक घर लौट जाइए और इस गाय-जैसी एक लाख गाय प्रदानकर वशिष्ठजीको प्रसन्न कीजिए ।"

सिंहने बहुत समझाया, पर महाराजने एक न मानी। ये सिंहके आगे नतमस्तक हो आँखें मूँदकर खड़े हो गए और शेर के प्रहारकी प्रतीक्षा करने लगे। कुछ समय तक इस प्रकार खड़े रहने पर भी जब सिंहने प्रहार न किया तो उन्होंने आँखें ऊपर उठाईं और सामने देखा तो न वहाँ सिंह था और न पार्वतीका प्रिय पेड़ ही। गाय शान्त-भावसे सामने चर रही थी। राजाको स्तम्भित देखकर गायने कहा—"राजन्! यह सब मेरी माया का चमत्कार था। मैंने तो केवल तुम्हारी परीक्षा ही की थी। अब तुम पुत्र प्राप्त करनेके अधिकारी हो। तुम मेरा दूध अभी दुहकर पी लो। तुम्हारे परम-तेजस्वी पुत्र पैदा होगा।"

महाराजने कहा—"देवि आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है, किन्तु जब तक आपका वत्स दूध नहीं पी लेता, गुरुजीके होमको दूध नहीं दुह लिया जाता और गुरुकी आज्ञा नहीं मिल जाती तब तक मैं दूध नहीं पी सकता।" यह सुनकर नन्दिनी बहुत प्रसन्न हुई।

सन्ध्या-समय गाय गुरु वशिष्ठके आश्रममें आई। गुरुको राजाने सब समाचार सुनाया। वशिष्ठजीने राजाको आशीर्वाद दिया और यथासमय राजा एवं रानीको नन्दिनीका दूध पिलाया। रानीने गर्भ धारण किया और उनसे 'रघु' नामका पुत्र पैदा हुआ। इन्हींके नामसे उस वंशका नाम रघुवंश पड़ा। अपनी समस्त कामनाओंके पूर्ण हो जाने पर महाराज दिलीप भगवान्के भजनमें तल्लीन रहने लगे और समय आने पर भगवद्धामको प्राप्त हुए।

× × × × ×

श्रीमद्भागवतमें दिलीपको अंशुमानका पुत्र लिखा है। उन्होंने पिताकी भाँति श्रीगङ्गाजीको पृथ्वीपर लानेके लिए घोर तप किया, परन्तु सफल नहीं हुए। श्रीभागीरथ आपके पुत्र थे।

एक दिन राजा दिलीप जब पूजा कर रहे थे, तब रावण एक ब्राह्मणका वेष रख कर उनकी शक्तिकी परीक्षा लेने पहुँचा। उसी समय दिलीपने एक कुश और थोड़ा-सा जल लेकर दक्षिण दिशाकी ओर फेंका। रावणके द्वारा ऐसा करनेका अभिप्राय पूछने पर दिलीपने बतलाया—"अभी कुछ क्षण पहिले वनमें विचरती हुई गायोंमें से एकको सिंहने धर दबाया था। इस कुशने वाण बनकर उस सिंहको मार दिया है। रावणने फिर पूछा—"जल फेंकने का आपका उद्देश्य क्या है?" दिलीप बोले—"यही वाण इस समय रावणकी लङ्काको जलाए दे रहा है, सो उस आगको बुझानेके लिए जल फेंका था।"

रावण उसी समय डरकर लङ्का पहुँचा । राजा दिलीपने जैसा कहा था वैसा सत्य पाया । इसके बाद उसने फिर कभी अयोध्या आनेका नाम नहीं लिया ।

श्रीयदुजी

ऊपर कह आए हैं कि राजा ययातिकी दो स्त्रियाँ थीं—शर्मिष्ठा और देवयानी । इनमें देवयानीके गर्भसे यदु पैदा हुए जिनसे यादव-वंश चला । श्रीदत्तात्रेयजीकी कृपासे यदुको विवेक उत्पन्न हुआ और अन्तिम अवस्थामें वनमें जाकर भगवद्-भजन किया और सद्‌गतिके भागी बने । इन्हींके वंशमें परात्पर पूर्णब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लेकर अनेक लीलाएँ की थीं ।

श्रीमान्धाताजी

चक्रवर्ती मान्धाता अकेले ही पृथ्वीके सातों द्वीपों पर शासन करते थे । कहते हैं, इनके राज्यमें सूर्य अस्त नहीं होता था । इन्होंने बहुतेरे यज्ञ किए और ब्राह्मणोंको भारी धन-राशि दक्षिणामें दी । मान्धाताके पचास कन्याएँ थीं । सौभरि ऋषिने इनसे एक कन्या माँगी । राजाने इन्हें अपनी पसन्दकी कन्याको वरण करनेके लिए अन्तःपुरमें भेज दिया, जहाँ कि पचासोंने इनको पतिरूपमें वरणकर लिया । बहुत दिन तक इन कन्याओंके साथ विलासमय जीवन बिताकर सौभरिको अपनी भूलका पता लगा और तब वे वनमें जाकर तपश्चर्यामें प्रवृत्त हुए ।

श्रीनिमिदेवजी

यह इक्ष्वाकु राजाके पुत्र थे । एक बार इन्होंने यज्ञ करना चाहा और ऋषि वशिष्ठको अपना पुरोहित बनाया । यज्ञ प्रारम्भ करानेके बाद इन्द्रके बुलावे पर वशिष्ठ स्वर्ग चले गए और राजासे कह गए कि मेरी प्रतीक्षा करना । इधर राजाने और ऋत्विजोंको बुलाकर यज्ञका कार्य चालू कर दिया । लौटकर वशिष्ठने जब यह देखा, तो उनके क्रोधका वारपार नहीं रहा और उन्होंने निमिको शाप दे डाला—"तू विदेह हो जा"—अर्थात् मृत्युको प्राप्त हो । राजाने भी वशिष्ठको शाप देकर विदेह कर दिया । यज्ञकी समाप्ति पर्यन्त मुनियोंने राजाकी देहको सुगन्धित मसालोंमें सुरक्षित रक्खा और तब देवताओंके आने पर उनसे प्रार्थना की कि वे राजाको फिरसे शरीर प्रदान करें । निमि इसपर राजी न हुए । दुःख, शोक और भयके निवास-स्थान शरीरमें

फिर लौटने की उनकी इच्छा निवृत्त हो चुकी थी। इसपर देवोंने कह दिया—"तुम विदेह रहोगे, लेकिन तुम्हारा निवासस्थान लोगोंकी आँखोंके पलक होंगे।" उसी समयसे लेकर मिथिलाके राजा 'विदेह' कहलाने लगे। आगे चल कर सुप्रसिद्ध राजर्षि जनक इसी वंश में पैदा हुए।

श्रीदक्षजी

ये प्राचीनबर्हीके पुत्र थे। विष्णुके आदेशसे पाञ्चजनीमें इन्होंने हर्यश्व आदि पुत्र पैदा किए। दक्षको आशा थी कि इनके द्वारा सृष्टि आगे बढ़ेगी और इसी उद्देश्य से उन्होंने इन सबको 'नारायण सर' नामक तीर्थ पर भेजा, लेकिन वहाँके पवित्र जल का आचमन करते ही इनकी अन्तरात्मा निर्मल होगई और सब के सब तपस्यामें जुट गए। इसी समय नारद भगवान्ने इनको दर्शन दिया और उनके उपदेशसे इन्होंने सन्तान पैदा करनेकी बातको ही मनसे निकाल दिया। दक्षने पाञ्चजनीमें फिर एक हजार पुत्र पैदा किये, लेकिन उनका मिलन श्रीनारद के साथ होगया और वे भी तप करते हुए परलोक-गामी हुए। अब दक्षको नारद ऋषिपर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उन्हें खूब खोटी-खरी सुनाई। प्रजापतिने फिर दक्षसे अनुरोध किया कि प्रजाकी सृष्टि करिए। अबकी उन्होंने असिक्नीसे विवाह किया और उससे साठ कन्याएँ हुईं। इन कन्याओंने पृष्टिके क्रमको आगे बढ़ाया।

महर्षि शरभङ्ग

दण्डकारण्यमें कई ऊर्ध्वरेता ब्रह्मवादी मुनि तपस्या किया करते थे। उन्हीं ऋषियोंमें शरभङ्ग भी थे। उन्होंने सांसारिक भोगोंके प्रति उत्पन्न होनेवाली मनकी आसक्तिको अनेक योगाभ्यासों और प्राणायाम-साधनों द्वारा समूल नष्ट कर दिया था। वे समस्त ममता एवं स्पृहा आदि से दूर थे।

अपनी कठोर तपस्यासे इन्होंने ब्रह्मलोकको जीत लिया। अमरावतीके स्वामी देवराज इन्द्र अन्य देवताओंके साथ इनको धरतीसे ब्रह्मलोक तक पहुँचानेके लिए आए। सूर्य एवं अग्निकी कान्तिके समान देदीप्यमान, देवाङ्गनाओं द्वारा चमर व्यजनादि से सेवित श्वेत छत्रके नीचे अद्वितीय शोभासे युक्त इन्द्रको रथमें विराजमान देखकर महर्षि उनके साथ जानेकी तैयारी करने लगे। उसी समय इनको पता चला कि भगवान् श्रीराघवेन्द्र अनुज लक्ष्मण एवं भगवती सीता के साथ इसी आश्रमको पधार

रहे हैं। इस समाचारके प्राप्त करते ही इनका हृदय भक्ति-भावसे भर गया। आहा! जिन भगवान् श्रीरामके चरण-कमलकी प्राप्तिके लिए लौकिक एवं वैदिक समस्त धर्मपालन किए जाते हैं और फिर भी उनके भेदको नहीं जाना जाता, उन्हीं भगवान्ने जब स्वयं मेरे ऊपर कृपा की है, तब मैं मूढ़तावश ब्रह्मलोकमें चला जाऊँ, तो मुझसे बड़ा अभागा और कौन होगा? उन्होंने अपनी तपस्याका पूर्ण फल मन ही मन प्रभु रामचन्द्रजी के चरणोंमें समर्पित कर दिया और रात-दिन उनके आनेकी प्रतीक्षामें रहकर हृदयमें प्रेम-जनित विरह-भावका अनुभव करने लगे। पल युगके समान बीतने लगा। अन्तमें भगवान् श्रीराम देवी-सीता और लक्ष्मण के साथ आए। मुनि दर्शन कर कृतार्थ होगए और उनकी रूप-माधुरीका पान करनेमें वे निमेषक्रिया भी भूल गए। प्रेम-विह्वलताके कारण कण्ठ गद्गद् होगया। आँखोंसे अविराम प्रेमाश्रुओं की वर्षा होने लगी। वे अत्यन्त नम्र-भावसे भगवान् श्रीरामसे बोले—"हे कृपासिन्धो! एक वर तो आपसे मुझे माँगना है।" महर्षिकी स्पष्ट वाणी सुनकर श्रीराम मुस्करा दिए। मुनिको लगा जैसे कोटि-कोटि जन्ममें मानव होनेका फल एक पलमें ही पा लिया हो। वे बोले—

सीता-लखन समेत प्रभु, नील जलद तनु श्याम।
मम हिय बसहु निरन्तर, सगुन-रूप श्रीराम॥

प्रभुसे यह वरदान पाकर मुनि शरभङ्गने अपना शरीर योगबलसे भस्म कर दिया। हड्डी, माँस, मज्जा—सब कुछ जलकर खाक होगया। फिर वे प्रभुके सामने दिव्य शरीर धारण करके अवतीर्ण हुए और उनकी आज्ञासे समस्त दिव्य लोकोंको पारकर साकेत-धाममें पहुँच गए।

—★—

श्रीसञ्जयजी

ये धृतराष्ट्रके मन्त्री तथा पुरोहित थे। धृतराष्ट्रने जब श्रीकृष्णसे महाभारत देखनेकी इच्छा प्रकट की, तब भगवान्ने सञ्जयको दिव्यदृष्टि दी, जिसके प्रभावसे घरपर बैठे सञ्जयने धृतराष्ट्रको युद्धका पूरा हाल सुनाया। धृतराष्ट्रके शरीर-त्याग करनेके बाद आप भी विरक्त होगए और तपस्या-द्वारा भगवद्धामको गये।

श्रीउत्तानपादजी

ये प्रियव्रतके भाई थे। इनकी दो रानियाँ थीं—सुरुचि और सुनीति। परम भागवत श्रीध्रुव सुनीतिके ही गर्भसे पैदा हुए थे। ध्रुवजीको भगवान्का साक्षात्कार

हो जानेके बाद राजा उत्तानपाद उन्हें राज्य सौंपकर वनको चले गए और वहाँ अन-वरत भगवान्का ध्यान करते हुए परम-गति को प्राप्त हुए ।

—★—

श्रीयाज्ञवल्क्यजी एवं श्रीभरद्वाजजी

ये सुप्रसिद्ध वैदिक ऋषि हुए हैं । ये ज्ञान, कर्मकाण्ड और भक्ति-रहस्यके पारंगत माने जाते हैं । दोनों ही परम ब्रह्मज्ञानी थे । श्रीयाज्ञवल्क्यजी को तो स्वयं सूर्यदेवने विद्या-दान किया था ।

श्रीभरद्वाज मुनि प्रयागमें रहा करते थे । उनकी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविन्दोंमें पवित्र प्रीति थी । वे अपने जीवनको एक तपस्वीके समान व्यतीत किया करते थे । वे अत्यन्त चतुर, दयामय, परोपकारी एवं शीलयुक्त थे । साधुओंकी सेवा करना एवं भगवान्का भजन करना—ये दो ही उनके कर्तव्य थे । प्रतिवर्ष माघके महीनेमें मकर-संक्रान्तिके अवसरपर दूर-दूरसे कई व्यक्ति तीर्थराज प्रयागमें स्नान करनेके लिए आया करते थे । वे अत्यन्त श्रद्धापूर्वक त्रिवेणीके संगमपर स्नान, सत्सङ्ग, दान, पुण्य एवं हरिचर्चा किया करते थे । महर्षि भरद्वाजका आश्रम बड़ा पवित्र था । वहाँ उस पुण्य पर्वपर अनेक ऋषियोंका जमाव रहता था । वे स्नान करते तथा भगवान्के गुणोंका गान, ब्रह्म-ज्ञानकी चर्चा, धर्मका वर्णन, भक्तिके स्वरूपका निर्धारण एवं अनेक प्रकारके ज्ञानकी बातें श्रीभरद्वाजजीके आश्रममें करते ।

एक बार अपने आश्रममें निवास करते हुए भरद्वाजजीके मनमें शंका पैदा हुई कि श्रीराम तो भगवान् हैं, फिर मानवके समान अपनी पत्नी सीताके लिए 'हाय ! हाय !' करनेका क्या कारण है ? उन्होंने इसका सुलझाव निकालना चाहा, किन्तु शंका और भी गहनरूप धारण करती गई ।

उसी समय संक्रान्तिका पुनीत पर्व आगया । अनेक ऋषि-मुनि आए, सत्सङ्ग किया और अपने-अपने आश्रमों को वापस चले गए । उस समय श्रीयाज्ञवल्क्यजी भी आए हुए थे । वे अत्यन्त ही ज्ञानवान्, भक्ति हृदय एवं भगवत्-तत्त्वके ज्ञाता थे । भरद्वाजको अपनी शङ्काका समाधान याज्ञवल्क्यजीसे होता हुआ दिखाई दिया ।

उन्होंने समस्त ऋषि-मुनियोंके चले जानेपर इनके चरणोंमें प्रणाम किया । अत्यन्त आदर-सत्कार एवं पूजा-अर्चनके उपरान्त वे हाथ जोड़कर श्रीयाज्ञवल्क्यजीके सामने बैठ गए और बोले—"महाराज ! वेद-शास्त्रोंका आपने भली प्रकार मन्थन किया है । आप भगवानके स्वरूप एवं उनकी समस्त लीलाओंसे अवगत हैं । मेरे हृदय

में उनके सम्बन्धमें एक शङ्का उठ खड़ी हुई है। आप मुझसे सब प्रकारसे बड़े हैं। आपसे मैं किसी प्रकारका दुराव करना नहीं चाहता; क्योंकि गुरुसे कपट करनेसे शङ्का अपना स्थान हमेशा बनाए रखती है। इसीलिए मैं अपने हृदयकी शङ्काको आपसे कहता हूँ। कृपया आप उनका निराकरण करके मुझे इस अज्ञानसे बचाइए।"

इतना सुनकर याज्ञवल्क्यने भरद्वाज मुनिसे उनके हृदयकी शङ्का पूछी तो वे बोले—"हे कृपासागर! भगवान् श्रीरामके नामका तो प्रभाव अमित है। संसारका कोई भी कार्य ऐसा नहीं जो राम-नाम उच्चारण मात्रसे पूरा न हो जाय। संत, पुराण, उपनिषद्—सभीका इस सम्बन्धमें एक ही मत है। 'राम' नामके उच्चारणसे जब जीव समस्त तापों और संतापोंसे मुक्त होकर परम पवित्र एवं आनन्द-स्वरूप हो जाता है तो फिर रामके ऊपर विपत्ति कैसे आ सकती हैं। मैंने सुना था, कि श्रीराम अपनी पत्नीके विरहमें वन-वन भटकते फिरे थे और बड़ी कठिनतासे बानर-भालुओंको इकट्ठा करके रावणका संहार कर पाए थे। तब क्या यह उन्हीं 'राम' के नामका प्रभाव है या ये 'राम' दशरथ नन्दन-रामके अतिरिक्त कोई अन्य हैं? कृपा करके इस सम्बन्धमें मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइए।

याज्ञवल्क्यजी जानते थे कि भरद्वाज परम-ज्ञानी हैं; वे तो केवल इस शङ्का समाधानके बहानेसे भगवान् श्रीराघवेन्द्रके गुणोंका श्रवण करना चाहते हैं। उन्होंने कहा—"महर्षे! आप भगवान्की समस्त लीलाओं और कार्योंसे परिचित हैं। न आपके हृदयमें कोई शङ्का है, न आप उसका समाधान चाहते हैं। आपकी अभिलाषा तो केवल भगवान् रामके गुण-श्रवणकी है, अतः मैं आपके समक्ष त्रिलोक-पावनी राम-कथाका गान करता हूँ। आप सावधान होकर सुनिए।"

इतना कह कर उन्होंने श्रीरामका समस्त चरित्र भरद्वाजको सुनाया और वे दत्तचित्त होकर उसे दीर्घकाल तक सुनते रहे। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने श्रीराघवेन्द्रके चरित्र के समस्त रहस्योंको परम-भक्त भरद्वाजजीके समक्ष कहा। श्रीरामके जन्मका कारण–धनुषयज्ञ, वनगमन, सीताहरण, निशाचर कुलोद्धार, लङ्का विजयके उपरान्त सीता सहित अयोध्या-आगमन एवं रामराज्यकी विशेषताओंका सविस्तार वर्णन उन्होंने किया। वास्तवमें श्रीभरद्वाजजी एवं श्रीयाज्ञवल्क्यजीके समान श्रीराम-कथाके श्रोता-वक्ता विरले ही हैं।

मूल (छप्पय)

कबि, हरि, करभाजन, भक्ति-रत्नाकर भारी ।
अन्तरिच्छ अरु चमस अनन्यता पधति उधारी ॥
प्रबुध, प्रेमकी रासि, भूरिदा आबिरहोता ।
पिप्पल, द्रुमिल प्रसिद्ध भवाब्धि पार के पोता ॥
जयन्ती-नन्दन जगत के त्रिबिध ताप आमय हरन ।
निमि अरु नव योगेश्वरा पादत्रान की हौं सरन ॥१३॥

अर्थ—महाराज श्रीनिमि और नव-योगेश्वरोंकी पादुका (खड़ाउँ) की मैं शरण हूँ। नव-योगेश्वरोंमें सर्वश्री कवि, हरि और करभाजन भक्तिके अगाध समुद्र हैं; अन्तरिक्ष और चमस भागवत-धर्ममें अनन्यताके प्रवर्तक हैं; प्रबुध प्रेमकी राशि हैं, आविर्होता ज्ञानके उदार दानी हैं और पिप्पल तथा द्रुमिल प्राणियोंको संसार-सागरसे पार उतारने वाले हैं। (श्रीऋषभदेवकी पत्नी जयन्तीदेवीके सौ पुत्रोंमें से) ये नव-योगेश्वर संसारके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके दुःखोंका तथा समस्त मानसिक व्याधियोंका नाश करने वाले हैं।

ऋषभदेवजीके सौ पुत्रोंमें ९ नवद्वीपोंके स्वामी हुए, ८१ कर्मतन्त्रके प्रवर्तक ब्राह्मण और ९ योगेश्वर। पूर्ण आत्मज्ञानी ये नव योगेश्वर जड़-चेतन विश्वको भगवान्‌के रूपमें देखते हुए सुर-लोक, सिद्ध-लोक, गन्धर्व-लोक आदिमें स्वच्छन्द विचरण किया करते थे। एक बार ये राजा निमि द्वारा आयोजित यज्ञमें जा पहुँचे। सूर्यके समान तेजस्वी इन योगियोंको देखकर सब लोग उठ खड़े हुए और उनका यथोचित सत्कार किया। राजा निमिने इस अमूल्य अवसरका लाभ उठानेके लिए उनसे भागवत-धर्मका उपदेश देनेकी प्रार्थना की। योगेश्वरोंके ये उपदेश श्रीमद्भागतके एकादश स्कन्धमें विस्तारसे दिए गए हैं। ये भक्तोंके हृदयके हार बन गए हैं।

श्रीनाभाजीने नव-योगेश्वरोंके पादत्राणकी शरणमें रहनेकी कामना प्रकट की है। इसी आशय का निम्नलिखित श्लोक श्रीवेदाचार्यका है—

कर्मावलंबकाः केचित् केचित् ज्ञानावलम्बकाः ।
वयं तु हरिदासानां पादत्राणावलम्बकाः ॥

—कुछ लोग भगवत्-प्राप्तिके लिए कर्म-मार्गका अनुसरण करते हैं, दूसरे ज्ञान-मार्ग का। हमने तो भगवान्‌के भक्तोंकी जूतियोंका सहारा लिया है।

मूल (छप्पय)

श्रवन परीक्षित, सुमति ब्यास-सावक कीरतन ।
सुठि सुमिरन प्रहलाद, पृथु पूजा, कमला चरननि मन ॥

बन्दन सुफलक-सुवन, दास दीपत्ति कपीश्वर ।
सख्यत्वे पारथ, समर्पन आतम बलि धर ॥
उपजीवी इन नाम के एते त्राता आगति के ।
पदपराग करुना करौ नियता नवधाभक्ति के ॥१४॥

अर्थ—श्रवण-भक्तिमें निष्ठा रखनेवाले राजा परीक्षितजी, कीर्तन-भक्तिमें पारङ्गत व्यास ऋषिके पुत्र प्रतिभाशाली श्रीशुकदेवजी, स्मरण-भक्तिके उपासक प्रह्लादजी, भगवान्की चरणसेवामें आठों पहर रत रहनेवाली लक्ष्मीजी, विधिपूर्वक पूजा करनेमें प्रवीण राजा पृथु, वन्दनभक्तिमें लीन सुफलकके पुत्र अक्रूर, सेवक-भावसे श्रीरामचन्द्रजीको भजनेवाले ज्योतिपुञ्ज हनुमान्, मित्र-भावसे श्रीकृष्णकी आराधना करनेवाले अर्जुन आत्म-समर्पणमें प्रवीण राजा बलि—ये नव प्रकारकी भक्तिके प्राप्त करनेवाले (परीक्षित आदि) महानुभाव दयाकर अपनी चरण-रज मुझे देकर कृतार्थ करें ।

श्रवणादि नामक नव प्रकारकी भक्ति जिनका प्राण है, ऐसे ऊपर कहे भक्तगण उन लोगोंकी सदा रक्षा करते हैं, जिनके लिए अन्य कोई गति नहीं है—अर्थात् संसार-चक्रसे छूटकर बच निकलनेकी अभिलाषा रखनेवाले जिन लोगोंके लिए ज्ञान, कर्म आदि के मार्ग रुके हुए हैं, उनके उद्धारका एकमात्र साधन भगवद्भक्ति है, जिसकी पद्धति उपर्युक्त भागवतोंसे सीखी जा सकती है ।

—भक्तिके नव प्रकार निम्नलिखित-रूपसे बताये गए हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (श्रीमद्भागवत् ७।५।२३)

श्रीनाभाजीकी छप्पयके आशयका एक श्लोक नीचे देखिए—

श्रीकृष्णश्रवणे परीक्षिदभवद् वैय्यासकीः कीर्तने,
प्रह्लादः स्मरणेऽङ्घ्रिपद्मभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
अक्रूरस्त्वभिवादने कपिपतिर्दास्ये च सख्येऽर्जुनः,
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कैवल्यमेते विदुः ॥

श्रीपरीक्षितजी

भक्ति-रस-बोधिनी

श्रवणरसिक कहूँ सुने न परीक्षित से, पान हूँ करत लागी कोटि गुन प्यास है ।
मुनि मन मांझ क्यों हूँ आवत न ध्यावत हूँ वही गर्भमध्य देखि आयो रूप - रास है ॥
कही सुकदेवजू सों टेव मेरी लीजै जानि, प्रान लागे कथा, नहीं तक्षक को त्रास है ।
कीजिये परीक्षा उर आनी मति सानि अहो ! बानी बिरमानी जहाँ जीवन निरास है ॥६७॥

अर्थ—परीक्षित सरीखे भक्त कहीं सुननेमें नहीं आए, जो भगवान्‌की कथा सुनकर ही अपूर्व आनन्दका अनुभव करते हों। (ऐसे भक्तोंको श्रवण-रसिक कहते हैं।) ज्यों-ज्यों वे भगवत् कथाका पान (कानों से) करते थे, वैसे ही वैसे उनकी प्यास (कथा सुननेकी अभिलाषा) करोड़ों गुनी बढ़ती चली जाती थी। अनवरत रूपसे ध्यान करते हुए भी मुनिगण मन द्वारा जिनका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ रहते हैं, उन्हीं रूपके समुद्र (अनुपम सुन्दर) भगवान्‌का दर्शन आपने माताके गर्भमें किया। श्रीशुकदेवजीसे आपने कहा—"मेरी प्रवृत्तिके सम्बन्धमें आप यह समझ लीजिये कि भगवान्‌की कथामें ही मेरे प्राण लगे हुए हैं, अतः मुझे तक्षक सर्पके काटने की कोई चिन्ता नहीं है। आप चाहें, तो मेरी परीक्षा करके देख सकते हैं।"

राजाकी यह बात सुनते ही श्रीशुकदेवजीको निश्चय होगया कि परीक्षितका मन (मति) अब कथामें ही लिप्त है। परीक्षित राजाकी कहाँ तक प्रशंसाकी जाय? सातवें दिन कथा-समाप्ति पर श्रीशुकदेवजीकी वाणीके विश्राम लेते ही उनकी जीवन-लीलाकी भी इतिश्री होगई।

श्रीपरीक्षितजीका विशेष परिचय यहाँ दिया जाता है—

अभिमन्युके संग्राममें वीरगति प्राप्त कर लेनेके पश्चात् कौरव-पाण्डव—दोनोंके वंशको चलानेवाला यदि कोई था तो वह था उत्तराके गर्भका शिशु। अश्वत्थामा उस गर्भगत शिशुको भी नष्ट करना चाहता था, अतः उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। सारा विश्व उसकी भयङ्करता से काँप गया। उत्तराके भयका भी कोई ठिकाना न रहा। वह भयसे विह्वल हो श्रीकृष्णकी शरणमें गई। भगवान्‌ने उसे अभयदान दिया और शिशुकी रक्षाके लिए अति सूक्ष्मरूप धारण कर उत्तराके गर्भमें प्रवेश कर गए। शिशुने देखा कि एक प्रचण्डतेजका सागर-सा उमड़ता हुआ उसे नष्ट करनेके लिए चला आरहा है। उसी समय भगवान् श्रीकृष्णके सूक्ष्म-स्वरूपपर भी बालककी दृष्टि पड़ी, उसने देखा कि अँगूठेके बराबर आकारवाला एक ज्योतिर्मय रूप सुवर्ण के कुण्डल पहिने और हाथमें गदा लिए सामने खड़ा है। वह अपनी गदा घुमाकर ब्रह्मास्त्रके तेजको इस प्रकार शान्त कर रहा है, जैसे सूर्य कुहरेको मिटा देता है। ब्रह्मास्त्र का प्रभाव समाप्त हो जानेपर वह रूप भी अदृश्य होगया। जन्म होनेपर इसी बालक का नाम परीक्षित पड़ा।

गर्भके समय परीक्षित ब्रह्मास्त्रके प्रभावके कारण मृत-से पैदाहुए थे, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण की कृपासे वे जीवित होगए। [illegible] वे अभिमन्युके पुत्र परीक्षित

बड़े हो गये तो पाण्डव इनको राज्य सौंपकर हिमालय पर चले गए और महाराज परीक्षित राज्यमें सुव्यवस्था स्थापित करनेमें लग गए ।

एक बार जब ये दिग्विजय करने निकले तो मार्गमें इनको एक श्वेत साँड़ दिखाई दिया । उसके तीन पैर टूटे हुए थे । पास ही एक गाय खड़ी थी, जो अपनी आँखोंसे अविराम अश्रु बरसा रही थी । वहीं एक काले रङ्गका शूद्र सिरपर मुकुट पहने खड़ा था और एक डण्डेसे दोनोंको पीट रहा था । जब परीक्षितको यह मालूम पड़ा कि वह शूद्र कलि था, जो वृषभ-रूप धर्म एवं गौ-रूप पृथ्वीको पीट रहा था तो उन्होंने उसे मारनेके लिए अपनी तलवार खींच ली । शूद्र-रूप कलिने अपना मुकुट उतारकर राजा परीक्षितके चरणोंमें रख दिया और उनके पैरोंसे लिपट गया । महाराजने कहा—"कलि ! तुम अपनी जान बचाना चाहते हो तो तुरन्त मेरे राज्यकी सीमासे बाहर चले जाओ ।" कलिने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"महाराज ! आप तो चक्रवर्ती सम्राट् हैं, सम्पूर्ण पृथ्वीपर आपका राज्य है । यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मैं आपके राज्यमें न रहूँ । हाँ, मुझे कोई निश्चित स्थान बतला दीजिए । मैं आपकी आज्ञा कभी नहीं तोड़ूँगा और हमेशा आपके द्वारा निर्दिष्ट स्थानपर ही रहूँगा ।" परीक्षितने कलिको रहने के लिए जुआ, शराब, स्त्री, हिंसा और स्वर्ण—ये पाँच स्थान बतला दिए । ये ही पाँच स्थान अधर्म-रूप कलिके निवास हैं ।

एक बार राजा परीक्षित आखेट करते हुए जंगलमें भटक गए । धूप, गर्मी और थकान के कारण उन्हें प्यास लगी । वे पानी की तलाशमें भटकते हुए शमीक ऋषिके आश्रममें आये । ऋषि भगवान्‌के ध्यानमें समाधिस्थ थे । राजाने कई बार उनसे पानी की याचना की, पर उनका ध्यान न टूटा । राजा प्याससे व्याकुल एवं परिश्रान्त थे । वे झुँझला गए और ऋषिको केवल ढोंगी समझ कर पास पड़े एक मृत सर्पको उनके गलेमें डालकर चले आए । पासमें ही सरोवरके किनारे ऋषि-कुमार खेल रहे थे । उनमें शमीकके पुत्र भी थे । जब उनको परीक्षितके इस कुकृत्यका पता चला, तो वे बड़े क्रुद्ध हुए और शाप दे दिया—"इस दुष्ट राजाको आजसे सातवें दिन तक्षक काट लेगा ।"

घर जाकर परीक्षितको अपने उस कार्यका ध्यान आया । वे मनही मन पश्चात्ताप करने लगे । उसी समय ऋषिकुमारके शापका समाचार उन्हें प्राप्त हुआ । शापकी बातको सुनकर वे मृत्युके भयसे व्याकुल होकर विलाप नहीं करने लगे, अपितु अपनी सद्‌गतिकी कामना करते हुए राज्यका भार अपने पुत्र जनमेजयपर छोड़कर गङ्गाके किनारेपर गए । अनेक ऋषिगण परम धर्मात्मा राजा परीक्षितपर कृपा करके

उन्हें सान्त्वना देने एवं भगवत्-सम्बन्धी चर्चा करने के लिए वहाँ आए। भगवान्के ध्यानमें मग्न श्रीशुकदेवजी भी वहाँ आ पहुँचे। परीक्षितने उनका पूजन किया। श्रीशुकदेवजीने राजाकी प्रार्थनापर उन्हें सात दिनमें सम्पूर्ण श्रीमद्भागवत का उपदेश किया। अन्तमें भगवान्के ध्यानमें अपनी चित्त वृत्तियोंका अभिनिवेश करके तक्षकके डसनेसे पूर्व ही श्रीपरीक्षितजी भगवद्धाममें पहुँच गए। बादमें तक्षकने उनको डसा। विषकी तीव्रताके कारण उनका सारा शरीर भस्म हो गया, किन्तु इस असह्य वेदनाका अनुभव करनेके लिए इस समय वे उस शरीरमें थे ही नहीं।

श्रीपरीक्षितकी कथा श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें अध्याय ८ से लेकर अध्याय १९ तक सविस्तार वर्णित है।

श्रीशुकदेवजी

भक्ति-रस-बोधिनी

गर्भ ते निकसि चलि बन ही में कीनौ बास, व्यास से पिता को नहिं उत्तर हू दियो है।
दसम श्लोक सुनि गुनि मति हरि गई, लई नई रीति, पढ़ि भागवत लियो है॥
रूप गुन भरि सह्यो जात कैसे करि, आए सभा नृप, ढरि भीज्यो प्रेम-रस हियो है।
पूछैं भक्त भूप ठौर-ठौर परे भौंर जाय गाय उठे जबै मानो रंगझर कियो है॥९८॥

अर्थ—श्रीशुकदेवजी माताके गर्भमेंसे निकलते ही वनकी ओर चल दिये और वहीं रहने लगे। घर-द्वार छोड़कर पुत्रको इस प्रकार जाते देख पिता श्रीवेदव्यासजीने 'पुत्र! पुत्र!!' कह कर कई बार पुकारा, लेकिन श्रीशुकदेवजीने कोई उत्तर नहीं दिया। एक दिन एक लड़केके मुँह से श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धका एक श्लोक सुनकर आप मुग्ध होगये और तब आपने एक नई रीति यह अपनाई कि जिन व्यासजी की पुकारका उत्तर भी नहीं दिया था, लौटकर उन्हीं के पास आये और भागवत-पुराणका अध्ययन किया। श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण के रूप और गुणों की महिमासे इनका हृदय इतना परिपूर्ण होगया कि उसका भार हृदयपर सहते नहीं बना। (उस समय जब कि ऋषि-पुत्रके शापसे राजा परीक्षित राज-काज छोड़ कर गङ्गाजीके तटपर आत्मोद्धारके निमित्त आये और मुनियोंको बुलाया, तब) श्रीशुकदेवजी सहसा राजाके द्वारा आयोजित सभामें पधारे और भगवत्-प्रेमसे भरा उनका हृदय राजाके उद्धारके लिए द्रवित होगया (और श्रीमद्भागवतकी कथा प्रारम्भ कर दी गई।) कथाके प्रसंगमें राजा परीक्षित जगह-जगहपर सन्देहके भँवर-जालमें पड़ जाते (और श्रीशुकदेवजीसे पूछते कि ऐसा क्यों हुआ?), उस समय श्रीशुकदेवजी प्रेममें

विभोर होकर उत्साहके साथ भगवान्की लीलाओंको इन्हें गाकर सुनाते, मानो प्रेम-रङ्गकी झड़ी लग गई हो।

रूप गुन भरि रंग झर कियो है—इन अन्तिम दो चरणोंका अर्थ कुछ विज्ञ टीकाकारोंने इस प्रकार किया है—जिस समय राजा परीक्षित गंगा-तटपर आए और उन्होंने विभिन्न स्थानोंसे एकत्रित ऋषियोंसे अपनी सुगतिका उपाय पूछा, तो ऋषिगण चक्करमें पड़ गए कि सात दिनकी थोड़ी-सी अवधि में राजाके उद्धारका क्या उपाय बतावैं ? उसी समय श्रीशुकदेवजी आ पहुँचे ...इत्यादि।

यह अर्थ तब हो सकता है जब कि चतुर्थ चरणमें आई हुई 'पूछैं' क्रियाका पाठान्तर 'पूछे' मान लें और उसका अर्थ करें—"भूप-भक्तने पूछा (कि मेरे उद्धारका उपाय बताइए)" लेकिन यहाँ दूसरी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि क्रम-भंग हो जाता है। कवित्तके तृतीय चरणके उत्तरार्थमें जब श्रीशुकदेवजी आ गए, तो चतुर्थ चरणमें परीक्षितका ऋषियोंसे अपने उद्धारका उपाय पूछना असङ्गत बैठता है। इस प्रकारका प्रश्न तो पहले ही कर दिया गया था; श्रीशुकदेवजी पधारे हैं बाद में। अतः हमारी समझमें 'पूछैं' पाठ ही अधिक उपयुक्त बैठता है।

श्रीशुकदेवजीके वृत्तका सविस्तार वर्णन पृष्ठ स० ४७ पर दिया जा चुका है।

श्रीप्रह्लादजी

भक्ति-रस-बोधिनी

सुमिरन साँचो कियो, लियो देखि सब ही में एक भगवान कैसे काटै तरबार है।
काटिवो खड़ग जल बोरिवो सकति जाकी, ताहि को निहारै चहुँ ओर सो अपार है।।
पूछे तें बतायो खंभ, तहाँ ही दिखायो रूप, प्रगट अनूप भक्तवानी ही सों प्यार है।
दुष्ट डारचौ मारि, गरे आँतें लईं डारि, तऊ क्रोध को न पार, कहा कियो यों विचार है।।६६।।

अर्थ—भक्तशिरोमणि प्रह्लादने सच्चे हृदयसे भगवान्का चिन्तन किया और फलस्वरूप संसारकी सब वस्तुओंमें एक ही परम-तत्वको व्याप्त पाया। ऐसे भक्तको तलवार कैसे काट सकती थी ? क्योंकि खड्गमें काटनेकी तथा जलमें डुबोनेकी शक्ति जहाँसे मिली, उसी असीम, अनन्त भगवत्-तत्वको प्रह्लाद अपने चारों ओर देखते थे। (पुत्र प्रह्लादकी इन बातोंमें विश्वास न कर) जड़ हिरण्यकशिपुने पूछा—'बता, तेरा भगवान् कहाँ है ?' तो आपने सामनेका खंभा बता दिया। (इसपर कुपित होकर उस राक्षसने खम्भमें एक मुक्का मारा।) मुक्काके लगते ही भगवान्ने प्रकट होकर अपना अनुपम रूप दिखाया; क्योंकि आपको तो अपने भक्तकी वाणी अत्यन्त प्रिय है—भक्तकी बातका भारी पक्षपात है। इस प्रकार अपने भक्तके हितार्थ प्रकट होकर भगवान्ने दुष्ट हिरण्यकशिपुको वहीं मार गिराया और फिर उसकी आँतें निकालकर अपने गलेमें मालाकी तरह डाल लीं। इतने पर भी नृसिंह भगवान्का क्रोध शान्त नहीं हुआ। न-जाने आपने और क्या करनेकी ठान ली थी !

भक्ति-रस-बोधिनी

डरे शिव अज आदि, देख्यो नहीं क्रोध ऐसो, आवत न ढिग कोऊ, लछिमी हूँ त्रास है ।
तब तो पठायो प्रहलाद अहलाद महा, अहो भक्तिभाव पग्यो आयो प्रभु पास है ।।
गोद में उठाय लियो, सीस पर हाथ दियो, हियो हुलसायो, कही वानी बिनै रास है ।
आई जग दया लगि परचो श्रीनरसिंहजू को, अरचो यों छुटावो करचो माया-ज्ञान नास है ।।१००।।

अर्थ—यह देख ब्रह्मा-शिव आदि देवता भी भय खा गये । उन्होंने प्रभुके क्रोध का ऐसा विराट् रूप कभी देखा ही न था । और, तो और लक्ष्मीजी को भी उनके पास जाते हुए डर लगता था । तब ब्रह्मादिकने प्रह्लादजीको क्रोध शान्त करनेके लिए उनके पास भेजा । परमप्रेमानन्दमें डूबे हुए वे प्रभुके पास पहुँचे । उन्होंने उन्हें गोदमें उठा लिया और उनके सिरपर हाथ फेरने लगे । प्रभुका स्पर्श पाकर प्रह्लादका हृदय आनन्दसे भर गया और विनयपूर्वक वे श्रीनृसिंह-प्रभुकी स्तुति करने लगे । (प्रभुने उनसे वर माँगनेको कहा ।) इस पर प्रह्लादजीको जीवोंपर दया आगई और उनका दुःख दूर करनेके लिए आपने प्रभुके चरणोंमें गिरकर यह माँगा कि अपनी मायासे प्राणियोंको मुक्त करिए; क्योंकि उसके कारण उनका ज्ञान नष्ट होगया है । यह वर प्राप्त करनेके लिए प्रह्लादजी बालककी तरह प्रभु के सामने अड़ गए ।

भक्त प्रहलादका सविस्तार चरित्र पृष्ठ ३९ पर देखिए ।

—पत्थरके खम्भमें से भगवान्के प्रकट होने की घटनाको लेकर गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि जबसे भगवान् इस प्रकार प्रकट हुए तभीसे दुनिया भगवान्के प्रस्तरमय विग्रहको पूजने लगी—

काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ पितु, काल कराल विलोकि न भागे ।
राम कहाँ ? सब ठाउँ है, खंभ में ?,हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे ।।
बैरी बिदारि भये बिकराल, कहे प्रहलादहि के अनुरागे ।
प्रीति-प्रतीति बढ़ी 'तुलसी', तब ते सब पाहन पूजन लागे ।।

श्रीलक्ष्मीजी—का चरित्र पृ० सं० ९४ पर एवं श्रीपृथुजी—का चरित्र पृ० सं० ११८ पर देखिए ।
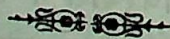
श्रीअक्रूरजी

भक्ति-रस-बोधिनी

चले अकरूर मधुपुरी तें, विसूर, नैंन चली जल-धारा, कब देखौं छबिपूर को ।
सगुन मनावै, एक देखिबोही भावै, देह-सुधि बिसरावै, लोटै, लखि पग-धूर को ।।
बंदन-प्रबीन चाह निपट नबीन भई, दई शुकदेव कहि जीवन की मूर को ।
मिले राम कृष्ण, झिले पाइकै मनोरथ को खिले दृग रूप कियो हियो चूर-चूर को ।।१०१।।

अर्थ—श्रीकृष्णको लिवा लानेके लिए कंसके द्वारा भेजे गए अक्रूर मथुरासे

गोकुलकी ओर चले तो भगवान्के वियोगमें दुखी होती हुई (बिसूरती) उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह निकली। मार्गमें जाते हुए सोचते जाते थे कि वह कौन-सा क्षण होगा जब मैं शोभाके धाम भगवान् श्रीकृष्णको इन आँखोंसे देखूँगा। चलते समय उन्हें शुभ शकुन हुए थे, (रास्तेमें उन्हें हरिण दाईं ओर चरते हुए मिले थे) वे बार-बार यही मना रहे थे कि इन शकुनोंका उन्हें मनचाहा फल मिले। भगवान्के दर्शनके सिवा और उन्हें कुछ अच्छा ही न लगता था। भगवान् के सम्बन्धमें सोचते-सोचते उन्हें अपना देहानुसन्धान नहीं रहा। व्रजमें प्रवेश करते ही जब उन्हें श्रीकृष्णके चरण-चिह्न धूलिपर अङ्कित दिखाई दिए, (जिन्हें कि अक्रूरने ध्वज, अंकुश आदि चिह्नोंसे पहिचान लिया) तो वे उस रजमें लोटने लगे। वन्दनात्मक भक्तिके मर्मज्ञ अक्रूरके हृदय में अब प्रीतिका उदय हुआ जोकि उनके लिए एक बिलकुल नई भावना थी। श्रीशुकदेवजीने श्रीमद्भागवतमें प्रीतिसे उत्पन्न इस प्रकारकी उत्कण्ठा (विकलता) को भक्तोंके जीवन का आधार कहकर वर्णन किया है। (गोकुलमें पहुँचकर) अक्रूरजीको बलराम और श्रीकृष्ण, दोनों भाइयोंके दर्शन हुए और आगे बढ़ कर वे उनसे मिले। अपना मनोरथ पूर्ण हुआ मान कर उनकी आँखें खिल उठीं। इस मिलनके फलस्वरूप उनका हृदय आनन्दसे मानो चूर-चूर होगया।

अक्रूर वन्दनात्मिका भक्तिके उपासक माने जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें दिये गए वर्णनके अनुसार रथपर चढ़नेके क्षणसे ही लेकर वे मन-ही-मन यही योजना बनाते रहे कि वे श्रीकृष्णका साक्षात्कार होते ही किस प्रकार उनके चरणोंमें साष्टांग प्रणाम कर अपनेको कृतार्थ करेंगे। वे सोच रहे थे–"जब मैं भगवान्के चरणोंपर झुकूँगा, तब वे अपने हस्तकमलको मेरे सिरपर रखेंगे कि नहीं? मुझे पूरा विश्वास है कि कंसका भेजा हुआ जानकर भी मुझे वे अपना शत्रु नहीं मानेंगे; क्योंकि वे सब प्राणियोंके अन्तरकी बातको जानते हैं। मुझे मालुम है कि भगवान्का न कोई प्यारा है और न कोई शत्रु, तो भी वे भक्तोंका आदर करते हैं।

भगवान्के चरणोंकी वन्दना करनेकी अभिलाषा अक्रूरमें इतनी तीव्र होगई कि उनका गोकुल तक पहुँचने का धैर्य जाता रहा और मार्गमें भगवान्के चरण-चिह्नोंको देख कर उनका आलिङ्गन करनेके लिए वे धूलमें ही लोट लगाने लगे।

बिसूर—भक्तमालके प्रसिद्ध टीकाकार श्रीरूपकलाजीने इस कवित्तमें आए हुए 'बिसूर' शब्द का अर्थ 'रूप-चिन्तन करना' लगाया है, जोकि भ्रमात्मक है। व्रजवासियोंकी साधारण बोल-चालमें इसका प्रयोग काफी होता है और अर्थ होता है—दुःखसे विलाप करना।

खिले दृग—कवित्तके चतुर्थ चरणमें कुछ पुस्तकोंमें 'पाइकै मनोरथको हिले दृगरूप' यह पाठान्तर पाया जाता है। इसमें वह सौन्दर्य नहीं जो 'खिले दृग' में है, अतः हमने इसे ही ठीक माना है।

श्रीहनुमानजीका चरित्र पृष्ठ सं० ५७ पर सत्ताईसवें कवित्तमें एवं **श्रीअर्जुनका** चरित्र पृष्ठ सं० ११० पर भक्त पाण्डवके प्रसङ्गमें देखिए।

—★—

श्रीबलिजी

भक्ति-रस-बोधिनी

दियो सरबस्व करि अति अनुराग बलि, पागि गयो हियो प्रहलाद सुधि आई है ।
गुरु भरमावै, नीति कहि समुझावै, बोल उर में न आवै, केती भीति उपजाई है ।।
कह्यो जोई कियो साँचो भाव पन लियो, अहो दियो डर हरि हूँ ने, मति न चलाई है ।
रीझे प्रभु, रहें द्वार, भये बस हारि मानी, श्रीशुक बखानी, प्रीति-रीति सोई गाई है ।।१०२।।

अर्थ—राजा बलिने बड़े प्रेमसे भगवान्‌को सर्वस्व अर्पण कर दिया । ऐसा करते समय उन्हें अपने पितामह श्रीप्रह्लादका स्मरण हो आया (जिन्होंने भक्तिके प्रतापसे बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंको पार किया था ।) गुरु शुक्राचार्यने नीतिका उपदेश देकर इन्हें भ्रममें डालना चाहा और कई प्रकारसे डराया भी (कि ये ब्राह्मण नहीं हैं, वरन् स्वयं विष्णु हैं, जो एक पैरसे स्वर्ग और दूसरेसे पृथ्वीको नाप लेंगे और तीसरे पैरके लिए स्थान न होनेके कारण तुझे नरकमें ढकेल देंगे), लेकिन बलिके हृदयमें उनकी एक भी बात नहीं उतरी । एक बार मुँहसे जो कह दिया, उसे ही आपने पूरा किया और अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहे । श्रीहरिने भी इन्हें नरक भेजनेकी कह कर बहुत डराया, लेकिन इतने पर भी बलि अपने भक्ति-मार्गसे तिल-भर भी नहीं हटे ।

बलिकी ऐसी दृढ़ निष्ठा देखकर भगवान् उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनके द्वारपाल बन कर रहने लगे । इस प्रकार भगवान्‌ने अपने भक्तसे हार मानी और उसके वशमें होगए । इस पवित्र चरित्रका वर्णन श्रीशुकदेवजीने भागवत-पुराणमें किया है और उसके अनुसार बलिराजाके प्रेमकी पद्धतिका हमने यहाँ ज्ञान किया है ।

बलिके सम्बन्धमें विशेष वर्णन पृ० सं० ४५ पर पढ़िए ।

मूल (छप्पय)

शंकर, शुक, सनकादिक, कपिल, नारद, हनुमाना ।
विश्वकसेन, प्रहलाद, बलिरु, भीषम, जगजाना ।।
अर्जुन, ध्रुव अंबरीष, विभीषण महिमा भारी ।
अनुरागी अकरूर, सदा उद्धव अधिकारी ।।
भगवन्त भुक्त अवशिष्ट की कीरति कहत सुजान ।
हरि प्रसाद रस स्वाद के भक्त इते परवान ।।१५।।

अर्थ—भगवान्‌को भोग लगाकर प्रसादके रसका अनुभव करने वाले श्रीशङ्कर

आदि सोलह प्रसाद-निष्ठ भक्त हैं, जो भगवान्‌के भोगसे बचे हुए अन्नकी महिमा वर्णन करनेमें परम निपुण हैं।

पद्मपुराणका इसी आशयका श्लोक इस प्रकार है—

बलिर्विभीषणो भीष्मः कपिलो नारदोऽर्जुनः। प्रह्लादो जनको व्यासः अम्बरीषः पृथुस्तथा॥
विष्वक्सेनो ध्रुवोऽक्रूरो सनकाद्याः शुकादयः। वासुदेवप्रसादान्नं सर्वे गृह्णन्तु वैष्णवाः॥

महाप्रसाद-ग्रहण करने की अभिलाषा रखनेवाले उद्धवजी श्रीकृष्णसे कहते हैं—

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥

—भगवन्! आपके श्रीअङ्गपर धारण की गई माला, सुगन्धित द्रव्य और वस्त्र आदि से आपके दास हम लोग अपने आपको सुशोभित करते हैं और आपका उच्छिष्ट (जूठन) खाकर आपकी मायाको जीतते हैं।

पद्मपुराणमें भी कहा है—

तीर्थकोटिशतैर्भूतो यथा भवति निर्मलः।
करोति निर्मल देहं भुक्तशेषं तथा हरेः॥

—जिस प्रकार जीव करोड़ों तीर्थोंमें स्नान कर निर्मल हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌के भोगसे बचे हुए पदार्थोंको ग्रहण करनेवालेकी देह पवित्र हो जाती है।

हरिके प्रसादकी तुलनामें अपने को अशुद्ध बताती हुई एकादशीका वचन है—

क्व पल्वलपयोबिन्दुः क्व पीयूषपयोनिधिः।
क्वाहमेकादशी मन्दा क्व प्रसादो हरेस्तथा॥

—कहाँ छोटी-सी तलैयाके जलकी बूँद और कहाँ अमृतका समुद्र! कहा मैं मन्द (प्रभाव-हीन) एकादशी और कहाँ हरिका प्रसाद!

मूल (छप्पय)

अगस्त्य, पुलस्त्य, पुलह, चिमन, वसिष्ठ, सौभरि रिषि।
कर्दम, अत्रि, रिचीक, गर्ग, गौतम, व्यासशिषि॥
लोमश, भृगु, दालभ्य, अंगिरा, शृंगि प्रकासी।
मांडव्य, विश्वामित्र, दुर्वासा सहस अठासी॥
यागवलि, यामदग्नि, मायादर्श, कश्यप, परवत, पाराशर पदरज धरौं।
ध्यान चतुर्भुज चित धर्‌यो, तिन्हैं सरन हौं अनुसरौं॥२६॥

अर्थ—भगवान्‌के चतुर्भुज रूपका ध्यान जिन भक्तोंने किया है, मैं उनकी शरण हूँ। इन छब्बीस भक्तों के अतिरिक्त अठासी हजार भक्त और ऐसे हैं, जो भगवान्‌के इस रूप की उपासना करते हैं।

भक्तों के संक्षिप्त चरित्र—

महर्षि अगस्त्य

महर्षि अगस्त्यकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक कथाएँ प्रचलित हैं । कुछके अनुसार तो घड़ेसे उत्पन्न बतलाए जाते हैं, कुछमें पुलस्त्यकी पत्नी हविर्भूके गर्भसे विश्रवाके साथ इनकी उत्पत्तिका वर्णन आता है और कुछके अनुसार स्वायम्भुव मन्वन्तरमें पुलस्त्यके पुत्र दत्तोलि ही अगस्त्यके नामसे विख्यात हुए । कल्प-भेदसे ये सभी बातें ठीक उतरती हैं ।

एक बार जब वृत्रासुरको इन्द्रने मारडाला तो कालेय नामके दैत्य आकर समुद्र में छिप गए । वे दिनभर तो पानीके अन्दर रहते और रात होनेपर जङ्गलोंमें रहने वाले ऋषि-मुनियों को सतानेके लिए बाहर निकल आते । कितने ही समय तक वे रातको इसी प्रकार आ-आकर वशिष्ठ, च्यवन, भरद्वाज आदि महर्षियोंके आश्रमोंमें रहनेवाले ऋषि-मुनियोंके माँससे अपना भोजन करते रहे । लाचार होकर देवता महर्षि अगस्त्यजी की शरणमें गए । उनके प्रार्थना करने पर ऋषि-मुनियोंकी रक्षाके लिए वे विकल हो उठे । उन्होंने एक ही चुल्लूमें सागरका समस्त जल पी डाला । सागरके गर्भमें छिपे हुए राक्षस सामने आ गए । देवोंने उनमेंसे कुछका तो संहार कर दिया और कुछ फिर भी बचकर पातालमें जाकर छिप गए ।

एक बार ब्रह्महत्याके पापके कारण इन्द्रको अपने पदसे च्युत हो जाना पड़ा । उस समय इन्द्रासनपर राजा नहुष अधिष्ठित हुए । इन्द्र होनेपर अधिकारके मदसे उसकी बुद्धि विमोहित होगई । उन्होंने सोचा कि इन्द्राणी को अपनी पत्नी बनाए बिना इन्द्रका पद अधूरा है । जब इन्द्राणीसे इसके लिए प्रार्थना की गई तो वृहस्पतिजीकी सलाहसे उन्होंने उसको कहला भेजा कि अगर नहुष किसी ऐसी सवारीपर आए, जिसपर आज तक कोई भी न चढ़ा हो तो मैं उसकी बात मान सकती हूँ । नहुष चिन्तामें पड़ गए । दूसरे ही क्षण सवारीका ध्यान आ गया उन्हें । उन्होंने सवारी ढोनेके लिए ऋषियोंको बुलाया । ऋषियोंको मानापमानका तो कोई ध्यान था ही नहीं; नहुषसे आदेश पाकर आ लगे सब पालकीके नीचे । राजा नहुष अब उसपर सवार हुए । वे इन्द्राणीके पास शीघ्रातिशीघ्र पहुँचना चाहते थे । इसलिए उन्होंने एक कोड़ा हाथमें ले रक्खा था और ऋषियोंको "सर्प ! सर्प !!"—जल्दी चलो ! जल्दी चलो !! कहकर प्रताड़ित करने लगे । यह बात महर्षि अगस्त्यसे न देखी गई । उन्होंने शाप देकर नहुष को 'सर्प' बना दिया । नहुषको अपने पापोंकी उचित सजा मिल गई ।

रामावतारके समय भगवान् श्रीराघवेन्द्र इनके आश्रम पर आए। महर्षि अगस्त्य का मन उनके दर्शन करते ही नाचने लगा। उन्होंने उनका आदर-सत्कार किया, स्तुति-स्तवन किए एवं उनके साथ संसर्गसे अपने जीवनको सफल बनाया। महर्षिने श्रीरामचन्द्र को अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्र दिये और उनको सूर्योपस्थान की पद्धति बतलाई।

महर्षि अगस्त्यके द्वारा दीक्षित होकर सुतीक्ष्णके मनमें श्रीरामजीके प्रति अत्यधिक प्रगाढ़ प्रेम हो गया था। वे अपनत्व भूलकर भगवान् श्रीरामजीके लिए इतने व्याकुल हो गए कि आगे आनेवाले भक्त इनकी भक्तिको आदर्श मानकर अपनी साधना को सफल बनाने लगे।

लङ्का-विजयके उपरान्त जब श्रीरामजीका राज्याभिषेक हुआ तो महर्षि अगस्त्य वहाँ पहुँचे। उन्होंने भगवान् श्रीरामजीको अनेक प्रकारकी कहानियाँ सुनाईं। इनके द्वारा कही गई अधिकांश कथाएँ वाल्मीकि-रामायणके उत्तरकाण्ड में उपलब्ध हैं। 'अगस्त्य-संहिता' नामक एक उपासना-ग्रंथकी इन्होंने रचना की है।

एक बार अगस्त्यजीके मनमें भगवान्के दर्शन करनेकी अभिलाषा पैदा हुई। वे ब्रह्माजी की आज्ञा से वैङ्कटेश पर्वतपर जाकर उनके आविर्भावकी प्रतीक्षा करने लगे। उधर भगवान्का परम-भक्त राजा शंख भी भगवान्के दर्शन पानेको उनकी भक्तिमें दृढ़ था। श्रीहरिने आकाशवाणी द्वारा उसको भी श्रीअगस्त्यके पास वैङ्कटेश पर्वतपर जाकर दर्शन करनेकी आज्ञा दी। भगवान्का वहाँ आविर्भाव हुआ। महात्मा शंख और महर्षि अगस्त्यके साथ कई देवताओं और मुनियोंको भगवान्के चतुर्भुज रूपका दर्शन प्राप्त हुआ। राजा शंख और महर्षि अगस्त्य दोनों को निर्मल भक्तिका वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गए।

कई बार विन्ध्याचल सूर्यके सामने आकर उनके प्रकाशको रोक लेता था, जिससे सूर्य की किरणें संसारमें नहीं आ पाती थीं और वहाँ बराबर अन्धकार बना रहता था। देवताओंने अगस्त्यजीसे प्रार्थना की। महर्षि अगस्त्य अपने शिष्य विन्ध्याचलके पास आए। महर्षिको देखते ही उसने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उन्होंने उसे उसी प्रकार पड़े रहनेका आदेश दे दिया। वह आज-पर्यन्त उसी प्रकार प्रणत पड़ा है।

श्रीअगस्त्यजी भगवान्की कृपासे सप्तर्षियोंमें अपना स्थान प्राप्त कर सके। उनकी तपस्याके तेज से समस्त राक्षस डरते थे; रावण भी उनसे भय खाता था। उनकी भक्ति भगवान्को बहुत प्रिय थी। इसी भक्तिके कारण वे कल्पान्त तक अमर रहकर श्रीहरिके भजनका सौभाग्य प्राप्त कर सके।

श्रीपुलस्त्यजी एवं श्रीपुलहजी

श्रीपुलस्त्यजी एवं पुलहजी आपसमें भाई-भाई थे। वे ब्रह्माजीके नौ प्रजापतियोंमें-से थे। दोनों भाइयोंमें भगवान्‌के प्रति अनुराग था। वे संसारमें रहकर भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपने कर्त्तव्योंका पालन किया करते थे। अन्तमें अपने सदाचार, परोपकार, कर्त्तव्य-निष्ठा एवं धार्मिक प्रवृत्तिके कारण उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ।

—★—

महर्षि श्रीच्यवनजी

महर्षि च्यवन बड़े तपस्वी मुनि थे। वे अपने आश्रममें निवास करते हुए अनन्त काल तक समाधिस्थ रहकर भगवान्‌का ध्यान किया करते थे। वे न कुछ खाते थे और न पीते ही थे। यहाँ तक कि स्वाँस लेना भी त्याग दिया करते थे।

एक बार वे इसी प्रकार समाधिस्थ थे। दीर्घ-कालसे अङ्ग-सञ्चालन न करनेके कारण दीमकोंने अपनी बाँबीसे उनको पूर्ण रूपसे ढक दिया था, उनकी आँखोंके सामने केवल दो सूराख-से बन गए थे जिनमेंसे उनके नेत्र टिमटिमाया करते थे।

उसी समय उनके आश्रममें राजा शर्याति अपनी पुत्री सुकन्याके साथ घूमनेके लिए आए। सुकन्या अपनी सखियोंके साथ प्रकृतिका सौन्दर्य देखकर मुग्ध होती हुई वनमें चारों ओर घूम रही थी। सहसा उसकी निगाह महर्षि च्यवनकी नेत्र-ज्योतिपर पड़ी। कौतूहलवश सुकन्याने एक काँटा उठाकर उन ज्योतियोंको बेध दिया। इससे उनमें से खून बहने लगा। उसी समय राजा शर्यातिके सैनिकोंका मल-मूत्र रुक गया और उनके पेटमें बड़ी वेदना होने लगी। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे अपने सैनिकोंसे बोले—"अरे! तुम लोगोंने कहीं महर्षि च्यवनके प्रति अपराध तो नहीं कर दिया है, जिससे तुमको यह कष्ट उठाना पड़ा हो?" यह बात सुनकर सुकन्याको ध्यान आया और वह डरती-डरती अपने पितासे बोली—"पिताजी! मुझसे अज्ञातरूपसे एक अपराध होगया है।" उसने अपने पिताको जङ्गलमें घटित सम्पूर्ण घटनाको सुनाया।

अपनी कन्याकी यह बात सुनकर शर्याति बड़े घबड़ाए। वे समाधिस्थ च्यवनके पास गए और विविध प्रकारसे प्रार्थना करके उनको प्रसन्न किया। इसके बाद उनका अभिप्राय समझ कर उन्होंने अपनी कन्याका विवाह उनसे कर दिया और तब अपनी राजधानीमें आए। उधर परम क्रोधी च्यवनको अपने पतिके रूपमें प्राप्त कर सुकन्या बड़ी सावधानीसे उनके मनोनुकूल बर्ताव करके उन्हें प्रसन्न रखनेकी कोशिश करने लगी।

कुछ समयके उपरान्त एक दिन च्यवन-ऋषिके आश्रममें अश्विनीकुमार आए। महर्षिने बड़ी श्रद्धासे उनका आदर-सत्कार किया और कहा—"आप दोनों समर्थ हैं, अतः आप मुझे युवावस्था प्रदान कीजिए। मेरा रूप एवं अवस्था ऐसी हो जाय, जैसी कि युवतियाँ चाहती हैं। मैं जानता हूँ कि आपको देवताओंने सोम-रस पीनेके अधिकार से वञ्चित कर रखा है, फिर भी मैं आपको यज्ञमें सोमरसका भाग दूँगा।"

महर्षिकी बातोंसे अश्विनीकुमार बड़े प्रसन्न हुए और बोले-"आइए, हम आपकी अभिलाषा पूरी करते हैं।" वे उन्हें सिद्धोंके कुण्डमें लेगए और उन्हें उसके जलमें प्रवेश कराया। सरोवरके बाहर आते ही च्यवनकी स्थिति बिलकुल ऐसी ही होगई जैसी कि वे चाहते थे।

कुछ समयके उपरान्त च्यवन-ऋषिने शर्यातिके आग्रहपर उनका यज्ञ कराया। सोमयज्ञका अनुष्ठान किया गया। सोमपानके अधिकारी न होनेपर भी शर्यातिने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अश्विनीकुमारोंको सोमपान कराया। इन्द्रको यह कब सहन होता? उसने शर्यातिको मारनेके लिए वज्र उठाया, पर महर्षि च्यवनने वज्रके सहित उनका हाथ स्थिर कर दिया। तबसे सब देवताओंने अश्विनीकुमारोंको सोमपानका अधिकारी मान लिया। जिन तपस्वी महर्षिने इन्द्र की परम्पराको पलटकर अनधिकारी अश्विनीकुमारोंको भी सोमपायी बना दिया, उनकी महानता का कैसे वर्णन किया जा सकता है?

श्रीवशिष्ठजी

श्रीवशिष्ठजी मित्रावरुणके पुत्र थे। बादमें निमिके शापसे देह-परित्याग करनेके उपरान्त वे आग्नेय-पुत्र कहलाए। सती-शिरोमणि भगवती अरुन्धती उनकी पत्नी हैं। पहले कल्पमें वे ब्रह्माजीके मानस-पुत्र थे। उस समय जब सृष्टिकर्त्ताने इनको सूर्यवंशका पौरोहित्य सौंपा तो इन्होंने अस्वीकार कर दिया; क्योंकि इस कार्यको पुराणोंमें श्रेष्ठ नहीं माना गया है। यह देख ब्रह्माजीने इनको समझाया—"बेटा! पुरोहित-कर्म शास्त्रों के अनुसार श्रेष्ठ नहीं है और फिर तुम—जैसे त्यागी-तपस्वीको तो और भी इसकी आवश्यकता नहीं है तथापि मैंने यह कार्य जो तुम्हें सौंपा है, इसका कारण यह है कि तुम्हारी मनोकामना इस वंशके पौरोहित्यसे ही सफल होगी। आगे चलकर इसी वंशमें मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम जन्म लेंगे। तुम्हें उन अखिलब्रह्माण्डनायक राघवेन्द्र का गुरुत्व प्राप्त होगा। बतलाओ, उससे बढ़कर इस जीवनकी सार्थकता और क्या हो

सकती है ?" ब्रह्माकी बात वे मान गए और तब सूर्यवंशका पौरोहित्य उन्होंने स्वीकार कर लिया।

पहले ये सम्पूर्ण सूर्यवंशके पुरोहित थे, किन्तु बादमें राजा निमिसे विवाद हो जानेपर वे अयोध्या के पास एक कुटिया बना कर रहने लगे। अब ये केवल इक्ष्वाकु-वंशका ही पौरोहित्य करते थे।

श्रीवशिष्ठजी अयोध्या नरेशके सर्वाङ्गीण कल्याणकी सर्वदा चेष्टा किया करते थे। जब अनावृष्टिसे अकाल पड़ता तो वे तपोबलसे वर्षा करके प्रजाका कल्याण करते, जब अतिवृष्टि, या मूषकों और शलभोंका प्रकोप होता तो उसे भी शमन करनेमें ये ही समर्थ सिद्ध होते। तप द्वारा गंगाजीको लानेमें हताश भगीरथको प्रोत्साहित कर पुनः अपने प्रयत्नपर अग्रसर करने वाले श्रीवशिष्ठजी ही थे। निःसन्तान दिलीपको नन्दिनी की सेवा द्वारा पुत्रकी प्राप्ति वशिष्ठजीने ही करवाई थी।

एक बार विश्वामित्रजी सेना-सहित श्रीवशिष्ठजीके आश्रममें आए। ब्रह्मर्षिने उनका आदर-सत्कार किया। भोजनके समय केवल नन्दिनी-गायके दुग्धसे बने पाककी सहायता से वे समस्त सेनाके साथ विश्वामित्रको संतृप्त कर सके। गाय का ऐसा अद्वितीय प्रभाव देख कर विश्वामित्रजीने उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा प्रकट की, किन्तु वशिष्ठजी उस गायको किसी भी मूल्यपर देनेको राजी नहीं हुए। अन्तमें राज-मदसे उन्मत्त विश्वामित्रने उसे शक्तिके द्वारा छीन लेनेकी चेष्टा की। महान् तेजस्वी वशिष्ठने अपने तपोवलसे अपार सैन्य-दलकी सृष्टि करके विश्वामित्रजीकी समस्त सेना का विध्वंस कर दिया। विश्वामित्रजीको मुँहकी खानी पड़ी। वे पराजित हुए, पर उनके हृदयमें वशिष्ठजीके प्रति द्वेषका भाव और भी प्रबल हो गया।

इस बार वे भगवान् शंकरजीकी शरणमें गए। विश्वामित्रने अनेक प्रकारकी स्तुति और तपश्चर्याके द्वारा उनसे कितने ही दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त किए। इस बार विशेष उत्साह और विजयकी आशा लेकर वे महर्षिके सामने आए। दोनों ओरसे उत्तर-प्रत्युत्तर हुए, पर इस बार भी विश्वामित्रकी कामना अधूरी ही रही। महर्षि वशिष्ठके ब्रह्मदण्डके सामने उन्हें पराजित ही होना पड़ा।

अब उन्होंने उग्र तप करके ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेकी चेष्टा की। उन्होंने महर्षि के एक-सौ पुत्रोंका विनाश कर दिया, पर शान्त-चित्त वशिष्ठका मन अनुद्वेलित ही रहा। उनके हृदयमें न तो क्रोध ही जागा और न किसी प्रकारकी प्रतिहिंसाकी भावना ही पैदा हुई। एक दिन रातमें विश्वामित्रजी वशिष्ठजीको मारनेके लिए आए। शान्त-स्निग्ध निशा, प्रकृतिके प्रत्येक अंगको धवलित करने वाली शीतल ज्योत्स्ना, मन्द-मन्द

मुस्कानके समान प्रवाहित होने वाला सौरभमय शीतल पवन ! सबकी ओरसे आँखें मूँदकरके विश्वामित्रजी लुकते-छिपते, वृक्ष-लताओंसे टकराते चले आरहे थे वशिष्ठजी की हत्या करने। आश्रमके पास विश्वामित्रजी आए। वे पीछे ही लताओंके झुरमुटमें छिप गए यह देखनेके लिए कि वशिष्ठजी कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं ? उसी समय इनको सुनाई पड़ा। वशिष्ठजी अपनी पत्नीसे कह रहे थे—"सचमुच, बड़भागी तो वे श्रीविश्वामित्र ही हैं, जो इस निर्मल चन्द्र-ज्योत्स्नामें उग्र तप करके भगवान्को प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हुए अपने जीवनको सफल बना रहे हैं।"

विश्वामित्रजीने वशिष्ठकी बातोंका यह अंश सुना तो उनका हृदय पश्चात्तापसे भर गया। उनकी आत्मा उनको धिक्कारने लगी—"छिः ! विश्वामित्र ! जो व्यक्ति एकान्तमें तेरे क्रियाकलापोंकी प्रशंसा करके तुझे धन्यतम बतला रहा है, उसीकी अकारण हत्या करनेके लिए तू कटिबद्ध है।"

इस बार भी वशिष्ठकी क्षमा-शीलता और सहिष्णुताके सामने विश्वामित्रजी की हार हुई। वे शस्त्र फैंक कर आश्रममें गए और वशिष्ठजीके चरणोंमें गिर पड़े। वशिष्ठजीने उन्हें हृदयसे लगा लिया और सबसे पहिले उनको ब्रह्मर्षि स्वीकार किया।

अन्तमें वह समय आया जिसके लिये इच्छा न होनेपर भी वशिष्ठजीनें पुरोहित-कर्म स्वीकारा था। श्रीरामजीका अयोध्याके महाराज दशरथके घर जन्म हुआ। उन्होंने उनके समस्त संस्कार कराए। वे उनके गुरु बने और योगवाशिष्ठ-जैसे ज्ञानके मूर्तरूप ग्रंथका उन्होंने श्रीरामजीको उपदेश किया। उनका हृदय श्रीरामजीके प्रेममें पगा था। वे कोई भी कार्य श्रीरामजीकी मनोकामनाके विपरीत करना नहीं चाहते थे। उनका विश्वास था कि—

'राखे राम रजाय रुख, हम सबकर हित होय।'

उनकी अभिलाषा प्रभु श्रीरामजीकी अभिलाषाके साथ मिल गई थी, आराध्य की भावना के साथ अपनी इच्छाकी तदाकारतासे बढ़कर भक्तिकी और क्या पराकाष्ठा हो सकती है ? अपनी इसी भक्तिभावना और लोक-मंगल-कामनाके कारण आज भी वशिष्ठजी देवी अरुन्धती के साथ सप्तर्षियोंके मण्डलमें सुशोभित हैं।

श्रीसौभरिजी

जिस समय मान्धाता सप्त-द्वीपवती इस पृथ्वीके एकछत्र अधिपति थे, उस समय यमुना किनारेके एक परम रमणीक स्थलमें सौभरि नामके एक महातपस्वी मुनि रहा

करते थे। वे यमुना-स्नान करते और सांसारिक विषयोंसे अनभिज्ञ रहकर तपस्यामें अपना समय लगाते।

एक बार यमुनामें डुबकी लगानेके बाद जब वे अपनी तपश्चर्यामें निमग्न थे, तो उन्हें एक मत्स्यराज दिखाई पड़ा। वह अपनी पत्नियोंके साथ विहार कर रहा था। उस संयोग सुखकी कल्पनासे उनका मन विचलित हो उठा और वे विवाह करनेकी अभिलाषा करने लगे। महाराजा मान्धाताके पास जाकर उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की और यह भी कहा कि वे अपनी पचास कन्याओंमेंसे एकका विवाह उनके साथ कर दें। मुनिकी बातको मान्धाता टाल नहीं सकते थे। पर उनकी वृद्धावस्थाको देखकर उन्होंने कहा—"ब्रह्मन्! मेरी पचास कन्याओंमें से जो भी आपको चुन ले आप उसीको ले लीजिए।"

महाराजके मनका भाव समझनेमें सौभरि ऋषिको देर न लगी। वे सोचने लगे—"राजाने वृद्धावस्थाके कारण मेरी आकृतिके बेडौल हो जानेके कारण ही ऐसी बात कही है। वह जानता है कि जिसके मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, गर्दन हिलने लगी है, शरीर काँपने लगा है, ऐसे बुड्ढेको कोई भी कन्या पतिरूपमें स्वीकार करना नहीं चाहेगी। अच्छी बात है। मैं अपनी तपस्या के बलसे अपने आपको इतना सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्याओंकी तो बात दूर रही, देव-कन्याएँ और गन्धर्व-कन्याएँ भी मेरे लिए व्याकुल हो उठें।" उन्होंने ऐसा ही किया। वे अपनी वृद्धावस्थाको त्यागकर एक स्वस्थ-सुन्दर नवयुवकके समान बन गए।

फिर क्या था, राजाज्ञाके अनुसार उनको सजे-सजाए अन्तःपुरमें पहुँचा दिया गया। सौभरिकी रूप-सम्पदाको देखकर सभीका मन उनसे जा लगा। वे सभी उनको पतिरूपमें पाने के लिए प्रयत्नशील हो गईं—'ये तो मेरे योग्य हैं, तुम व्यर्थ ही इनके प्राप्त करनेकी कामनासे मन क्यों ललचाती हो?' अन्तमें सभीका ऐसा आग्रह देख कर सौभरिने सबको अपनी पत्नी बना लिया और सानन्द गार्हस्थ्य-जीवन बिताने लगे। अपनी तपस्याके बलसे उन्होंने सुन्दर सौरभमय पुष्पोंवाली वाटिकाओंका, शीतल अमृतोपम जलवाले सरोवरोंका, ऊँचे-ऊँचे राजप्रसादोंको भी तिरस्कृत करनेवाले महलोंका एवं इन्द्रके वैभवसे भी बढ़कर भोग-सामग्रियोंका निर्माण किया और उनसे संयुक्त होकर वे अपनी पत्नियोंके साथ विहार करने लगे। उनके इस ऐश्वर्य, वैभव एवं रमणको देखकर महाराज मान्धाताकी बुद्धि भी विथकित हो गई।

दीर्घकाल तक ऋग्वेदाचार्य श्रीसौभरिजी इस प्रकारसे सांसारिक सुखोंमें फँसे

रहे, किन्तु उनकी कामना एवं भोगेच्छा शान्त न हुई, अपितु दिन-प्रति-दिन बढ़ती रही। एक दिन उनका मन कुछ स्वस्थ था। चित्तपरसे भोगोंके आकर्षणका प्रभाव जब कुछ क्षणके लिये समाप्त हुआ तो वे अपनी इस स्थितिपर पछताते हुए कहने लगे—

अहो इमं पश्यत मे विनाशं तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य ।
अन्तर्जले वारिचर-प्रसङ्गात् प्रच्यावितं ब्रह्म चिरंभृतं यत् ।।

—अरे, मैं तो बड़ा तपस्वी था। मैंने भलीभाँति अपने व्रतोंका अनुष्ठान किया था। मेरा यह अधःपतन तो देखो! मेरा वह ब्रह्मतेज, जिसको अनन्तकालकी दीर्घ तपस्यासे उपार्जित किया था, एक मछलीके क्षणिक संसर्गसे विनष्ट होगया।

अपने उस तपस्वी-कालकी इस वर्तमान दशासे तुलना करने पर उनका मन एक विचित्र प्रकारकी ग्लानिसे भर गया। "कहाँ वह शान्त-सन्तोषी एकान्त जीवन और कहाँ यह प्रतिपल मनः-स्थितिको विकम्पित करने वाली वासनामयी दशा! हाय! मैंने मायाके द्वारा विवेक-बुद्धिके नष्ट हो जानेके कारण अपना मन किस निन्दनीय कार्यमें लगा दिया!"

इस प्रकार पश्चात्तापसे उत्तप्त-हृदय मुनि सौभरि संन्यास लेकर वनको चले गए। उनकी पत्नियोंने भी उन्हींके साथ वनकी यात्रा की। वहाँ सौभरिने तपस्याके द्वारा अपने भौतिक शरीरको सुखा डाला और वे आत्माको पहले समान ही तेजस्वी बनानेमें लग गए। दीर्घकाल तक तप करते-करते जब उनकी आत्मा विकृति-रहित होगई तो वह शरीर त्याग कर परमात्मामें जा मिली।

मुनिकी तपस्याके प्रभावसे ही उनकी पत्नियाँ भी सती होगईं और उन्होंने भी अपने पतिका मार्ग ही अनुसरण किया।

श्रीकर्दमजी

महर्षि कर्दम ब्रह्माजीके पुत्र थे। प्रजापतिने सृष्टि-विस्तारके लिए इनसे कहा, किन्तु इन्होंने पहले तपस्या करनेका विचार किया और इसीलिए वे सरस्वती नदीके किनारे जाकर तपस्या करने लगे। दीर्घकाल तक भगवच्चिन्तन करनेके बाद इनको श्रीहरिके दर्शन प्राप्त हुए। भगवान्ने आकर श्रीकर्दमसे कहा—"आजसे तीसरे दिन प्रजापतिके पुत्र मनु आपके पास आवेंगे, उनके साथ उनकी पत्नी शतरूपा और कन्या देवहूति भी होंगी। वे तुमसे अपनी परम-सुन्दरी कन्याका विवाह कर देंगे। तब तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा और तुम प्रजापति ब्रह्माकी आज्ञाका पालन कर सकोगे।" भगवान् इतना कहकर अन्तर्धान होगये।

तीसरे दिन महाराज मनु अपनी पत्नी एवं कन्याके साथ श्रीकर्दमके आश्रममें आए। सबने महर्षिको प्रणाम किया। उनको आशीर्वाद देनेके उपरान्त जब कर्दमने उनसे आश्रममें आनेका कारण पूछा तो महाराज मनुने कहा—"महाभाग ! यह देवहूति मेरी कन्या है, जो प्रियव्रत एवं उत्तानपादकी बहिन है। इसकी अभिलाषा शील-गुण आदि में अपने समान ही पति प्राप्त करनेकी है। इसने देवर्षि नारद से आपके शील, स्वभाव और गुणोंके सम्बन्धमें सुना है, अतः आपको पतिरूपमें प्राप्त करना चाहती है। मेरी भी यही अभिलाषा है कि आप इस कन्याको अङ्गीकार करके मुझे अनुगृहीत करें।"

श्रीकर्दमजीने भगवान्के आदेशानुसार मनुकी कन्याको स्वीकार तो कर लिया, किन्तु उन्होंने एक शर्त लगादी। वे बोले—"मैं सन्तानोत्पत्ति तक ही गृहस्थाश्रममें रहूँगा, इसके बाद संन्यास लेकर भगवान्के भजनमें ही शेष जीवन बिताऊँगा।" सभी को यह शर्त स्वीकार थी। देवहूतिका विवाह कर्दमजीके साथ कर दिया गया। महाराज मनुने कन्याके साथमें अनेक प्रकारके वस्त्र, आभूषण एवं गृहस्थोचित सामग्री प्रदान की।

विश्वास, पवित्रता, उदारता, संयम, शुश्रूषा, प्रेम और मधुर भाषण आदि गुणों से सुशोभित देवहूति तन, मन, प्राणसे प्रेमपूर्वक अपने पतिकी सेवामें लग गईं। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, कपट आदि दोष कभी भी उनके मनमें नहीं आते थे। इस प्रकार पतिको परमेश्वर मानकर उनकी सेवा करते हुए उनको कितने ही वर्ष व्यतीत होगए।

एक दिन अपनी सेवामें सतत लगी रहनेवाली देवहूतिको अत्यन्त कृश देखकर कर्दमका हृदय उनके प्रति दयासे भर गया। वे उनसे बोले—"प्रिये ! दीर्घकाल से तुम मेरी सेवा करती चली आरही हो; मैं तुम्हारी सेवासे बड़ा प्रसन्न हूँ। मेरी तपस्या से संसार के समस्त भोग सम्भव हैं। तुमको जिस भोगके भोगनेकी अभिलाषा हो वह मुझे बतलाओ ?" पतिकी बात सुनकर देवहूतिने बड़े संकोचसे अपनी सन्तान-विषयक अभिलाषा प्रकट की। कर्दमने अपनी प्रेयसीकी मनोकामना पूरी करनेका निश्चय किया। उनकी इच्छा-मात्रसे एक बड़ा सुन्दर विमान आकाश से उतरकर आया। कर्दम पत्नी सहित उसपर सवार होगए। असंख्यों दास-दासियों से युक्त हो उन्होंने कई वर्षों तक विहार किया। कुछ समयके पश्चात् देवहूतिके गर्भसे नौ कन्याओंका जन्म हुआ। सभी कन्याएँ बड़ी सुन्दर और उत्तम गुणवाली थीं।

अब कर्दमकी प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी। उनका संन्यास लेनेका समय आगया था। जब महर्षिने अपनी प्रिय पत्नीको उस शर्तका ध्यान दिलाया तो वे बोलीं—"महाराज ! आप अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अब वन तो जारहे हैं, किन्तु फिर भी मैं आपकी शरण हूँ। आपको मेरी एक विनय और माननी होगी। इन कन्याओंको वरोंके सौंप देना आपका ही काम है। साथ ही जब आप वनको चले जायँ, उस समय मेरे जन्म-मरणरूप शोक और बन्धनको दूर करने वाला भी कोई यहाँ होना चाहिए।" देवहूतिका तात्पर्य पुत्र-प्राप्ति से था।

महर्षि कर्दमने कहा—"तुम धैर्य धारण करो। कुछ दिनमें भगवान् स्वयं तुम्हारे गर्भसे जन्म लेंगे। अब तुम संयम, नियम, तप और दान आदि कार्योंमें अपना मन लगाओ एवं श्रद्धा तथा भक्तिसे भगवान्की आराधना करती रहो।"

इसी बीच ब्रह्माजी नौ प्रजापतियोंके साथ वहाँ आए। उनके आदेशसे महर्षि कर्दमने अपनी नौ कन्याओंका विवाह उन प्रजापतियोंसे कर दिया। कला मरीचिको, अनसूया अत्रिको, श्रद्धा अङ्गिराको, हविर्भू पुलस्त्यको, गति पुलहको, क्रिया क्रतुको, ख्याति भृगुको और अरुन्धती वशिष्ठ मुनिको ब्याही गई।

तदनन्तर देवहूतिके गर्भसे भगवान् कपिलने अवतार ग्रहण किया। धन्य होगईं देवहूति। उन्हें संसारमें जन्म लेनेका लाभ प्राप्त होचुका था। भगवान् कपिलने अनेक प्रकारसे अपने पिता कर्दमको उपदेश दिया। तत्पश्चात् महर्षि विरक्त होकर जंगलमें चले गए और सर्वात्मभूत भगवान्का भजन करके उन्होंने परमपद प्राप्त किया।

श्रीअत्रिजी

महर्षि अत्रि ब्रह्माजीके मानस-पुत्र हैं। कर्दमकी पुत्री एवं कपिलकी भगिनी अनसूया इनकी पत्नी थीं। ब्रह्माजीने इस दम्पतिको सृष्टि करनेका आदेश दिया तो इन्होंने सृष्टि-कार्यसे पूर्व तपस्या करनी चाही और बड़ी घोर तपस्या की। इनकी तपस्याका उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति न होकर भगवान्का साक्षात्कार था। दोनों दम्पति प्रभु-ध्यान में तल्लीन थे। उसी समय ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीनों ही देवताओंने आकर उनको दर्शन दिए, किन्तु वे अपने ध्यानमें इतने मग्न थे कि इन देवताओंके आनेका उन्हें पता ही न चला। जब देवताओंने ही उनको जगाया तो वे उठकर उनके चरणोंपर गिर पड़े और गद्गद्-कण्ठसे तीनोंकी स्तुति करने लगे। इनके प्रेम और निष्ठाको देखकर तीनोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने इनसे वरदान माँगनेको कहा। ब्रह्माकी

इनके लिए सृष्टि-विस्तार करनेकी आज्ञा थी, इसलिए इन्होंने तीनों देवताओंको पुत्र-रूपमें माँग लिया। भक्ति-परवशताके कारण भगवान्‌को वरदान स्वीकार करना पड़ा और तीनों देवताओंमें-से विष्णुजी दत्तात्रेयके रूपमें, ब्रह्माजी चन्द्रमाके रूपमें और शंकरजी दुर्वासाके रूपमें अत्रिके यहाँ आविर्भूत हुए।

देवी अनसूयाको अपने इन तीनों बालकोंके अतिरिक्त और कुछ अच्छा ही नहीं लगता था। वे दिन-भर इन्हींको खिलाने-पिलाने और बहलानेमें लगी रहती थीं। जिनकी चरण-धूलि के लिए बड़े-बड़े योगी और ज्ञानी तरसते हैं, उन्हीं त्रिदेवको अपने आँगनमें विशुद्ध-रूपमें विचरण करता देखकर सती अनसूया और महर्षि अत्रि कृतार्थ होगए।

श्रीराम वनवासके समय अपने छोटे भाई लक्ष्मण और सीताके साथ अत्रिके आश्रममें आए एवं पातिव्रत्य, सतीत्व और भक्ति की एकमात्र प्रतिमा अनसूयाको जगज्जननी जानकीजीके लिए स्त्री-धर्मोपदेशका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय भगवान् श्रीरामकी महर्षि-अत्रिने भक्ति एवं श्रद्धा-पूर्वक स्तुतिकी और उनसे यही निवेदन किया कि—

'चरण सरोरुह नाथ जनि, कबहु तजै मति मोर।'

श्रीअत्रिजीकी भगवान् श्रीरामके चरण-कमलोंमें अपूर्व निष्ठा थी। वे आजीवन उन्हींका स्मरण, ध्यान एवं संकीर्तन करते रहे और अन्तमें उन्हींको प्राप्त होगए।

—★—

श्रीऋचीकजी एवं श्रीजमदग्निजी

श्रीऋचीकजीका जन्म भृगुवंशमें हुआ था। वे बड़े प्रभावशाली एवं भगवद्भक्त थे। एक बार वे महाराज गाधिके पास गए और उनकी कन्या सत्यवती (परशुराम की बहिन) को माँगा। गाधिने देखा कि कन्या तो अभी यौवनको प्राप्त भी नहीं हुई है और मुनि वृद्ध हो चुके। इस स्थितिमें अयोग्य वरसे कन्याका विवाह किस प्रकार किया जाय? वे इस प्रकार विचारकर ऋषिसे बोले—"मुनिवर! हम लोग कुशिक वंशके हैं। आपको हमारी कन्याका मिलना असम्भव है। हाँ, एक बात है। यदि आप मुझे एक हजार ऐसे घोड़े शुल्क रूपमें दे सकें, जिनका शरीर तो चन्द्रमाके समान धवल हो, परन्तु एक-एक कान श्याम वर्णका हो, तो मैं अपनी कन्याका विवाह आपके साथ कर सकता हूँ। ऋचीकने जब यह बात सुनी तो वे राजा का आशय समझ गए। वे वरुणके पास गए और वहाँ से वैसे ही एक हजार घोड़े लाकर गाधिको दे दिए। इस प्रकार सुन्दरी सत्यवतीका विवाह ऋषि-ऋचीकके साथ होगया।

एक बार महर्षि ऋचीककी पत्नी एवं सास दोनोंने पुत्र-प्राप्तिकी इनसे प्रार्थना की। ऋषिने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और दोनोंके लिए अलग-अलग मन्त्रोंसे चरु पकाया। सासका चरु क्षत्रिय-तेजसे युक्त था और सत्यवतीके चरुमें ब्रह्मत्व निहित किया गया था। इसी बीच महर्षि स्नान करनेके लिए चले गए।

सत्यवतीकी माँने समझा कि मुनिने अपनी पत्नी सत्यवतीके लिए उसके चरुसे अवश्य ही श्रेष्ठ चरु बनाया होगा, इसलिए उसने उसका चरु माँग लिया। सत्यवतीने अपना चरु तो माँ को दे दिया और अपनी माँके चरुको स्वयं खा लिया। जब मुनिको दोनोंके बीच किए गए इस कार्यका पता लगा तो वे अपनी पत्नीसे बोले—"तुमने बड़ा अनर्थ कर डाला; क्योंकि जिस चरुके अन्दर क्षत्रिय-अंश निहित था, वह तुमने खालिया है, अतः तुम्हारा पुत्र तामसी एवं घोर प्रकृतिका तथा सब लोगोंको दण्ड देनेवाला होगा और तुम्हारा भाई ब्राह्मण-अंश से उत्पन्न होनेके कारण एक श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता होगा।"

सत्यवती पतिकी बात सुनकर घबड़ा गई। वह उनके पैरोंमें गिरकर प्रार्थना करती हुई बोली—"स्वामी! ऐसा मत करो। यदि कोई उपाय हो तो अब इस व्यवस्था को बदल दो।" इस पर ऋचीकने पत्नीकी बात मान ली। वे बोले—"अच्छी बात है। अब पुत्रके बदले तुम्हारा पौत्र उग्र प्रकृतिका होगा, पुत्र नहीं।" यथासमय सत्यवतीके गर्भसे पुत्रोत्पत्ति हुई, जिसका नाम जमदग्नि रखा गया। पुत्रोत्पत्तिके बाद सत्यवती समस्त लोकोंको पवित्र करने वाली परम पुण्यमयी कौशिकी नदी बन गई और महर्षि ऋचीक तपस्या करनेके लिए वनमें चले गए।

जमदग्निने रेणु ऋषिकी सुन्दरी कन्या रेणुकासे विवाह किया। उससे वसुमान् आदि कई पुत्र पैदा हुए। उनमें सबसे छोटे परशुरामजी थे, जिन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियों से शून्य कर दिया था।

उन दिनों हैहयवंशका अधिपति था अर्जुन। उस क्षत्रिय राजकुमारने दत्तात्रेयजी को प्रसन्न करके एक हजार भुजाएँ एवं युद्धमें अपराजित रहनेका वरदान लिया था। उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त थीं। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और स्थूल-से-स्थूल रूप धारण करके संसारमें वायुके समान सर्वत्र बेरोक-टोक विचरण कर सकता था। एक दिन दैववशात् शिकार खेलता हुआ वह जमदग्नि मुनिके आश्रमपर आ निकला। महर्षिके आश्रममें यज्ञ-कार्योंका अनुष्ठान करनेके लिए कामधेनु रहती थी। उसी गायके दूधसे उन्होंने राजा सहस्रबाहुका सेना, मन्त्रियों और वाहनों सहित स्वागत किया। सहस्रबाहुने

कामधेनुका चमत्कार देखा। उसे लगा—जैसे मुनि का ऐश्वर्य उससे कई गुना बढ़ा-चढ़ा हो। जमदग्निको राजाकी दुष्ट प्रकृतिका क्या पता था ? वे स्वागत-सत्कारके उपरान्त भजन-साधन आदि कार्योंमें लग गए। उधर सहस्त्रबाहुने बिना उनसे पूछे ही अपनी सेनाको आदेश दिया कि वे उस गायको खोलकर महलोंमें ले जायँ। सैनिकोंने ऐसा ही किया। वे वत्स-सहित जबरन गायको माहिष्मती पुरी ले आए।

उनके चले जानेपर परशुरामजी आश्रममें आए। उन्हें राजा सहस्त्रबाहुकी नीचता और उसके द्वारा किये गए पिताजीके अपमानका पता लगा तो वे चोट खाए हुए साँपके समान व्याकुल हो उठे। उन्होंने अपने फरसा, तरकस, धनुष और ढालको सँभाला और भूखे सिंहके समान सहस्त्रबाहु की सेनाके पीछे दौड़ गए। उन्होंने नगरके मार्गमें ही उसे जा दबाया। एक ओर हजार बाहुओंका दैत्याकार हैहयाधिपति अर्जुन और दूसरी ओर चमचमाते फरसेसे उसकी सेनाका विध्वंस करनेवाले परशुराम। घमासान युद्ध हुआ। अन्तमें सहस्त्रबाहुका मस्तक काट डाला गया और परशुराम गाय को लौटाकर आश्रममें ले आए। जब जमदग्निको सब समाचार ज्ञात हुआ तो वे बड़े दुखी होकर बोले—"बेटा ! मानता हूँ कि तुम बड़े भारी वीर हो, किन्तु इस शक्ति से भी बढ़कर क्षमा है। तुमने अष्ठ लोकपालोंके अंशसे पैदा हुए नरपति सहस्त्रबाहुका बध करके प्रखर पाप कमाया है। तुम नहीं जानते बेटा ! कि सार्वभौम राजाका बध ब्रह्महत्या से भी बढ़कर है। जाओ ! अब तुम समस्त तीर्थोंका सेवन करके भगवान्का स्मरण करो जिससे तुम्हारे पाप नष्ट हो जायँ।"

एक दिन परशुरामकी माता रेणुका गङ्गामें जल भरनेके लिए गईं, तो क्या देखती हैं कि गन्धर्वों का राजा चित्ररथ अप्सराओंके साथ जल-विहार कर रहा है। रेणुकाको वह दृश्य बड़ा अच्छा लगा और वह यह भूल गई कि जमदग्निजीको होमके लिए विलम्ब हो जायगा। जल लेकर जब वह आश्रममें पहुँची, तो होमका समय निकल चुका था। शापके भयसे थर-थर काँपती हुई वह ऋषिके सामने अपराधीकी भाँति खड़ी हो गई। मुनिने योग-बलसे जान लिया कि रेणुकाने मानसिक व्यभिचार किया है, अतः उन्होंने परशुरामको आज्ञा दी कि वह अपनी माँ और भाइयोंको मार डाले। परशुरामने पिताकी आज्ञाका तत्काल पालन किया और क्षण-भर बाद तेज फरसेकी धारसे कटे हुए सिर पृथ्वीपर लोटते दिखाई देने लगे। पुत्रकी इस आज्ञाकारितापर जमदग्नि बड़े प्रसन्न हुए और वर माँगनेको कहा। परशुरामने यही माँगा कि उनकी माता तथा भाई जीवित हो जायँ। ऋषिने पुत्रकी अभिलाषा पूर्ण की और मरे हुए सब लोग इस प्रकार उठकर खड़े होगए जैसे सोकर उठे हों।

सहस्रबाहुके पुत्र पिताके बधसे क्षुब्ध हुए बैठे थे और बदला लेनेकी सोच रहे थे। एक दिन जब परशुराम और उनके भाई कहीं चले गए थे, वे अवसर पाकर आश्रम पर चढ़ आए और जमदग्नि ऋषिको मार डाला। इसका बदला, बादमें, परशुरामजी ने इक्कीस बार क्षत्रियोंको मारकर चुकाया।

श्रीगर्गजी

ये यदुवंशियोंके पुरोहित थे। श्रीकृष्णजीका नामकरण-संस्कार इन्हींके द्वारा कराया गया था। ये श्रीकृष्णजीके परम भक्त एवं उपासक थे। गर्ग-संहिता इनकी एक प्रख्यात रचना है। इसमें इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका गान बड़े मनोहर ढङ्गसे किया है।

श्रीगौतमजी

श्रीगौतमजी षड्-शास्त्रोंमें से न्याय-शास्त्रके आचार्य थे। इनका आश्रम सरयू-नदीके किनारे था। आज भी कार्तिककी पूर्णिमाको वहाँ मेला लगता है। उस स्थान पर इनकी पत्नी अहिल्याजीकी मूर्ति है।

अहिल्याजी पञ्चकन्याओं—(अहिल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती और मन्दोदरी) में मानी जाती हैं। ये अत्यन्त सुशीला, परम सुन्दरी एवं विशेष गुणवती थीं। इनके असामान्य रूपके कारण इन्द्र-पर्यन्त समस्त देवता इनको प्राप्त करनेकी कामना रखते थे, अतः यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि वे किसको मिलनी चाहिए। श्रीब्रह्माजीने इसकी व्यवस्था करदी। उन्होंने कहा—"जो एक दण्ड (२४ मिनट) में इस त्रिभुवनकी परिक्रमा कर आवेगा, वही इस परम सुन्दरी कन्या को वरण कर सकता है।"

ब्रह्माजीकी बात सबने मानली। वे अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर त्रिलोकी की परिक्रमा करनेके लिए चल पड़े। इधर गौतमजी भी उस सुन्दरीको प्राप्त करना चाहते थे। उनकी श्रीशालग्राममें विशेष निष्ठा थी। जब सब देवता शीघ्रगामी वाहनोंपर सवार होकर परिक्रमाके लिए चल दिए तब गौतमजीके इष्ट श्रीशालग्रामजीने उन्हें प्रेरित किया, जिसके अनुसार इन्होंने उनकी मूर्तिको स्थापित करके उसीकी प्रदक्षिणा कर ली। ऐरावत आदि वाहनोंपर द्रुतगतिसे जाते हुए इन्द्रादि देवताओंने देखा कि गौतमजी सबसे आगे बड़ी तेजीसे चले जारहे हैं। ब्रह्माजी ने भी स्वीकार किया कि श्रीगौतमजीने अपनी प्रदक्षिणा नियत समयसे पूर्व ही समाप्त कर ली है, अतः रूपवती

अहिल्याका विवाह श्रीगौतमके साथ ही होना चाहिए। सभी देवताओंको ब्रह्माजी का यह निर्णय मानना पड़ा और अहिल्याजी गौतमको ब्याह दी गईं।

श्रीगौतमजी सरयू नदीमें नित्यप्रति स्नान करते एवं अन्य दैनिक कार्योंको करने के बाद शालग्रामकी सेवामें लग जाते। भगवान्‌की कृपासे समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ उनको प्राप्त होगई थीं। वे अपने तपोबलसे सदा आगन्तुक ऋषि-मुनियोंका स्वागत बड़े सत्कारसे किया करते थे। इनकी कृपासे ही इनकी पत्नी श्रीअहिल्याजीको भगवान् श्रीरामके दर्शन हुए। निमि-वंशके गुरु महर्षि शतानन्दजी इन्हींके पुत्र थे।

व्यास-शिष्य—(शुकदेवजी) का चरित्र पृ० सं० ४७ पर देखिए।

श्रीलोमशजी

ये वही ऋषिराज हैं, जिन्हें हजारों वर्षों तक भगवान्‌ने अपने उदरमें रखकर अपनी महिमा और चरित्र दिखलाये। अन्तमें उन चरित्रोंको देखते-देखते लोमशजी जब ऊब गये, तो भगवान्‌ने इन्हें बाहर निकाल दिया। बाहर निकलनेपर इन्हें लगा जैसे वे भगवान्‌के उदरमें क्षण-भर ही रहे हों। दूसरी बार इन्होंने जब फिर भगवान्‌की माया का विस्तार देखनेकी इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने प्रलयका भयङ्कर दृश्य इन्हें दिखाया। उसे देखकर ये इतने घबड़ा गये कि भगवान्‌से अपनी माया समेट लेनेकी प्रार्थना की। भगवान्‌ने ऐसा ही किया और इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर इन्हें चिरजीवी होनेका वर दिया।

कहते हैं, एक समय वह आया जब अपनी लम्बी आयुसे ये उकता गए और भगवान्‌से मृत्युका उपाय पूछा। भगवान्‌ने कहा कि यदि तुम जल-ब्रह्मकी या ब्राह्मण की निन्दा करो, तो उस दुस्कार्यसे तुम्हारी मृत्यु हो सकती है। बड़े प्रसन्न होकर लौटते हुए ऋषि आश्रमको जारहे थे कि रास्तेमें इन्हें एक छोटी-सी पोखर जिसका जल शूकरोंने लोट-लोट कर गन्दा कर दिया था। उसके किनारे पर एक स्त्री बैठी हुई थी। उसकी गोदमें दो बालक थे। ऋषिने देखा कि उसने पहले एक बच्चेको दूध पिलाया और फिर स्तन धोकर दूसरे को। ऋषिको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस स्त्रीसे जब स्तन धोनेका कारण पूछा, तो उसने बतलाया कि उसके दो बच्चोंमेंसे एक ब्राह्मणसे पैदा है और दूसरा उसके पतिसे जो किसी नीच जातिका था। ब्राह्मण से पैदा हुए बच्चेको वह स्तन धोकर दूध पिलाती थी। लोमश ऋषिका ब्राह्मणके चरणो-दकको पीनेका नित्यका नियम था, अतः उन्होंने उसी पोखरके गन्दे जलसे उस ब्राह्मण-

बालकके पैर धोकर आचमन कर लिया। उसी समय भगवान्‌ने प्रकट होकर कहा—ब्राह्मणका ऐसा भक्त कभी नहीं मर सकता, अतः तुम मृत्युका मोह छोड़कर युगयुगान्तर तक मेरे भजन में रत रहो।"

श्रीभृगुजी

सरस्वती नदीके तीर पर एकबार ऋषिगण यज्ञ कर रहे थे कि उनमें इस विषय पर तर्क-वितर्क छिड़ गया कि ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें कौन बड़ा है। तीनोंकी परीक्षा लेनेके लिए भृगुको नियुक्त किया गया। भृगु सबसे पहले अपने पिता ब्रह्माजीके पास गये और विना नमस्कार आदि किए लट्ठकी तरह सामने खड़े होगए। ब्रह्माजीको बड़ा क्रोध आया, पर पुत्र जानकर पीगए। इसके बाद भृगु शिवजीके पास पहुँचे। अपने भाईको आता हुआ देखकर शिवजी आलिंगन करनेके लिए बढ़े, पर भृगु पीछे हट गए और शिवजीसे बोले—"तू कुमार्गगामी है, श्मशानमें घूमता है; मैं तेरा स्पर्श नहीं करूँगा।" शिवजी क्रोधसे लाल आँखें किए त्रिशूल उठाकर उन्हें मारनेके लिए दौड़े, लेकिन पार्वतीने पैरों पड़कर उन्हें शान्त किया। भृगुजी सबसे अन्तमें वैकुण्ठमें गए, जहाँ कि विष्णु भगवान् लक्ष्मीजीकी गोदमें सिर रखकर सो रहे थे। भृगुजी ने जाते ही उनकी छातीमें लात जमादी। भगवान्‌ने तत्क्षण उठकर भृगुके पैरको पकड़कर कहा—"आपके चोट तो नहीं लगी?" परीक्षा समाप्त हुई। निर्णय होगया। भृगुजीकी आँखों में भक्ति और प्रेमानन्दके आँसू छलछलाने लगे और भगवान्‌को स्तुति-द्वारा प्रसन्न कर वे लौट आए। उन्होंने ऋषियोंको निर्णय बतला दिया और स्वयं विष्णु भगवान्‌की भक्तिमें तल्लीन रहने लगे।

—★—

श्रीदालभ्यजी

श्रीदालभ्यजी भगवान् दत्तात्रेयजीके शिष्य थे। श्रीदत्तात्रेयजीने इनको भगवद्-भक्तिका ज्ञान कराया। उन्हींकी कृपासे इनको श्रीहरिके दर्शन प्राप्त हुए। अपने भजन-तप एवं गुरुकृपासे इनको जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ वह 'दालभ्य संहिता' में संगृहीत है।

श्रीअङ्गिराजी

महर्षि अङ्गिरा देवताओंके गुरु श्रीवृहस्पतिजीके पिता थे। श्रीनारदजीने आपको भक्ति का उपदेश किया था। आप भगवान् वासुदेवके अनन्य भक्त थे। आपके द्वारा

रचित 'आङ्गिरससंहिता' प्रसिद्ध है। जब इन्होंने देखा कि वृहस्पतिजी योग्य हो गए हैं तो ये भगवान्‌की भक्ति में लग गए और उनका ध्यान करते हुए नित्यधामको प्राप्त हुए।

श्रीऋषि शृङ्गजी

ये विभाण्डक मुनिके पुत्र थे। इन्होंने अपने पितासे ही विद्या-अध्ययन किया था। ये कभी भी ग्राम या नगरको नहीं गए थे, अतः इन्हें सांसारिकताका कुछ भी ज्ञान नहीं था। ये लौकिक व्यवहारसे दूर गहन वनमें पिताके आश्रममें ही रहा करते थे।

एक बार अङ्ग-देश (विहार) में बड़ा भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा। अन्न और चारेके अभावमें प्रजाजन 'त्राहि-त्राहि' करने लगे। पशु भूखके कारण प्राण त्यागने लगे। अपने राज्यमें इस भयङ्कर संकटको देखकर वहाँके राजा रोमपादको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने ज्योतिषियोंकों बुलाकर इस अनावृष्टिका उपाय पूछा। ज्योतिषियोंने बतलाया कि अगर किसी प्रकार ऋषि शृंगजी आवें तो वर्षा हो सकती है। इसपर ऋषिको जालमें फँसानेके लिए राजाने उनके पास कुछ सुन्दरी वेश्यायें भेजीं और वे नौकामें सवार होकर वहाँ पहुँची जहाँ ऋषि रहते थे। ऋषि शृंगके पिता विभाण्डक, संयोगसे, वहाँ उपस्थित नहीं थे। बाहर जाते समय वह अपनी कुटियाके चारों ओर एक रेखा खींच गए थे और अपने पुत्रसे कह गए थे कि रेखा-मण्डलसे बाहर मत निकलना। शृङ्गी ऋषिने संगीतकी मधुर ध्वनिको सुना, तो वे रेखाको लांघकर बाहर आगए और वेश्याओंके ललित विलासोंको दूरसे देखने लगे। वह सब उन्हें इतना मनोरम लगा कि धीरे-धीरे उनसे उनकी घनिष्ठता बढ़ गई और रोजका आना-जाना शुरू होगया। एक दिन एक वेश्याने उनसे कहा—"हमारे देशकी यह रीति है कि लोग अपने प्रेमका परिचय परस्पर आलिंगन करके देते हैं।" भोले ऋषि इस कपट-चालको नहीं समझ सके और वेश्याकी बातों में आगए। अब उन लोगोंके बिना ऋषिका थोड़ी देरके लिए भी अपने आश्रममें मन नहीं लगता। दौड़-दौड़ कर वह उन्हींके पास जाते और घण्टों तक उनके संगीत और नृत्यका आस्वादन करते रहते। एक दिन जब वह संगीतमें तल्लीन होकर देहानुसन्धान खो चुके थे, नौका छोड़ दी गई और इस प्रकार उन्हें अंग-देशमें पहुँचा दिया गया। ऋषिके पैर रखते ही रोमपादके राज्यमें वर्षा होने लगी और दुष्कालका भय जाता रहा।

श्रीमाण्डव्यजी

श्रीमाण्डव्य मुनि भगवान्के परम भक्त थे। वे समस्त सांसारिक प्रपञ्चोंसे दूर रहकर सदा श्रीहरिके ध्यानमें लगे रहते थे। एक बार रात्रिके समय वे अपनी कुटीके सामने ध्यानस्थ हो भगवान्की लीलाओंका स्मरण कर रहे थे। उसी समय कुछ चोर राजा सुकेतुके कोषसे अपार सम्पत्ति चुराकर इनके आश्रमके पास आकर उसका विभाजन कर रहे थे। इतने ही में राजाके सिपाही वहाँ आ गए। उन्हें देखकर चोर भागने लगे। एक चोरने भागते-भागते एक मणि-माला ध्यानस्थ मुनिके गलेमें भी डाल दी। सिपाहीने इनको भी चोर समझा और उनके साथ इनको भी बंदी बना लिया। राजाने सबको शूलीपर चढ़ानेकी आज्ञा देदी। एक-एक करके सब चोर शूलीपर चढ़ा दिए गए। अन्तमें मुनिकी भी बारी आई। उनको भी शूली पर चढ़ाया गया। पर वे भगवान्के ध्यानमें इतने तल्लीन थे कि उन्हें उसकी पीड़ाका अनुभव ही न हुआ और शूली टूट गई। तीन बार मुनिको शूली दी गई पर उसका प्रभाव इनपर न हुआ और ये जीवित ही बच गए।

यह आश्चर्य देख राज-पुरुषोंका भय बढ़ गया। राजाके पास भी इसकी ख़बर पहुँची। उन्होंने मुनिको सभामें उपस्थित करनेका आदेश दिया। राजाज्ञाके अनुसार मुनि राजसभामें लाए गए। राजा देखते ही उन्हें पहिचान गए। वे सिंहासनसे उतर कर उनके चरणोंपर गिर पड़े और अपने इस अपराधके लिए क्षमा माँगी। राजाका शरीर काँप रहा था। उन्हें भय था कि मुनि अभी क्रोधित होकर कहीं राज्य-ऐश्वर्य न समाप्त करदें; परन्तु ऐसा नहीं हुआ। मुनि अत्यन्त ही नम्र वाणीमें बोले—"राजन्! इसमें तुम्हारा कुछ भी अपराध नहीं है; तुम निर्दोष हो। यह यमराजकी चूक है। मैं अभी जाकर इसका उत्तर उसे देता हूँ।

वे चल दिए यमराजके पास। उनके क्रोधसे वह धर्मराज भी डर गया और अत्यन्त त्रस्त वाणीमें बोला—"महाराज! यह न तो मेरा दोष है, न राजा का; दोष है आपके पूर्व-जन्ममें किए कुकृत्य का। आपने पहले जन्ममें अपनी बाल्यकालकी चपलताके कारण एक पतङ्गेको काँटेसे छेद दिया था। उसी अपराधके कारण आज आपको यह दण्ड भोगना पड़ा है।"

मुनिको उसकी बात सुनकर क्रोध आ गया। वे बोले—"दुष्ट! उस समय मैं बालक था—अज्ञानी, अबोध; ऐसे बालकका दोष तो धर्म-शास्त्र भी नहीं मानते। यह तूने बड़ी नीचता का कार्य किया है। जा, इस अपराधके बदले तू मृत्यु-लोकमें जन्म

लेकर दास हो जा।" ऋषि आश्रमपर लौट आए और यमराजने दासीकी योनिसे विदुरके रूपमें जन्म लिया।

आश्रममें आकर ऋषि माण्डव्य फिर भगवान्‌की भक्तिमें लग गए और दीर्घकाल तक उनकी लीलाओंका अनुशीलन करके अन्तमें परमधामको प्राप्त हुए।

महर्षि श्रीविश्वामित्रजी

श्रीविश्वामित्रजीका जन्म कुशक वंशमें हुआ था! इनके पिताका नाम गाधि था। महर्षि विश्वामित्रकी एक बार नन्दिनी गायके लिए श्रीवशिष्ठजीसे अनमन होगई थी, जिसका सविस्तार वर्णन 'श्रीवशिष्ठजी' के प्रसङ्गमें किया जा चुका है।

विश्वामित्रजीके समान कठोर तपस्या करने वाले विरले ही होते हैं। परन्तु काम और क्रोधके कारण उनका बहुत-सा तप नष्ट हो गया। एक बार वे बड़ी उग्र तपस्या कर रहे थे। उस कठोर तपको देखकर देवराज डर गए। उन्होंने मेनका नामकी एक सुन्दर वेश्याको विश्वामित्रजीकी तपस्याको भङ्ग करनेके लिए भेजा। वह अपने उद्देश्यमें सफल हुई और दीर्घकाल का सञ्चित तप विश्वामित्रजीके पाससे जाता रहा।

इसी प्रकार एक बार त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग पहुँचानेके लिए वे यज्ञ कर रहे थे। यज्ञमें अन्य मुनि तो उपस्थित हो गए, पर वशिष्ठ-पुत्र नहीं आए। इस पर विश्वामित्रजीको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने उन सौ-के-सौ पुत्रोंको मार दिया। इससे भी उनकी तपस्याका ह्रास ही हुआ। अन्तमें यज्ञकी पूर्तिपर त्रिशंकु स्वर्ग पहुँच गए, पर देवताओंने उन्हें वहाँसे ढकेल दिया और वे उलटे पृथ्वीकी ओर गिरने लगे। यह देख विश्वामित्रजीने उनको वहीं बीच आकाशमें रोक दिया और आज भी वे 'त्रिशंकु' तारेके रूपमें दिखाई देते हैं।

तपके प्रभावसे ऐसे अद्भुत कार्य करने पर भी जब इनको ब्रह्मर्षि नहीं स्वीकार किया गया तो ये दूसरी सृष्टि रचने लगे। इन्होंने अपनी एक नई ही दुनियाँ बनाकर तैयार कर दी। इस अव्यवस्थाको देखकर ब्रह्माजीको बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने श्रीविश्वामित्रजीको ब्रह्मर्षि स्वीकार कर लिया।

बार-बार काम क्रोधादिके शिकार हो जानेके कारण वे समझ गए थे कि ये तपके सब

से बड़े शत्रु हैं । इसीलिए अन्तमें जाकर उन्होंने इनका पूर्ण रूपसे परित्याग कर दिया था । उनके आश्रममें अकसर रावणके द्वारा भेजे गए मारीच-सुबाहु आदि निशाचर अनेक राक्षसोंको अपने साथ लेकर चले आते थे और हड्डी, रक्त, मांस, मल-मूत्र आदि वर्षाकर यज्ञ वेदिकाओंको अपवित्र किया करते थे । महान् तपस्वी महर्षि विश्वामित्र सामान्य क्रोधसे ही इन समस्त राक्षसों का संहार कर सकते थे, पर अब इस प्रकारकी भावना भी उन ब्रह्मर्षिके हृदयमें नहीं आती थी; क्योंकि वे जानते थे कि क्रोधके समान तपका संहारक और दूसरा कोई नहीं है ।

समस्त राक्षसोंको मारकर धरतीका भार उतारनेके लिए महाराज दशरथके यहाँ भगवान् श्रीरामजीका अवतार हुआ । जब विश्वामित्रजीको इसका पता चला तो वे राक्षसोंका संहार करानेके लिए महाराज दशरथसे श्रीलक्ष्मणजीके सहित श्रीरामचन्द्रजीको माँग लाए और उनको यज्ञकी रक्षा करनेके लिए नियुक्त करके वे निश्चिन्त होकर यज्ञ करने लगे । इस वार भी राक्षसों के सरदार मारीच-सुबाहु एवं ताड़का अपने दल सहित आश्रमपर आए, किन्तु श्रीरामजीने एक ही वाणमें समस्त विघ्नोंको शान्त कर दिया । मारीच वाणके लगते ही सात समुद्र पार जा गिरा । सुबाहु और ताड़काकी राक्षस-शरीरसे मुक्ति होगई । श्रीरामजीकी यह अप्रतिम प्रतिभा देखकर विश्वामित्रजीको उनकी परात्परताका विश्वास होगया । उन्होंने विविध प्रकारके शस्त्रास्त्र श्रीराघवेन्द्रको प्रदान किए ।

कुछ समय बाद श्रीजनक-सुताके स्वयंवरका समाचार श्रीविश्वामित्रजीको मिला । वे श्रीराम-लक्ष्मणको लेकर वहाँ गए । श्रीरामजीने उनकी प्रेरणासे धनुष तोड़ा और मैथिलीके साथ विवाह किया । वे बरातके साथ अयोध्या आए । वहाँ पर्याप्त समय तक महाराजसे सत्कृत एवं पूजित होकर अपने आश्रमको वापिस आगए । श्रीरामजीके वनवासके समय जब जनकजी श्रीरघुनाथजीसे मिलनेको गए तो श्रीविश्वामित्रजी भी उनके साथ गए थे और जब वे लौटे तभी वे भी वापस आए ।

इस प्रकार ब्रह्मर्षि विश्वामित्रजीका समस्त जीवन तप और परोपकारमें ही व्यतीत हुआ । वे वेदमाता गायत्रीके द्रष्टा माने जाते हैं । उनके अनेक धर्म-ग्रन्थ हैं । अखिल लोकनायक भगवान् श्रीरामजी जिन विश्वामित्रजीको अपना गुरु मानते थे और अपने कमल-कोमलकरों से जिनके चरण चापा करते थे-उन महर्षि श्रीविश्वामित्रजीसे बढ़कर भाग्यशाली और कौन हो सकता है ?

श्रीदुर्वासाजी

ये अत्रि-ऋषिके पुत्र थे । आप अपने क्रोधके किए पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं । अम्बरीष राजा के प्रसङ्गमें पृ० सं० ६९ पर इनका विस्तृत चरित्र देखिए ।

श्रीजाबालिजी

ये महाराज दशरथके मन्त्रि-मण्डलके प्रभावशाली ऋषि थे । यद्यपि आप नास्तिक-सम्प्रदायके प्रवर्तक माने जाते हैं, पर वास्तवमें हृदयसे ये भगवान्‌के भक्त थे । ये धर्म और नीति में बड़े ही निपुण थे ।

श्रीमायादर्श (मार्कण्डेयजी)

मुनि मृकण्डु मार्कण्डेयजीके पिता थे । जब उनके कोई सन्तान उत्पन्न न हुई तो वे भगवान् शंकरकी भक्तिमें लग गए । उन्होंने मृकण्डुको पुत्र होनेका वरदान दिया । उन्हींकी कृपासे मार्कण्डेयजी उनके पुत्र हुए ।

जब मार्कण्डेय सोलहवें वर्षमें लगे तो इनके पिता अत्यन्त दुःखी रहने लगे । उनकी उदासीको देखकर पुत्र मार्कण्डेयने इनका कारण पूछा । तब उन्होंने बतलाया—"बेटा ! तुमको भगवान् शङ्करने केवल सोलह वर्षकी अवस्था दी है । वह सोलहवाँ वर्ष अब चल रहा है । इस वर्षके अन्त तक तुम्हारी आयु समाप्त हो जायगी । मैं रात-दिन इसी चिन्ताके कारण शोकाकुल और उदास रहता हूँ ।"

यह सुनकर मार्कण्डेयजी बोले—"पिताजी ! आप इसकी चिन्ता छोड़ दें । मैं शंकरजीको प्रसन्न करके ऐसा वरदान प्राप्त कर लूँगा कि मेरी मृत्यु कभी न हो ।"

यह कहकर अपने माता-पिताकी आज्ञासे मार्कण्डेय भगवान् शंकरको प्रसन्न करनेके लिए तप करनेको चले गए । उन्होंने दक्षिण समुद्रके किनारे जाकर विधिवत् शिवलिङ्गकी स्थापना की और उसकी आराधना करने लगे । सोलह वर्ष समाप्त होने पर काल आया । उस समय मार्कण्डेयजी मृत्युञ्जय-स्तोत्रका जाप कर रहे थे । उन्होंने कालसे कहा—"आप कुछ समय प्रतीक्षा कीजिए । मैं अभी मृत्युञ्जय-स्तोत्रका स्तवन कर रहा हूँ ।"

कुछ विद्वान् मायादर्शको पृथक् भक्त मानते हैं, परन्तु उनका चरित्र पृथक् प्राप्त नहीं होता ।

काल यह माननेको तैयार न हुआ तो मार्कण्डेयने उसे फटकार दिया। वह बड़ा क्रोधित हुआ और आवेशमें आकर मार्कण्डेयको ग्रसना चाहा। उसी समय शिवलिङ्गसे साक्षात् भगवान् आशुतोष प्रकट हो गए। उन्होंने भयङ्कर गर्जन करके कालकी छातीपर खींच करके जो लात मारी तो वह दूर जा गिरा। मार्कण्डेय अपने आराध्यके चरणोंसे लिपट गए और फिर उसी स्तवनका पाठ करने लगे।

अब वे नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत लेकर हिमालयकी क्रोड़में पुष्पभद्रा नदीके किनारेपर ऋषि-रूप-धारी भगवान् नरनारायणकी आराधनामें लग गए। उन्होंने अपना मन सब ओर से हटाकर भगवान् वासुदेवके चरणोंमें लगा रखा था। इस प्रकार तपस्या करते-करते जब बहुत समय व्यतीत हो गया तो इन्द्रको भय होने लगा। वे शङ्का करने लगे कि कहीं मार्कण्डेय इन्द्रासनके लिए तो इतनी उत्कट तपस्या नहीं कर रहे हैं। देवराजने उनकी तपस्याको भङ्ग करनेके लिए वसन्त, कामदेव एवं पुञ्जिकस्थली नामकी अप्सराको भेजा। तीनों मुनिके आश्रम में आए। वसन्तके प्रभावसे वृक्ष पुष्पित हो झूमने लगे, कोकिल कूकने लगी और शीतल-मन्द सुगन्धित वायु चलने लगी। उस तपस्थलीमें विकीर्ण वसन्तके सौन्दर्यके अनुसार अपना शृङ्गार करके अप्सरा पुञ्जिकस्थली मुनिके सम्मुख गेंद खेलती हुई अपने मादक यौवन और नयन लुभाने वाले उभरते सौन्दर्यको लेकर आगे बढ़ी। कामदेवने भी सम्मोहन वाण चढ़ाया और उसे कर्ण-पर्यन्त खींचकर मुनिके ऊपर छोड़ दिया। किन्तु सभीके प्रयत्न विफल रहे। भगवान् नरनारायणकी कृपासे किसीका मुनि मार्कण्डेयके मनपर प्रभाव नहीं पड़ा। मुनिको भगवान्के ध्यानमें इस प्रकार तल्लीन देखकर सभी डरके मारे भाग गए। अब मार्कण्डेय और दृढ़तासे भगवान्के भजनमें तल्लीन रहने लगे।

जब इस प्रकार की तपस्या करते-करते मार्कण्डेयको बहुत काल व्यतीत हो गया तो एक दिन उनके हृदयमें भगवान् नारायणके दर्शनकी अभिलाषा पैदा हुई। वे उनके लिए अत्यन्त व्याकुल होगए। अन्तमें भगवान्को उनकी प्रार्थना माननी पड़ी और सजल जलदाभ श्यामशरीर धारण करके वे मार्कण्डेयके सामने आ खड़े हुए। मुनि गद्गद् होगए। वाणी अपना मार्ग भूल गई। कितना सुन्दर शरीर! कितनी आकर्षक आँखें! एक क्षणके लिए वे स्तब्ध होगए। दूसरे क्षण जब उनकी चेतना आई तो वे सोचने लगे "भगवान् न-जाने कबसे खड़े हैं और मैं पागलोंका-सा अभिनय कर रहा हूँ।" वे भगवान्के चरणोमें गिर पड़े और फिर उनकी भलीभाँति पूजा-अर्चना की। भगवान्ने सन्तुष्ट होकर उनसे वर माँगनेको कहा।

मार्कण्डेयजीने स्तुति करते हुए भगवान्‌से कहा–"प्रभो ! प्राणीका परम पुरुषार्थ है आपके श्रीचरणोंका दर्शन प्राप्त करना। जिसको आपके दर्शन मिल गए उसे फिर अब क्या पाना शेष रह गया ? किन्तु मैं वरदान माँगूँ–ऐसी आपकी आज्ञा है। इसलिए कृपा-निधान ! मुझे एक बार अपनी मायाका दर्शन कराइए।"

भगवान् वरदान देकर अन्तर्धान होगए और मुनि विशेष प्रसन्नतासे पुनः अपनी तपश्चर्या में लग गए। उसी समय उन्होंने क्या देखा कि चारों दिशाओंसे काली-काली घटाएँ गम्भीर गर्जन करती चली आरही हैं। देखते ही देखते भयङ्कर गर्जन और बिजलीकी चमकके साथ घनघोर वर्षा होने लगी और चारों दिशाओंसे पानीका उमड़ता हुआ महासागर आकर मिल गया। सम्पूर्ण पृथ्वी जल-मग्न होगई। न वृक्ष-लता दिखाई देते थे न कोई दुर्ग-प्रासादका शिखर। मुनि घबड़ाकर पानीके ऊपर तैरने लगे। उन्होंने चारों ओर देखा–प्रलय हो चुका था। न कोई वनस्पतिका चिह्न शेष था और न कोई जीव ही दिखाई देता था। सारा सागर उत्ताल लहरों की लपेटमें निमग्न हो गया। पानी की सतहपर तैरते मुनि कभी तो विशाल तरंगाघातसे इधरको जा गिरते और कभी उधर को। बहुत देर तक ऐसा होता रहा। अब मुनि घबड़ा गए। उसी समय उन्होंने उस जल-राशिके बीच नव-नव किसलयोंसे सुसज्जित एक सुन्दर वटका वृक्ष देखा। मुनिको कुछ साहस हुआ। वे उधर ही तैरते हुए चल दिए। पास जाकर उन्होंने देखा कि वटवृक्षकी ईशान-कोणकी शाखा पर आपसमें दो पत्तोंके सटजानेसे एक बड़ा सुन्दर दोना सा बन गया है। उस दोनेमें एक बड़ा सुन्दर नव जलधरके समान श्यामवर्णका शिशु पड़ा-पड़ा अपने दाहिने चरणके अँगूठेको मुखमें लेकर चूँस रहा है। उसके हाथ-पैर अत्यन्त सुकुमार एवं लाल वर्णके बड़े सुन्दर हैं। त्रिभुवन-सुन्दर उसके मुखारविन्दपर धवल हास्यकी छटा दर्शनीय है। उसके बड़े-बड़े नील कमलसे नेत्र मानो प्रसन्नतासे खिले हुए हैं। सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्र-हीन आकाशके नीचे व्याप्त जलराशिके ऊपर छाए अन्धकारको शिशुके मुखमण्डलसे निकलता हुआ एक प्रकाश नष्ट कर रहा है। मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे शिशुके और पास गए और उसके चरणोंमें प्रणाम किया।

बालकके पास आते ही मुनिकी सब थकावट दूर होगई। उनका मन उस शिशु को गोदमें उठानेके लिए लालायित होगया। वे आगे बढ़कर उसे अपने अङ्कमें उठा लेना चाहते थे कि उसी समय उसके श्वासके कारण वे बालक की नासिकाके द्वारा उसके उदरमें खिंचे चले गए। वहाँ उन्होंने वही सब वर्तमान देखा जो कुछ समय पूर्व

संसारमें दिखलाई दे रहा था। सूर्य, चन्द्र, तारक-मालाएँ, नदी, पहाड़, झरने, द्रुम, लता, वन, उत्तुंग प्रासाद, निकेतन, यहाँ तक कि अपने आश्रम और स्वयंको भी मुनिने उदरमें देखा। विश्वकी समस्त जड़-चेतन, वस्तुओं के देखते उनके अनेक युग बीत गए; पर उसका वारपार वे न पा सके। आश्चर्य-चकित, एवं भयभीत हो उन्होंने अपनी आँखें बन्द करलीं। इसी समय वे शिशु-रूप भगवान्की नासिकाके छिद्रसे श्वासके साथ बाहर आकर उसी प्रलय-सिन्धुमें फिर आ पड़े। अब भी सागर उसी प्रकार गरज रहा था। उसकी थपेड़ोंको सहते मुनि जब आगे बढ़े तो फिर उनकी निगाह उसी सौन्दर्य-मूर्ति शिशुपर पड़ी। वे आगे बढ़कर उस बालकसे ही इस सबका रहस्य पूछना चाहते थे, पर अचानक ही वह सब दृश्य बदल गया। अब न तो वहाँ सागरकी गरजती लहरें थीं, न बालक और न वह वट-वृक्ष ही। मुनिने देखा कि वे तो पुष्पभद्रा नदीके किनारे पर वैसे ही बैठे हैं। मुनि समझ गए कि यह सब भगवान्की ही माया है। उनका हृदय आनन्दसे भर गया और वे अत्यधिक श्रद्धा एवं दृढ़ विश्वाससे उनके ध्यानमें लग गए।

उसी समय अपने वाहनपर सवार होकर श्रीशङ्कर भगवान् पार्वतीजीके साथ वहाँ पर आए। पार्वतीजीने जब मार्कण्डेय मुनिको ध्यानस्थ देखा तो उन्हें दया आगई। वे महादेवजीसे बोलीं—"नाथ! ये मुनि सब ओर से अपने मनको हटाकर अचल तपस्यामें लगे हैं। आप इनपर कृपा कीजिए, क्योंकि तपस्वियोंको उनके तपका फल प्रदान करनेमें आप समर्थ हैं।"

भगवान् शङ्करने कहा—"प्रिये! ये मुनि मार्कण्डेय हैं। ये भगवान्के निष्काम भक्त हैं। इनकी तपस्याका कारण तो भगवान्को प्रसन्न करना है, किसी भी वरदानकी प्राप्ति नहीं। इनके समान भगवद्भक्त परम-भागवतसे बातें करनेमें मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। अतः इनसे मैं वार्तालाप अवश्य करूँगा।

इतना कहकर शङ्करजी मुनिके पास गए, पर उनको इनके आने का पता ही न चला। वे तो भगवान्के ध्यानने समस्त बाह्य संसारको भूले हुए थे। शङ्करजीने योगबलसे उनके हृदयमें प्रवेश किया तो मुनिका ध्यान भङ्ग होगया। उन्होंने घबड़ाकर आँखें खोल दीं। सामने श्रीशङ्कर भगवती पार्वतीके साथ खड़े थे। मार्कण्डेयके आनन्द की सीमा न रही। उन्होंने आदर-पूर्वक उनका सत्कार किया। भगवान् शङ्कर बड़े प्रसन्न हुए; उन्होंने ऋषिसे वरदान माँगनेको कहा। मुनिने हाथ जोड़कर कहा—"दयामय! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मुझे यही वरदान दीजिए कि भगवान्में मेरी अविचल भक्ति हो, आप में मेरी श्रद्धा हमेशा बनी रहे और भगवान्के भक्तोंके लिए मेरे मनमें अनुराग हो।"

वरदान देकर भगवान् शङ्कर पार्वतीके साथ कैलासपर चले गये। मार्कण्डेय मुनि भगवान्‌की कथाओंमें बड़ी रुचि रखनेवाले थे। समस्त पुराणोंका कथन इन्होंने ही अपने शिष्यों को किया है।

श्रीकश्यपजी

इस जड़-चेतन समस्त सृष्टिके कर्ता पितामह भगवान् ब्रह्मा हैं। उन्होंने सृष्टि की इच्छासे मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु—ये छः मानस-पुत्र उत्पन्न किए। इनमें कश्यप महर्षि मरीचिके पुत्र थे। दक्ष प्रजापतिने अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मनु और कद्रू—इन अपनी तेरह कन्याओंका विवाह इनके साथ कर दिया। सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति इन्हीं तेरह कन्याओंसे है। संसारके समस्त स्थावर-जङ्गम, पशु-पक्षी, देवता-दैत्य, मनुष्य—ये सब कश्यप भगवान् की ही सन्तान हैं।

अपनी सब पत्नियोंमें अदिति कश्यपको सबसे अधिक प्यारी हैं। इन्द्रादि समस्त देवता और द्वादश आदित्य इन्हींकी सन्तान हैं। भगवान् वामनने भी इन्हींके यहाँ अवतार लिया था। कश्यप-अदितिने भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए अनन्त काल तक तपस्या की थी। इसी तपके कारण उनकी सन्तानमें यह शक्ति प्राप्त हुई कि उनके लिए निराकार भगवान्‌को भी साकार-रूप धारण करके आना पड़ा और उनके प्रेममें अपनी भगवत्ताको भूलकर उनके अनुसार नाच नाँचना पड़ा।

भगवान् कश्यपकी अनेक कथाएँ पुराणोंमें भरी पड़ी हैं। यहाँ तो केवल उनके सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि वे भगवान्‌के परम-भक्त इस चराचरमय संसारके आदि पिता हैं।

श्रीपर्वतजी

ये एक विख्यात महर्षि हैं। इनका वर्णन 'अद्भुतरामायण' में आता है। उसके अनुसार एक कल्पमें श्रीपर्वतजीके शापके कारण ही श्रीलक्ष्मीनारायणने अवतार लेकर रावण और कुम्भकर्ण का बध किया था। आप भगवान्‌के बड़े भक्त थे। ★

श्रीपाराशरजी

महर्षि पराशरजी बड़े ज्ञानी एवं भगवद्भक्त थे। महाराज जनकको इन्होंने नीति, ज्ञान और वैराग्य-सम्बन्धी अनेक उपदेश दिए थे। इनकी पत्नी सत्यवती एक

धीवर-राजकी पुत्री थी। अठारह पुराणोंके प्रणेता एवं वेदोंका विभाग करनेवाले भगवान् वेदव्यास इन्हींके पुत्र थे। व्यासजी महाराजके समान ज्ञानी भक्त जिनके पुत्र हैं, उन पराशर-मुनिके गुणोंका ज्ञान कर सकना किसकी सामर्थ्य में है? 'पाराशर-गीत' इनका विख्यात ग्रन्थ है।
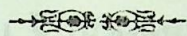
मूल (छप्पय)

(अठारह महापुराण)

ब्रह्म, विष्णु, शिव, लिंग, पद्म, स्कन्द बिस्तारा।
बामन, मीन, बराह, अग्नि, कूरम ऊदारा॥
गरुड़, नारदी भविष्य, ब्रह्मवैवर्त श्रवन सुचि।
मार्कण्ड, ब्रह्माण्ड कथा नाना उपजै रुचि॥
परम धर्म श्रीमुख कथित चतुःश्लोकी निगम सत।
साधन साध्य सत्रह पुरान, फलरूपी श्रीभागवत॥१७॥

अर्थ—उपर्युक्त अठारह पुराणोंमें ब्रह्मपुराणसे लेकर ब्रह्माण्ड-पुराण तक सत्रह पुराण साधन हैं और अठारहवाँ पुराण श्रीमद्‌भागवत साध्य है। इसमें भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे सब धर्मोंमें श्रेष्ठ भागवतधर्मका निरूपण किया है। श्रीमद्भागवतके भी अन्तर्गत 'चतुःश्लोकी भागवत' को तो सबका सार कहना चाहिए। इन पुराणोंको सुनने तथा कथारूपमें सुनानेसे भक्ति के प्रति रुचि जागृत होती है।

(अठारहों पुराणोंकी श्लोक-संख्या चार लाख है।)

मूल (छप्पय)

(अठारह स्मृतियाँ और उनके रचयिता)

मनुस्मृति, अत्रेय, वैष्णवी, हारितक, यामी।
याज्ञवल्क्य, अंगिरा, शनैश्चर, सामर्तक नामी॥
कात्यायनि, सांखल्य, गौतमी, वासिष्ठी, दाखी।
सुरगुरु, आतातापि, पराशर, क्रतु मुनि भाखी॥
आशा पास उदारधी, परलोक लोक साधन सो।
दस-आठ स्मृति जिन उच्चरी तिन पद सरसिज भाल मो॥१८॥

अर्थ—मनुस्मृतिसे लेकर ऋतुस्मृति तक अठारह स्मृतियाँ जिन महामुनियोंने रची हैं, उनके चरण-कमलोंको मैं अपने मस्तक पर लगाता हूँ। ये स्मृतियाँ संसारी अभिलाषाके कठिन जालसे छुड़ाती हैं। इसके रचे जानेका उद्देश्य अत्यन्त उदार है—अर्थात् इन्हें लोक-कल्याण की कामनासे ऋषियोंने बनाया है। ये इस लोक और परलोक दोनोंको सुधारती हैं, अतः साधन-रूपा हैं।❀

मूल (छप्पय)

(श्रीराम-सचिव)

धृष्टी, विजय, जयन्त, नीतिपर शुचिर बिनीता।
राष्टरवर्धन निपुन, सुराष्टर परम पुनीता॥
अशोक सदा आनन्द धर्मपालक तत्ववेत्ता।
मंत्रीबर्ज सुमंत्र चतुर्जुग मंत्री जेता॥
अनायास रघुपति प्रसन्न भवसागर दुस्तर तरैं।
पावैं भक्ति अनपायिनी जे राम सचिव सुमिरन करैं॥१८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके (ऊपर लिखे गए) आठ मन्त्रियोंका जो लोग स्मरण करते हैं, उनकी श्रीरामजीके चरणोंमें अमिट भक्ति हो जाती है और बिना किसी प्रयत्नके श्रीरामचन्द्रजी उन पर प्रसन्न हो जाते हैं, जिसका फल यह होता है कि वे संसार-समुद्रसे पार उतर जाते हैं। (इन मन्त्रियोंमें) श्रीधृष्टिजी, जयन्तजी और विजयजी—ये अत्यन्त नीति-निपुण, सुशील और परम पवित्र भावनाओंसे युक्त हैं। श्रीराष्ट्रवर्धनजी भी नीति-संचालनमें परम प्रवीण हैं और श्रीसुराष्ट्रजी अतिशय पवित्र

❀ स्मृतियाँ वे ग्रन्थ हैं जिनमें जन्मसे लेकर मरण-पर्यन्त मनुष्योंके समस्त कर्तव्योंको समय-समयके लिए विधान किया गया है। वर्ण और आश्रम-धर्मके अतिरिक्त इनमें अग्निहोत्र आदि कर्म, दण्ड-व्यवस्था, राज-शासन-प्रणाली आदिसे सम्बन्धित सब नियमोंका संग्रह है। छप्पयमें गिनाई गई मनुस्मृति, आत्रेयस्मृति, वैष्णवस्मृति, हारितस्मृति, याग्यस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, आंगिरसस्मृति, शनैश्चरस्मृति, सांवर्तकस्मृति, कात्यायनस्मृति, सांखल्यस्मृति, गौतमस्मृति, वाशिष्ठस्मृति, दाक्ष्य-स्मृति, बार्हस्पत्यस्मृति, आतातपस्मृति, पाराशरस्मृति और क्रतुस्मृति, इनके रचयिता क्रमशः श्रीमनुजी, श्रीअत्रिजी, श्रीविष्णुजी, श्रीहरीतिजी, श्रीयमराजजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीअंगिराजी, श्रीशनैश्वरजी श्रीसंवर्तजी. श्रीकात्यायनजी, श्रीशंखजी, श्रीगौतमजी, श्रीवशिष्ठजी, श्रीदक्षजी, श्रीबृहस्पतिजी, श्रीसतातपजी, श्रीपराशरजी और श्रीक्रतुमुनिजी हैं। इन स्मृतियोंके अतिरिक्त और भी कई प्रसिद्ध स्मृतियाँ हैं; जैसे-- आपस्तंब, औशनस, भारद्वाज, काश्यप, आदि।

विचारोंके हैं। श्रीअशोकजी सदा भगवान्‌की प्रेमा-भक्तिमें मग्न रहनेवाले हैं और श्रीधर्मपालजी परम तत्त्वज्ञानी भागवत हैं। सुमन्त्रजी इन सब मन्त्रियोंमें प्रधान हैं और इतने अनुभवी और विद्वान् कि चारों युगोंमें इनके समान नीति-कुशल और स्वामी-भक्त मन्त्री खोजनेसे नहीं मिलेगा।
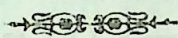
मूल (छप्पय)

(श्रीराम-सहचरवर्ग)

दिनकरसुत, हरिराज, बालिबछ, केसरि-औरस।
दधिमुख, दुबिद, मयंद, ऋच्छपति सम को पौरस॥
उल्का सुभट सुषेन, दरीमुख, कुमुद, नील, नल।
सरभरु, गवै, गवाच्छ पनस गँधमादन अतिबल॥
पद्म अठारह यूथपाल रामकाज भट भीर के।
सुभ-दृष्टि-वृष्टि मोपर करौ जे सहचर रघुवीर के॥२०॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके सदा साथ रहने वाले सखागण मुझपर अपनी कल्याण-कारी दृष्टि डालें और कृपाकी वर्षा करें। (इनके नाम इस प्रकार हैं—) सूर्यपुत्र श्रीसुग्रीव, अङ्गद, केशरीनन्दन हनुमान, दधिमुख, द्विविद, मयन्द, रीछोंके राजा जाम्बवान् जिनके समान वीर और कोई नहीं, परम योद्धा उल्कामुख, सुषेण, दरीमुख, कुमुद, नील, नल, शरभ, गवय, गवाक्ष, पनस, महाबली गन्धमादन आदि अठारह पद्मयूथपति तथा सेनाके अन्य शूर-वीर जो संकट के समय श्रीरामचन्द्रजीके काम आते हैं।

*

मूल (छप्पय)

(नव नन्दगण)

धरानन्द, ध्रुवनन्द, तृतिय उपनन्द सु नागर।
चतुर्थ तहाँ अभिनन्द नन्द सुख-सिन्धु उजागर॥
सुठि सुनन्द पशुपाल, निर्मल निहचल अभिनन्दन।
करमा, धरमानन्द, अनुज बल्लभ जगबन्दन॥
आस-पास वा बगर के जहँ बिहरत पशुप स्वछन्द।
व्रज बड़े गोप पर्जन्य के सुत नीके नव नन्द॥२१॥

अर्थ—व्रज-भूमिके आदरणीय गोप पर्जन्यजीके नव सुन्दर पुत्र थे, जो 'नव नन्द' के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके नाम हैं—सर्वश्री (१) धरानन्द, (२) ध्रुवनन्द, (३) उपनन्द जो एक विदग्ध व्यक्ति थे, (४) अभिनन्द, (५) सुखके समुद्र और यशस्वी नन्द, (६) पशुओं का पालन करने वाले तथा निश्चित रूपसे संसारको आनन्दित करने वाले सुनन्द, (७) कर्मानन्द, (८) धर्मानन्द तथा (९) सबसे छोटे भाई बल्लभजी। गोप-गण जहाँ स्वतन्त्रता-पूर्वक विचरण करते थे उस स्थानके निकट ये नौ नन्द रहते थे।

★

मूल (छप्पय)

नन्दगोप, उपनन्द, ध्रुव धरानन्द महरि जसोदा।
कीरतिदा वृषभानु कुँअरि सहचरि (विहरति) मनमोदा॥
मधु, मंगल, सुबल, सुबाहु, भोज, अर्जुन, श्रीदामा।
मंडली ग्वाल अनेक स्याम संगी बहु नामा॥
घोष निवासिनि की कृपा सुर-नर-वाँछत आदि अज।
बाल-वृद्ध नर-नारि गोप, हौं अर्थी उन पाद-रज।२२॥

अर्थ—जिन घोष-निवासियोंकी कृपाकी ब्रह्मादिक देवगण तथा मनुष्य कामना करते हैं, उन बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष ग्वालोंकी चरण-रजको मैं (अपने मस्तक पर धारण करना) चाहता हूँ। इन गोपोंके नाम हैं—(१) श्रीनन्दगोप, (२) उपनन्द, (३) ध्रुवनन्द, (४) धरानन्द, (५) महरि यशोदाजी, (६) स्मरण द्वारा कीर्ति देनेवाली श्रीवृषभानुकी धर्म-पत्नी श्री'कीर्ति', (७) राजा वृषभानु, (८) मनको आनन्द देनेवाली सखियों-सहित वृषभानु-नन्दिनी श्रीराधिका, (९) मधु (१०) मङ्गल (११) सुवल, (१२) सुबाहु (१३) भोज, (१४) अर्जुन गोप, [१५] श्रीदामा तथा [१६] श्यामसुन्दर श्रीकृष्णके अनेक नामधारी कई सखा आदि।

★

मूल [छप्पय]

(श्रीकृष्णचन्द्रके सोलह सखा)

रक्तक पत्रक और पत्रि सब ही मन भावै।
मधुकंठो मधुवर्त रसाल बिसाल सुहावै॥
प्रेमकन्द मकरन्द सदा आनँद चन्द्रहासा।

पयद बकुल रसदान सारदा बुद्धिप्रकासा ॥
सेवा समय बिचारि कैं चारु चतुर चितकी लहैं ।
ब्रजराज सुवन सँग सदन बन अनुग सदा तत्पर रहैं ॥२३॥

अर्थ—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके सोलह सखा बड़े सुन्दर और सेवा करनेमें प्रवीण हैं। ये अपनी-अपनी सेवाका स्वरूप और अवसर जानते हैं और भगवान्की रुचिको पहिचानते हैं। क्या घर और क्या बाहर वनमें—ये व्रजके राजा नन्दजीके पुत्रके साथ सदा अनुचर बन कर रहते हैं। इनका विवरण इस प्रकार हैं—

[१] रक्तक [२] पत्रक और [३] पत्री ये तीनों सबको प्यारे लगते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सखा ये हैं—[४] मधुकंठ [५] मधुवर्त [६] रसाल [७] विशाल [८] प्रेमकन्द [९] मकरन्द [१०] सदानन्द [११] चन्द्रहास [१२] पयद [१३] बकुल [१४] रसदान [१५] शारद और [१६] बुद्धिप्रकाश।

मूल [छप्पय]

(सप्तद्वीपके भक्तजन)

जम्बू और पलछि, सालमलि, बहुत राजरिषि ।
कुस पवित्र पुनि क्रौंच कौन महिमा जाने लषि ॥
साक बिपुल विस्तार प्रसिद्ध नामी अति पुहकर ।
पर्वत लोकालोक ओक टापू कंचनधर ॥
हरिभृत्य बसत जे जे जहाँ तिन सौं नित प्रति काज ।
सप्त द्वीप में दास जे ते मेरे सिरताज ॥२४॥

अर्थ—पृथ्वी-मंडलके सातों द्वीपोंमें तथा उनसे बाहर लोकालोक पर्वत और काँचन टापू पर जहाँ-जहाँ जितने भगवान्के दास [भृत्य] रहते हैं, मेरा उन्हींसे प्रयोजन है और वही मेरे सिर-मुकुट हैं—अर्थात् उन्हींके आदर्शोंको शिरोधार्य कर मैं चलता हूँ। सातों द्वीपोंके नाम ये हैं—जम्बूद्वीप, प्लक्षद्वीप, शालमलिद्वीप, कुशद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप।

—इन द्वीपों की लम्बाई-चौड़ाई इस प्रकार कही जाती है—जम्बुद्वीप से प्लक्षद्वीप दूना है, प्लक्षद्वीप से शालमलिद्वीप दूना और प्रथमसे चौगुना है। कुशद्वीप शालमलिद्वीपसे दूना है। इस प्रकार सातवा पुष्करद्वीप प्रथम जम्बुद्वीपसे चौंसठ गुना बैठता है। ये द्वीप अपने वृक्षोंके नामसे विख्यात है—जैसे जामुन, पाकड़ी, सेमर, कुश आदि। इन द्वीपोंपर राजा प्रियव्रतकी सन्तान शासन करती है।

प्रत्येक द्वीपमें सात राजे, सात पर्वत और सात नदियाँ हैं। ये भिन्न-भिन्न प्रकारके इक्षुरसोद, घृतोद, क्षीरोद आदि समुद्रों से घिरे हुए हैं।

★

मूल [छप्पय]

(जम्बुद्वीपके भक्तजन)

इलाबर्त्त आधीस संकरषन अनुग सदासिव ।
रमनक मछ मनु दास हिरन्य कूर्म अर्जम इव ॥
कुरु बराह भू भृत्य वर्ष हरि सिंह प्रहलादा ।
किंपुरुष राम कपि भरत नरायन बीनानादा ॥
भद्रासु ग्रीवहय भद्रस्रव केतु काम कमला अनूप ।
मध्य - द्वीप नव - खंड में भक्त जिते मम भूप ॥२५॥

अर्थ—१–इलावर्त-खण्डके अधिपति भगवान् श्रीसंकर्षण हैं और उनके सेवक श्रीसदाशिव हैं। २–रमणक-खण्डके स्वामी श्रीमत्स्य भगवान् हैं और उनके मनुजी हैं। ३–हिरण्यक-खंडके मालिक श्रीकूर्म भगवान् हैं और उनके दास अर्यमा हैं। ४–कुरु-खंड के स्वामी श्रीवाराह भगवान् हैं और उनकी परिचारिका भूमिदेवी हैं। ५–हरिवर्ष-खंड के अधीश्वर श्रीनृसिंह भगवान् हैं और उनके सेवक प्रह्लाद हैं। ६–किम्पुरुष-खंडके श्रीरामचन्द्रजी स्वामी हैं और सेवक हैं श्रीहनुमानजी। ७–भरत-खंडके पालक श्रीनारायण हैं और उनके परिचारक हैं श्रीनारदमुनि। ८–भद्राश्व-खंडके स्वामी श्रीहयग्रीव भगवान् हैं और उनके सेवक हैं श्रीभद्रश्रवा। केतुमाल-खंडके अधिपति श्रीकामदेव हैं और उनकी सेविका हैं अनुपम कमला।

ग्रन्थकार कहते हैं, मध्यद्वीप अर्थात् जम्बुद्वीपके नव खंडों में जितने भगवान्के भक्तजन हैं वे राजा हैं [और मैं उनकी प्रजा]।

★

मूल [छप्पय]

(श्वेतद्वीपके भक्त)

श्री नारायन (को) बदन निरन्तर ताही देखैं ।
पलक परैं जो बीच कोटि जमजातन लेखैं ॥
तिन के दरसन काज गये तहँ बीनाधारी ।
स्याम दई कर सैन उलटि अब नहिं अधिकारी ॥

नारायन आख्यान दृढ़ तहँ प्रसंग नाहिन तथा ।
स्वेतदीप में दास जे श्रवन सुनौ तिनकी कथा ॥२६॥

अर्थ—श्वेतद्वीपमें रहनेवाले भक्तोंकी कथा अपने कानोंसे सुनिये । ये लोग श्रीनारायण के मुख-चन्द्रको निरन्तर देखा करते हैं । यहाँ तक कि पलक मारनेसे जो व्यवधान पड़ जाता है उसे भी ये करोड़ों नरकोंकी पीड़ाके समान मानते हैं ।

एक बार श्रीनारदजी भगवान्के इन भक्तोंके दर्शन करनेके लिये श्वेतद्वीपमें पधारे । नारदजीको आते हुए देखकर श्रीनारायण ने उन्हें इशारा करके लौट जानेको कहा, क्योंकि भगवान्की रूप-माधुरीसे छके हुए ये लोग श्रीनारदजीकी ज्ञान-चर्चा सुननेके अधिकारी नहीं रह गए थे । इनकी तो श्रीनारायणकी प्रेमा-भक्तिकी कथाओंमें अविचल निष्ठा हैं । ज्ञानके प्रसङ्गका आदर वहाँ ऐसा नहीं है जैसा कि और जगह है ।

भक्ति-रस-बोधिनी

स्वेतदीपवासी सदा रूप के उपासी, गये नारद विलासी, उपदेस आस लागी है ।
दई प्रभु सैन जिनि आवो इहि ऐन, दृग देखैं सदा चैन, मति-अति अनुरागी है ॥
फिरे दुख पाइ जाइ, कही श्रीवैकुण्ठनाथ, साथ लिये चलै लखें भक्ति अंग पागी है ।
देख्यो एक सर, खग रह्यो ध्यान धरि, रिषि पूछैं कहो हरि, कह्यो बड़ो बड़भागी है ॥१०३॥

अर्थ—श्वेतद्वीपमें रहनेवाले भक्तगण भगवान्के रूपकी आराधना करते हैं—अर्थात् उनकी रूप-माधुरी ही उनका एकमात्र साध्य है । समस्त ब्रह्माण्डमें ज्ञानोपदेशकी आशासे भ्रमण करनेवाले नारदमुनि एक बार वहाँ गए । उन्हें यह भरोसा था कि और स्थानोंकी तरह उन्हें श्वेतद्वीपमें भी उपदेश करनेका अवसर मिलेगा । भगवान्ने इशारे से उनसे कहा—"इधर मत आना; इन्हें तो अपनी आँखोंसे निरन्तर मेरा दर्शन करनेमें परम सुख मिलता है । इनका मन मेरी रूप-माधुरीमें ही अनुरक्त है ।"

निराश होकर मनमें दुःख पाते हुए श्रीनारदजी वहाँसे लौट दिये और सीधे वैकुण्ठधाम जाकर श्वेतद्वीपमें जो उनसे बीती थी, सब कह सुनाई । इस पर श्रीवैकुण्ठ-नाथ उन्हें साथ लेकर यह दिखानेके लिए श्वेतद्वीप गए कि वहाँके निवासियोंके रोम-रोममें भगवान्की भक्ति किस प्रकार घर कर गई है । श्वेतद्वीप पहुँच कर दोनोंने एक तालाब देखा और ठहर गए । वहाँ एक पक्षी ध्यान लगाए बैठा था । ऋषिने प्रश्न किया—"भगवन् ! यह पक्षी इस प्रकार क्यों निश्चल बैठा है ?" भगवान् बोले—

"नारद ! इसके बड़े भाग्य हैं जो यह यहाँ रह कर भगवान्‌की भक्तिमें इस प्रकार मग्न है ।"

भक्ति-रस-बोधिनी

बरष हजार बीते, भए नहीं चितचीते, प्यासोई रहत, पैं पानी नहीं पीजिये ।
पावं जो प्रसाद जब जीभ सो सवाद लेत, लेत नहीं और, याकी मति रस भीजिये ।।
लीजै बात मानि, जल पान करि डारि दियो, लियो चोंच भरि, दृग भरि बुधि धीजिये ।
अचरज देखि, चष लगै न निमेष, किहूँ चहूँ दिसि फिरचो, अब सेवा याकी कीजिये ।।१०४।।

अर्थ—भगवान्‌ने कहा—"देखो नारद ! इसे इसी प्रकार ध्यान लगाते हुए एक हजार वर्ष बीत गए, लेकिन इसके मनकी अभिलाषा पूरी नहीं हुई । यह प्यासा रहता है, पर पानी नहीं पीता । इसके भोजनका यह हाल है कि जब इसको मेरा प्रसाद मिलता है तभी जीभसे भोजनका स्वाद लेता है । इसकी बुद्धि मेरी भक्तिमें ऐसी सराबोर होगई है ! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, उसे ठीक वैसा ही मान लो—सन्देह करनेकी आवश्यकता नहीं ।" यह कहकर भगवान्‌ने जल पीकर उस पक्षीके सामने रख दिया । उसने चौंच भरकर जल पी लिया । जलप्रसाद ग्रहण करते ही उसकी आँखोंमें प्रेमानन्दके आँसू छलछलाने लगे और बुद्धि भी आनन्द से परिपूर्ण होगई । नारदजीने यह आश्चर्य देखा तो टकटकी लगा कर देखते ही रह गए—पलकोंका आँखोंसे लगना बन्द होगया । उन्होंने पक्षीकी परिक्रमा की और कहने लगे—"मेरा मन तो ऐसा करता है कि मैं यहाँ रहकर इसीकी सेवा किया करूँ ।

भक्ति-रस-बोधिनी

चलो आगे देखौ, कोऊ रहे न परेखौ, भाव-भक्ति करि लेखौ, गये द्वीप, हरि गाइये ।
आयो एक जन धाइ, आरती-समय बिहाइ, खैंचि लिये प्रान, फेरि बधू याकी आइये ।।
वही इन कही, प्रति देख्यो नहीं महीं परचो, हरचो याको जीव, तन गिरचो, मन भाइये ।
ऐसे पुत्र आदि आये, साँचे हितमें दिखाये, फेरि के जिवाये, रिषि गाये चित लाइये ।।१०५।।

अर्थ—नारदजीकी बात सुनकर भगवान्‌ने कहा—"अभी आगे और देखो । कहीं ऐसा न हो कि कोई दृश्य देखे बिना रह जाय और फिर तुम पछतावा करो । यहाँके भक्तोंकी भक्तिभावनाको अच्छी तरह देखो और समझ लो ।" इस प्रकार बातें करते हुए दोनों श्वेतद्वीपके आन्तरिक भागमें पहुँच गये, जहाँ कि (एक मन्दिरमें) हरिके गुणों का कीर्तन हो रहा था ।

इतने ही में एक व्यक्ति आया और यह जानकर कि आरतीका समय निकल

गया और वह दर्शनसे वंचित हो गया, उसने प्राणोंको निराशाके आवेशमें लम्बा जो खींचा, तो वे निकल गए। उसके बाद ही उसकी स्त्री आई और उसने भी पतिकी तरह पूछा—"आरती हो गई क्या ?" भगवान्‌ने कहा—"हो गई। तेरे पतिको भी आरतीके दर्शन नहीं मिले, इसलिये वह मरकर पृथ्वी पर पड़ा है।" इसपर उस स्त्रीके प्राण भी वहीं निकल गए और उसका शरीर धमसे धरती पर गिर पड़ा। इसी प्रकार उनके बाद उनके पुत्र आदि आए और आरती न मिलनेके शोकमें मर गए। भगवान्‌ने नारदको इस प्रकार प्रत्यक्ष दिखला दिया कि उन भक्तोंका कैसा सच्चा प्रेम था। इनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने सबको जीवित कर दिया। इस आख्यान को ऋषियोंने अपने शिष्योंको बतलाया है। अन्य भक्तोंको भी इस चरित्रका मनन करना चाहिए।

—श्रीनारदजीने श्वेतद्वीप जानेका प्रसङ्ग श्रीनाभाजीने महाभारतके शान्तिपर्वसे लिया है। इसके अध्ययनसे विदित होता है कि यह श्वेतद्वीप भारतवर्षके उत्तरमें कहीं स्थित था। यहाँ के निवासियोंका रंग श्वेत रहा होगा और वे नारायणके एकान्त उपासक थे।

पश्चिमी विद्वानोंने अनुमान लगाया है कि यह श्वेतद्वीप भारतके उत्तरमें वेक्ट्रिया देशके ईसाईमतके अनुयायी श्वेतांग व्यक्तियोंका उपनिवेश है। इस देशमें वे पेलोइनसे ईसाई धर्मके प्रचारार्थ आये होंगे। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भक्ति-धर्मका उपदेश पहले-पहल नारदजीने ईयाइयों से लिया और तदनन्तर उसका भारतवर्षमें प्रचार किया। श्रीबलदेव उपाध्यायने इस उपहसनीय तर्क का खण्डन अपने "भागवत-संप्रदाय" नामक ग्रन्थमें किया है।❀

मूल (छप्पय)

(अष्ट-कुल नाग)

इलापत्र मुख अनंत अनंत कीरति बिस्तारत।
पद्म, संकु, पन प्रगट ध्यान उर ते नहिं टारत॥
अंसु कंबल, वासुकी, अजित आग्या अनुबरती।
करकोटक, तच्छक, सुभट सेवा सिर धरती॥
आगमोक्त सिव-संहिता "अगर" एकरस भजन रति।
उरग अष्टकुल द्वारपाल सावधान हरिधाम थिति॥२७॥

❀ देखिए "भागवत सम्प्रदाय" पृष्ठ १०१।

अर्थ—श्रीअग्रदेवजी कहते हैं कि नागोंके आठ कुलोंको चलानेवाले महानागोंका विवरण शिव संहिता-तंत्र नामक आगम में दिया गया है। ये भगवान्के भजनमें अनन्य-भावसे प्रीति रखते हैं। इनकी स्थिति श्रीभगवान्के निजधाम वैकुण्ठमें हैं। द्वारपालके रूपमें ये प्रभुकी सेवा सदा सावधान रह कर करते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) एलापत्र और अनन्त (शेषजी) अपने अनन्त मुखों से भगवान्की कीर्तिका गान करते और उसका प्रचार करते हैं। १—पद्म और २—शंकु अपनी सर्व-विदित प्रतिज्ञाके अनुसार अपने मनको भगवान्के ध्यानसे क्षण-भरके लिए भी नहीं हटाते। ५—अंशुकंबल और ६—वासुकी अजित की आज्ञा के अनुसार चलते हैं। ७—कर्कोटक तथा ८—तक्षक दोनों श्रीप्रभुकी सेवा-रूपी भूमिको अपने सिर पर धारण किए रहते हैं।

॥ समाप्तोऽयं पूर्वार्द्धः ॥

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥